गुप्त जी की काव्य-साधना

डॉ० उमाकान्त,
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, रामजस कॉलिज, दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

निवेदन

'गुप्त जी की काव्य-साधना' मे कविवर मैथिलीशरण जी के काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भाव-पक्ष की व्याख्या-विवेचना पाँच उपभागो में हुई है : (क) मे भाव-क्षेत्र के विस्तार की समीक्षा है। यहाँ गुप्त जी के काव्य मे उपलब्ध विविध रसो एव भावो का निरूपण हुआ है। (ख) मे भावो की प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता—आलोच्य कवि के काव्य की प्रभाव-क्षमता, उसकी दृष्टि की सूक्ष्मता एव भाव-गत ओज आदि पर विचार किया गया है। (ग) मे गुप्त जी के विस्तृत काव्य के मार्मिक प्रसगो का आलेखन हुआ है। इस उपखण्ड मे कुछ प्रसगो को लेकर उनके मर्म की उपस्थापना का भी प्रयत्न किया गया है। (घ) में कवि की कल्पना शक्ति और भावोत्कर्ष मे उसके योग का व्याख्यान है। (च) मे भाव-चित्रण के उद्देश्य की समीक्षा हुई है। यहाँ यह दिखाया गया है कि गुप्त जी भाव का केवल चित्रण करके ही सतुष्ट नही हो जाते वरन् वे किसी उच्चतर आदर्श मे उसकी परिणति भी करते है।

कला-पक्ष के भी चार खण्ड है। प्रथम खण्ड है 'विभिन्न काव्य-रूपो का प्रयोग'। इसके अन्तर्गत गुप्त जी की महाकाव्य एव खण्डकाव्य-विषयक धारणाओ, प्रगीत कला एव नाट्य कला आदि का विवेचन किया गया है और कवि द्वारा प्रयुक्त नवीन काव्य-रूपो पर भी विचार किया गया है। 'अभिव्यजना-कौशल' शीर्षक द्वितीय खण्ड मे कवि की चित्रण-कला, वर्ण-योजना तथा काव्य मे रमणीयता और रोचकता लाने के लिए प्रयुक्त अनेक युक्तियो और प्रसाधनो का निरूपण है। तृतीय खण्ड मे खडी बोली के उद्गम और विकास की पृष्ठभूमि मे गुप्त जी की भाषा पर विचार हुआ है। काव्य-क्षेत्र मे गुप्त जी के पदार्पण से पूर्व काव्य-भाषा के रूप मे खड़ी बोली, उनकी अपनी भाषा का स्वरूप और सौष्ठव तथा खडी बोली के विकास मे उनके योगदान आदि का आलेखन किया गया है। छन्द-विषयक चतुर्थ खण्ड मे छन्द के स्वरूप और उपयोगिता तथा मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त छन्दो के उदाहरण प्रस्तुत किए गए है—साथ ही छन्दों के वैविध्य और प्रसगानुकूलता आदि पर भी विचार हुआ है।

'गुप्त जी की काव्य-साधना' का यह तृतीय संस्करण है। इसमे यत्र-तत्र कुछ आवश्यक सशोधन किए गए हैं। आशा है इस रूप मे यह और भी लाभदायक सिद्ध हो सकेगी।

—लेखक

विषय सूची

भाव-पक्ष (९—११४)

कला-पक्ष (११५-३१८)

भाव-पक्ष

साधारणत काव्य के दो पक्ष है—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तगत आता है समग्र वर्ण्य विषय तथा कला-पक्ष मे सम्मिलित है सम्पूर्ण वर्णन-कौशल। यद्यपि शील और शैली का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव नही है—उनमे घट और पट का-सा एकान्त पार्थक्य नही है। पर साथ ही वे व्यवहार-बुद्धि से अविभाज्य भी नही है। वस्तुत काव्य के लिए दोनो ही अनिवार्य है—"भाव-पक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक् नही हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नही हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।"[1] रही बात सापेक्षिक महत्व की।—सो उसमे किसी मतभेद का अवसर ही नही। भाव-पक्ष ही सर्वमत से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशाली है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष मे निश्चय ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। पहला साध्य है तो दूसरा साधन। पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य दर्पण मे ठीक ही कहा है कि "कविता का कला-पक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। (पर) प्रेषणीयता काव्य का साधन है साध्य नही।"[2] वास्तव मे यह महत्व-निर्धारण आदि ही व्यर्थ है। काव्य के लिए ये दोनो ही अपेक्षित है। दोनो पक्ष एक दूसरे के सहयोगी है, प्रतियोगी नही। दोनो के यथावत् सयोग मे ही सत्साहित्य का अस्तित्व अन्तर्निहित है। अस्तु!

पहले गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन कर लिया जाए

---

१ सिद्धान्त और अध्ययन बाबू गुलाबराय, द्वितीय सस्करण, पृ० १२५

२ द्वितीय सस्करण, पृ० २७८

(क) भाव-क्षेत्र का विस्तार

भाव का अभिप्राय और उनकी सख्या

सस्कृत के आचाय ने भाव की परिभाषा नही दी। स्थायी और सचारी अथवा व्यभिचारी भावो का विस्तृत विवेचन करनेवाले आचाय भी निर्विशेषण 'भाव' को शायद स्वत व्यक्त समझकर छोड गए। वस्तुत यह विशेष रूप से मनोवैज्ञानिको के अध्ययन क्षेत्र मे आता है। फिर भी काव्य (साहित्य) की आधारशिला होने के कारण शास्त्र की परिधि के बिल्कुल बाहर भी नही है। अत काव्य शास्त्र के आधुनिक विद्वानो ने इस पर थोडा बहुत विचार किया है। बाबू गुलाबराय के अनुसार—"सुख और दु ख को हम भाव कहते है।"[1] किन्तु भाव की यह परिभाषा अत्यन्त सरल है—उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराने मे असमथ है। हाँ, मूल भावो की ओर सकेत इसमे अवश्य है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' के लेखक[2] के अनुसार—"मनुष्य के हृदय मे बाह्य जगत् की सवेदनाओ के कारण विकार उठते है, जो मिलकर भाव की सज्ञा प्राप्त करते है।"[3] इस परिभाषा मे भाव को बाह्य जगत् के सस्पश से मानव-मन मे उठने वाली प्रतिक्रिया कहा गया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको का भी लगभग यही मत है।[4] हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बडे स्पष्ट और सशक्त शब्दो मे इस बात की घोषणा की है—

"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनो के गूढ सश्लेष का नाम 'भाव' है।"[5]

यहाँ 'वेगयुक्त प्रवृत्ति' से आचार्य का अभिप्राय है 'प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा'। निश्चय ही जब तक अनुभूति और प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न नही होगा तब तक भाव का अस्तित्व नही माना जा सकता।

---

१ सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय सस्करण, पृ० १७५

२ श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु

३ द्वितीय सस्करण, पृ० ३

4 " The emotions are organised manifestations of the life of the feelings , they are the reactions of the individual on everything which touches the course of his life, or his amelioration, his being, or his better being " —The Psychology of the Emotions by TH RIBOT, edition 1897

५ रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृ० १६८

ऊपर सकेत किया जा चुका है कि भाव मूलत दो ही है—सुख और दु ख। शास्त्रीय शब्दावली मे इन्ही को राग और द्वेष कहा जाता है।[1] ये राग और द्वेष ही आलम्बन-भेद से विभिन्न रूप धारण करते है। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ के प्रति राग, सम्मान अथवा श्रद्धा का, समान के प्रति प्रीति का तथा हीन के प्रति करुणा का रूप धारण कर लेता है। द्वेष भी अधिक बलवान के प्रति भय मे, समबल के प्रति क्रोध मे तथा हीनबल के प्रति दर्प मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मानव-मन के प्राय सभी भाव—सुख और दुख—दो मे ही समाहित हो जाते हे। मनोविश्लेषण-शास्त्री इससे भी आगे बढे। उन्होने केवल एक ही मूलभाव माना है। फ्रायड ने उसे काम, एडलर ने हीन-भावना तथा युङ्ग ने जिजीविषा कहा है।—इन विद्वानो के अनुसार और सब तो उस एक ही मूल-भाव के प्रोद्भास है। उपर्युक्त अभिमतो मे से युङ्ग महाशय का जीवन-रक्षा की इच्छा (भारतीय दर्शन की शब्दावली मे अहङ्कार) को मूलभाव स्वीकार करनेवाला मत ही अधिक मान्य है। भारतीय विचारको मे महाराज भोज ने भी शृगार को इसीलिए रसराज माना है कि उसका सम्बन्ध जीवन की मूल-वृत्ति अहकार से है।

किन्तु ये तो सब दशन अथवा मनोविज्ञान-शास्त्र की बाते है। काव्य-शास्त्रियो ने साधारणतया बयालीस भावो का उल्लेख किया है। यह सख्या-निर्धारण भी अन्तिम और सर्वथा निर्दोष नही है। लेकिन फिर भी यह अधिक व्यावहारिक और काव्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

बयालीस मे से नौ को स्थायी और शेष तेतीस को सचारी भाव माना गया है। मनोविज्ञान शास्त्र को इस प्रकार का कोई विभाजन स्वीकाय नही, उसके लिए यह आवश्यक भी नही है। किन्तु काव्यशास्त्र के आचार्यो ने अपेक्षाकृत स्थिर मनोवेगो—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद—को स्थायी की सज्ञा दी है। चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा आदि अपेक्षया अस्थिर भावो को सचारी अथवा व्यभिचारी के नाम से अभिहित किया गया है। साहित्यदपणकार के शब्दो मे—

अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमा,
आस्वादाकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति समत।[2]

---

१ पातजल योगदर्शन

सुखानुशयी राग । २।७

दु खानुशयी द्वेष । २।८

२ साहित्यदर्पण, ३।१७४

अर्थात विरुद्ध वा अविरुद्ध भाव जिसे तिरोहित करने मे असमर्थ हो तथा जो आस्वाद का मूल कारण (आस्वाद रूपी अकुर की जड) हो उसे स्थायी भाव कहते है। इसके विपरीत (रत्यादि) स्थायी भाव मे व्यभिचरण (सचरण) करने वाले तेतीस भाव सचारी कहलाते है—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिण
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिशच्च तद्भिदा ।[1]

अत स्थायी भाव स्थिर और सबल मनोदशा अथवा मनोवृत्ति है—किन्तु सचारी भाव अस्थिर एव तरग तुल्य क्षणभगुर मनोविकार है। मै समझता हूँ कि दोनो के नाम ही इस अन्तर के द्योतन मे पर्याप्त समथ है। रहा प्रश्न काव्य मे इस प्रकार के विभाजन की उपयोगिता का। इसका सहज उत्तर यह है कि काव्य का 'सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है।' अत व्यावहारिक दृष्टि मे स्थिर और तीव्र फिर अधिक प्रभावक्षम तथा अस्थिर और कम प्रभावशाली भावो का निर्धारण कोई असगत अथवा असम्बद्ध बात नही है। हाँ, स्थायी एव सचारी की परिधि तथा सख्या का निश्चय काफी विवादग्रस्त विषय है। क्या स्थायी भाव केवल नौ ही हो सकते है? क्या सचारी भाव तेतीस से कम-ज्यादा नही हो सकते?

सचारियो मे तो नही पर स्थायी भाव को लेकर सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे ही काफी घटा बढी हुई है। भरत ने स्थायी केवल आठ माने थे। बाद मे शम अथवा निर्वेद भी जोड दिया गया। भक्ति एव वात्सल्य को लेकर भी काफी वाद विवाद हुआ। आधुनिक युग मे रामचन्द्र शुक्ल शायद एक प्रकृति रस भी चाहते है। स्पष्ट शब्दो मे उन्होने ऐसा कही नही कहा। फिर भी उनके विशद विवेचन और प्रकृति के प्रति उनके सबल अनुराग से ऐसा भासित होने लगता है।[2]—और गर्व, ग्लानि, असूया आदि के विपय मे डॉ० नगेन्द्र तो स्पष्ट ही कहते हैं—" परन्तु कम से कम कुछ एक मे—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि मे रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पडगी।"[3]

इस विपय मे हमारा विनम्र निवेदन है कि ये सब भावनाए शास्त्रोल्लिखित स्थायी भावो के समान दीर्घकालस्थायी नही है अतएव उन्हे स्थायी पद नही दिया जा सकता। भक्ति का शृगार और शात मे अन्तर्भाव हो सकता है। हाँ, वात्सल्य को निश्चय ही रति के अन्तर्गत नही माना जा सकता। यद्यपि फ्रायड-

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१८०

२ दे० रस-मीमासा मे विभाव का विवेचन

३ रीतिकाव्य की भूमिका, सस्करण सन् १९४९, पृ० ८२

प्रतिपादित व्यापक काम के अन्तर्गत वह भी आ सकता है, फिर भी हमारा मानस-कोश वात्सल्य और रति मे अश अशी-भाव मानने को कदापि तैयार नही होगा। और यह भाव है भी बहुत तीव्र—पुत्रैषणा से इसका सीधा सबध है। सूर, तुलसी, मीरा आदि के काव्य के अध्ययन के पश्चात् भक्ति की स्थायित्व-क्षमता मे भी सदेह नही रह जाता। वास्तव मे चारो खूँट बाँध लेने वाला कोई निश्चित नियम इस दिशा मे असम्भव है।

सचारियो को सख्याबद्ध करना तो और भी दुष्कर है। क्योकि मनोविकार तो सीमातीत है। कौन कह सकता है कि सभी मनोविकारो का सधान एव नामकरण भी हुआ है अथवा नही। ऐसी दशा मे उनकी सख्या निश्चित करने का प्रश्न ही नही उठता—वह सभव ही नही है।[1] और फिर ये विकार-वीचियाँ सदा-सवदा अमिश्र ही नही रहती। वरन् अधिकाशत लवण-नीर तुल्य एक-दूसरे मे मिलकर अनेक नूतन मनोविकारो को जन्म देती है। हमारे विचार मे सचारी भाव के नाम से आख्यात इन मिश्र और अमिश्र मनोविकारो के सीमा-निर्धारण का प्रयत्न ही व्यर्थ है। लेकिन शास्त्र मे उनकी गणना हुई है—सचारियो की सख्या ३३ मानी गई है। जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके है, यह ठीक नही है। इन तेतीस मे भी मरण, आलस्य, अपस्मार, निद्रा आदि शारीरिकता-प्रधान सचारियो को मनोविकार कहना असगत होगा। इस प्रकार उनकी सख्या और भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त आदर, श्रद्धा, दया, उदासीनता आदि कुछ जाने बूझे मनोविकार छूट भी जाते है—गिनती मे आते ही नही। परम्परा दृढ विद्वान प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र व्यभिचारी-परिगणन का कारण 'शास्त्रचर्चा की सुविधा' मानते है—

"सचारियो के सम्बन्ध मे दो बाते और है। ये स्थायी भावो की तरह परिमित नही होते। ये बहुत से हो सकते है। किन्तु काव्य मे शास्त्र-चर्चा की सुविधा के लिए प्रमुख तेतीस ही सचारी कहे गए है। ३३ की सख्या निश्चित हो जाने से कभी लोगो को भ्रम हो जाया करता है। जैसे हिन्दी मे कुछ लोगो को यह भ्रम हुआ कि कवि 'देव' ने 'भावविलास' मे 'छल' नामक चौतीसवाँ सचारी लिखकर रस के क्षेत्र मे बहुत बडा अन्वेषण किया। पर बात ऐसी नही है। छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने

---

१ "वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नही असम्भव भी है। क्योंकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है।"
—रीतिकाव्य की भूमिका डा० नगेन्द्र (१९४९) पृ० ८१

भाव है जिनकी गणना तेतीस सचारियो मे नही है ।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण मे आप देख रहे है कि मिश्र जी स्वय मानते है कि सचारो स्थायी भावो के समान 'परिमित नहीं होते'—'वे बहुत से हो सकते है' । दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि की गणना सचारियो मे न होने के तथ्य की ओर भी उनका ध्यान गया है । फिर भी पता नही सख्या '३३' मे उन्हे शास्त्रचर्चा की कौन-सी सुविधा दृष्टिगत होती है । क्या इससे अधिक सख्या मे सुविधा कम हो जाती ? मै समझता हूँ कि सख्या का प्रतिबन्ध हटा देने से सुविधा और भी बढ जाती । फिर यदि मिश्र जी का कहना ठीक भी मान लें तो क्या शास्त्र मे सुविधा के लिए अतथ्य कथन भी हुआ करेगा ?

हमारी विनम्र सम्मति मे सचारी भावो के अध्याय मे काफी सशोधन-परिशोधन की आवश्यकता है ।—और उनके सख्या-निर्धारण का निष्फल प्रयत्न तो सर्वथा त्याज्य ही है ।

गुप्त जी द्वारा सभी भावो (रसो) का ग्रहण

आलोच्य कवि अत्यन्त व्यापक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति है । जीवन मे जितनी भिन्न-विभिन्न स्थितियाँ और परिस्थितिया सभव है उनमे से अधिकाश को उसने अपने काव्य का विषय बनाया है । आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"पूर्ण भावुक वे ही है जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अश का साक्षात्कार कर सके और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सके ।"[२] इस दृष्टि से हमारा कवि पूर्ण भावुक की कोटि मे आता है । सचमुच उसकी भाव-परिधि बहुत व्यापक है । व्यापकता की दृष्टि से आधुनिक साहित्यकारो मे प्रेमचन्द के अतिरिक्त और कोई भी मैथिलीशरण के समकक्ष नही है ।

भावो का सम्बन्ध रसो से है । भारतीय काव्यशास्त्र मे भाव की चरम परिणति को रस कहा जाता है ।—और रसो की सख्या साधारणत नौ मानी जाती है । नौ रसो मे भी शृगार, वीर, शान्त और करुण का सम्बन्ध जीवन के अधिक प्रबल और उपयोगी भावो से है । अत वे प्रमुख है । गुप्त जी के काव्य मे इन चार रसो का विशेषत और शेष पाँच का साधारणत चित्रण हुआ है । इस प्रकार उनके काव्य मे सभी रसो का समावेश है । रति भाव

---

१ वाङ्मय-विमर्श, तृतीय सस्करण, पृ० १२७

२ गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृ० ७३

अथवा शृगार रस की व्यजना के लिए रग मे भग, शकुन्तला, साकेत (विशेषत प्रथम, नवम और दशम सर्ग), यशोधरा के 'यशोधरा' शीर्षक खण्ड, सिद्धराज, हिडिम्बा और जय भारत के कुछ अध्याय देखे जा सकते है। रग मे भग, वक-सहार, विकट भट, सिद्धराज तथा साकेत, जय भारत और भारत-भारती के कुछ अशो मे उत्साह (वीर) का उद्भास है। निम्नलिखित पुस्तको और स्थलो पर करुण की धारा देखी जा सकती है—

भारत भारती, जयद्रथ-वध, कुणाल-गीत, किसान, साकेत (दशरथ-मरण प्रसग), काबा और कर्बला, विश्व-वेदना, अजलि और अर्घ्य तथा जय भारत के कुछ खण्ड।

शान्त का प्रसार देखना हो तो झकार और प्रदक्षिणा का अवलोकन कीजिए। जयद्रथ-वध, शक्ति, विकट भट, साकेत (तृतीय सर्ग मे लक्ष्मण), जय भारत (युद्ध तथा हत्या खण्ड) आदि मे रौद्र, जयद्रथ-वध (अर्जुन की प्रतिज्ञा के पश्चात् जयद्रथ की घबराहट), शक्ति आदि मे भयानक, जयद्रथ-वध और जय भारत (युद्ध खण्ड) मे वीभत्स, शक्ति और साकेत मे अदभुत तथा पचवटी (सीता-लक्ष्मण सवाद), सिद्धराज (काचनदे-मीलनदे सवाद), साकेत आदि मे हास्य भी सहज उपलब्ध है। अब गुप्त जी के काव्य से रसो के कुछ उदाहरण लीजिए—

शृङ्गार रस

हो चुका शृङ्गार जब पूरा यथोचित रीति से,
ले चलीं वर के निकट सखियाँ उसे तब प्रीति से।
ललित लज्जा-भार से ग्रीवा रुचिर नीची किए,
मन्द गति से वह गई अवलम्ब उन सबका लिए।[१]

वधू को विवाह-मण्डप मे ले जाने का दृश्य है। यहाँ पर वधू आश्रय और वर आलम्बन है। वर का सामीप्य उद्दीपन, हर्ष और लज्जा सचारी तथा गर्दन झुकना अनुभाव है। इस प्रकार रस की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित है। साकेत के तो प्रथम सर्ग मे ही लक्ष्मण-उर्मिला के सुखी दाम्पत्य का वर्णन है। नवदम्पति की मधुर-तरल विनोद-वार्ता ही रस-परिणति मे समर्थ है। किन्तु कवि ने मर्यादा का सदैव ध्यान रखा है। यद्यपि आलिगन तक का स्पष्ट चित्रण हुआ है—

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिए
और बोले—"एक परिरम्भण प्रिये।

---

१ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० १०

सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपाग ही उसने दिया।
किन्तु घाते मे उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।[1]

परन्तु सभोग पर गार्हस्थ्य का पावन आवरण झिलमिला रहा है। रीतिकालीन वर्णन की झलक भी कही-कही दृष्टिगत होती है, जैसे—

हलधर बन्धु को उठाए गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियो के सग सुन्दर लता-सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीडा का
व्रीडावश बन्द किए लोचन विशाल से।[2]

पर इसमे उस युग की अमर्यादित उच्छृखलता नाम को भी नही है। रस के विभिन्न अवयव तो उपर्युक्त उद्धरण मे स्पष्ट है ही। बस, सिद्धराज से एक अवतरण और देख लीजिए—

पहुँची परन्तु ज्यो ही मन्दिर मे सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द मे,

ललित-गभीर, गौर, गौरव का गृह-सा,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था।

सकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वय बन्दिनी सी हो उठी!
आके जडता ने उसे जकड लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलब लिया जिसका!
हो गए अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक झिलता ?
आहा दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।[3]

यहाँ काचनदे और अर्णोराज आलम्बन-आश्रय है। अर्णोराज का लालित्य

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०

२ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० २८

३ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ९३-९४

एव सौन्दर्य तथा गौरव और गरिमा उद्दीपन है । स्थान भग्न देवालय तो नही पर देवालय का अलिन्द है । एकान्त के कारण वह भी उद्दीपन विभाव ही है । व्रीडा, स्तम्भ एव जडता आदि सचारी है, अपलक दर्शन, कम्प तथा दृष्टि का नत होना आदि अनुभाव है । इन सबसे पुष्ट स्थायी रति की शृगार रस मे सफल परिणति हुई है ।

अभी तक जितने उदाहरण दिए गए वे सब शृगार के एक ही पक्ष—सयोग अथवा सभोग के थे । किन्तु रति की सघनता और व्यापकता की वास्तविक व्यजना उसके दूसरे रूप—वियोग अथवा विप्रलम्भ मे ही सम्भव है । दूसरे सयोग मे तो व्यक्ति घर की चारदीवारी मे ही सीमित रहता है किन्तु वियोग मे तो व्यक्तित्व का असीम विस्तार हो जाता है । सीता के विरह मे राम पशु-पक्षियो तक से वार्तालाप करना चाहते है—

हे खग, मृग हे मधुकर स्रेनी ।
तुम देखी सीता मृगनैनी ।। आदि ।

हमारे कवि ने शृगार के इस पक्ष का ही अपेक्षाकृत अधिक चित्रण किया है—

मै निज अलिद मे खडी थी, सखि एक रात,
रिमझिम बूँदे पडती थी घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गध चारो ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी,
करने लगी मै अनुकरण स्वनूपुरो से,
चचला थी चमकी घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैने चुप कोने मे खडे थे प्रिय,
माई मुख लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी ।[1]

इस छन्द मे 'स्मृति' की ध्वनि मानी जा सकती है—कि तु ऐसा नही है । प० रामदहिन मिश्र ने प्रस्तुत पद्य के विषय मे स्पष्ट लिखा है—"यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भाव ध्वनि नही है ।"[2] वस्तुत यहाँ विप्रलम्भ शृगार के सभी अवयव उपस्थित है । आश्रय है उर्मिला तथा आलम्बन लक्ष्मण है । एकान्त स्थान, बूँदो का पडना, झिल्ली की झनकार तथा केतकी की गन्ध का प्रसार आदि

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २१४
२ काव्य-दर्पण, द्वितीय सस्करण, पृ० १७४

उद्दीपन है। मुख का आरक्त हो जाना तथा छाती मे मुँह छिपाना अनुभाव और हर्ष, स्मृति, विबोध आदि सचारी है। सब मिलाकर रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृगार के रूप मे ध्वनित है।

विप्रलम्भ के चार भेद होते है—पूवराग, मान, प्रवास और करुण। इनमे से प्रवासजन्य विरह ही वास्तविक विरह है— उसी मे सर्वाधिक तीव्रता रहती है। पूर्वराग, सयोग से पूर्व की स्थिति है अत वह लालसा मात्र है। मान को विरह मानना ही उचित नही—क्योकि उसमे वियोग ही कहाँ? रहा करुण!—नायक नायिका मे से किसी एक की मृत्यु से पहले उसकी स्थिति नही, और मृत्यु होते ही रति का स्थान शोक ले लेता है। अत वह रसान्तर का विषय बन जाता है। फिर भी उक्त चारो भेदो के तल मे रति का एक सूक्ष्म तन्तु तो अनुस्यूत रहता ही है। अत सवथा निर्दोष न होते हुए भी आचायकृत यह भेदीकरण अनर्गल प्रलाप नही है। मैथिलीशरण जी के काव्य मे विप्रलम्भ के ये सभी भेद उपलब्ध है। हाँ, आधिक्य प्रवास विप्रलम्भ का ही है। यशोधरा से उसका एक उदाहरण लीजिए—

उनका यह कु ज-कुटीर वही झडता उड अशु अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर शिखी सब है सुन चातक की रट 'पीव कहाँ?'
अब भी सब साज-समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि, जा पहुँचे सुध सग कही यह अध सुगन्ध समीर वहाँ?[1]

गौतम के प्रति यशोधरा का हृद्गत रति भाव कोयल, मोर, भ्रमर, लता-मण्डप आदि से उद्दीप्त, (प्रतीयमान) वितक, औत्सुक्य आदि से परिपुष्ट तथा विवणता आदि से परिव्यक्त होकर वियोग की तीव्रता और सघनता को प्रकट कर रहा है। अब पूवराग का भी अवलोकन कीजिए—

और कही चित्त नही लगता था उसका,
सूना तन छोड मन जाता था वही-वही।
'आह'! नीद आई उसे रात बडी देर मे,
और वह जाग पडी बहुत सबेरे ही।
कौन कहे, उसने क्या स्वप्न देखा सोने मे,
आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही।[2]

देव मन्दिर के अलिन्द मे अर्णोराज को आँख भर देख लेने के बाद राज-

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ४४

२ सिद्धराज तृतीयावृत्ति, पृ० ११

कुमारी काचनदे का 'और कही' चित्त ही नही लगता। रात को देर मे नीद आती है—ख्वाबो की दुनिया मे भी पता नही कौन छा जाता है ? "आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही"—सचमुच जब प्रेम का प्रथम स्फुरण होता है तब 'न जाने' मन कैसा-कैसा होने लगता है।

विप्रलम्भ के शेष दो प्रकार भी रग मे भग, जयद्रथ-वध, यशोधरा और साकेत मे देखे जा सकते है। परम्परानुमोदित दस काम दशाओ—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति—मे से भी मृति के अतिरिक्त सभी का आलेखन हमारे कवि ने किया है। वास्तव मे मरण को काम-दशाओ के अन्तगत मानना ही ठीक नही है—क्योकि वह रस-विरोधी है। इसीलिए तो आचाय विश्वनाथ मरण-तुल्य दशा तथा आकाक्षित मरण आदि के वणन ही की अनुमति देते है—वास्तविक मृति की नही।[१] आलोच्य कवि ने भी आकाक्षित मरण का अकन किया है। उर्मिला की मृत्यु-कामना देखिए—

आप अवधि बन सकूँ कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मै अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।[२]

गुप्त जी के काव्य से और दो काम-दशाओ के उदाहरण देकर इस प्रसग को समाप्त करते है

जडता—

नारियाँ रनवास मे सब रो रही थीं शोक से,
किन्तु बैठी मौन थी वह भिन्न ही ज्यो लोक से।
ज्ञात होता था कि मानो मूर्ति रक्खी है वहाँ,
जल गया अन्त करण जब, फिर भला आँसू कहाँ।[३]

स्मृति—

एकान्त मे हँसते हुए सुन्दर रदो की पाँति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वही,
हे आर्य्यपुत्र! विदीर्ण होता चित्त जानें क्यो नही।।[४]

---

१ दे० साहित्यदर्पण ३।१६३-१६४

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३५

३ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० १७

४ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवो सस्करण, पृ० २३

'उनका यह कुज कुटीर' आदि यशोधरा के पूर्वोद्धृत पद्य मे उद्वेग की व्यजना है।

वीर

"वीर रस का अत्यन्त उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।"[1] आलम्बन, उद्दीपन आदि के भेद से उत्साह के चार मुख्य रूप हो सकते हे। उन्ही के अनुसार वीर रस के भी भेद होते हे—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धमवीर। सव-प्रमुख इनमे युद्धवीर ही है। हमारे कवि ने युद्धवीर का बहुत कम वर्णन किया है। उसके काव्य मे युद्ध का चित्रण न मिलकर कथन अधिक है, यथा—

कण था अटूट सार-धारा का प्रताप सा,
सामने जो आया वही डूबा-बहा उसमे !
आशा भी किसी के बचने की रही किसको ?
सीमा छोड मानो महासिधु वहाँ उमडा।[2]

फिर भी उसका सवथा अभाव नही है। बिना अधिक प्रयास के ही कई अच्छे उदाहरण मिल सकते है। गुप्त जी की सवप्रथम रचना रग मे भग से ही निम्न उद्धरण देखिए—

"वीर कुम्भ ! विचार ऊचे है तुम्हारे सवथा,
किन्तु दोषारोप अब मुझ पर तुम्हारा है वृथा।
वीर बूदी के स्वय मौजूद हो जब तुम यहाँ,
तो कहो, प्रण पालना झूठा रहा मेरा कहाँ ?"
क्रुद्ध हो तब कुम्भ ने शर से उन्हें उत्तर दिया,
किन्तु राना ने उसे झट ढाल पर ही ले लिया।
फिर वहाँ कुछ देर को पूरी लडाई मच गई
वध किये उस वीर ने मरते हुए भी रिपु कई ॥[3]

यहा राणा और हाडा कुम्भ आलम्बन तथा आश्रय है। राणा के वचन तथा उनके प्रहार उद्दीपन है। कुम्भ का शरसधान तथा अन्य शस्त्रो द्वारा प्रहार अनुभाव है। रोप तथा (मातृभूमि के निमित्त बलिदान का) हर्ष सचारी है।—और उत्साह स्थायी तो है ही ! इस प्रकार वीर के सम्पूर्ण अवयव नियोजित है। शक्ति की निम्न पक्तियाँ भी द्रष्टव्य है—

---

१ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग)—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पचम सस्करण, पृ० २१५
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३८२-३८३
३ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० २६

गरजी अट्टहास कर अम्बा देख ठट्ठ के ठट्ट,
दहल उठे जल-थल अम्बर तल घटा विकट सघट्ट ।[1]

इस अवतरण मे महाशक्ति और राक्षसो के युद्ध का वर्णन है । रस की दृष्टि से शक्ति आश्रय तथा राक्षस आलम्बन है । राक्षसो का बहुसख्या मे एकत्रीकरण तथा उनकी विरूपता एव विकरालता उद्दीपन है । चण्डी का अट्टहासपूर्ण गर्जन तथा युद्ध मे रिपु-दलन अनुभाव है । राक्षसो के पूर्व-कृत्यो की स्मृति एव धैय सचारी है । इन सब तत्त्वो से परिपुष्ट उत्साह (स्थायी) रस-रूप मे व्यजित है ।

'साकेत' से भी एक उदाहरण लीजिए—

दल-बादल भिड गए, धरा धस चली धमक से
भडक उठा क्षय कडक तडक से, चमक दमक से ।
रण-भेरी की गमक, सुभट, नट से फिरते थे,
ताल-ताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते-गिरते थे ।[2]

यहाँ भी उत्साह (युद्ध) वीर रस के रूप मे ध्वनित हो रहा है । अब वीर के अन्य भेदो को लीजिए

भीम, शरणागत का अपमान !
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान ?
× × ×
वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ,
और तुम उन्हे छुडा लाओ ।
शत्रु समझो, तो भी आओ,
द्विगुण जय यो उनपर पाओ ।
भीम, सहदेव, नकुल सब लोग,
करो जाकर समुचित उद्योग ।[3]

वन-विहार के समय दुर्योधनादि चित्ररथ द्वारा पकडे जाते है । तब वृद्ध सचिव वनवासी पाण्डवो के पास सहायता के लिए जाते है । दुर्योधन और उसके मित्रो की दुर्दशा का समाचार सुन भीम प्रसन्न होते है । किन्तु युधिष्ठिर भीम का मोह-भग करते हुए अपने भाइयो को उन्हे बन्धन-मुक्त कराने के लिए प्रेरित करते है—उक्त अवतरण का यही प्रसग है । इसमे दुर्योधनादि आलम्बन

---

१ शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृ० १२
२ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० ३२०
३ वन-वैभव, सस्करण सवत २००५, पृ० ३२-३३

तथा युधिष्ठिर आश्रय है। उनकी दुर्दशा तथा मन्त्री द्वारा साहाय्य-याचना उद्दीपन है। आपत्ति के समाचार पर वृकोदर की प्रसन्नता भी उद्दीपन के अन्तगत ही आती है। धर्मपुत्र के उपर्युक्त वचन अनुभाव तथा धृति, हर्ष आदि सचारी है। इस प्रकार दया-वीर व्यजित है। निम्नाकित पक्तियो मे धम वीर का औज्ज्वल्य भी देखिए—

कहने लगे अर्जुन
रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नही!
इससे मुझे है जान पडता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल मे दूसरा प्रण पालता हू मै अभी,
अच्युत! युधिष्ठिर का सब भार है तुम पर सभी ॥[1]

करुण

मैथिलीशरण जी के काव्य मे करुण रस का ही प्राधान्य है। इस विशेषता से प्रभावित एव प्रेरित होकर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने तो गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा नामक एक पुस्तक ही लिखी है। सबसे पहले कवि की आरभकालीन पुस्नक जयद्रथ-वध से एक उदाहरण लीजिए—

मै हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मै अनुचरी चिरसगिनी।
जो अगरागाकित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसकी मै मुदित हो मोहती,
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पडी!
बैठी तथा मै देखती हूँ, हाय री छाती कडी!
हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नीद कैसी घोर है,
।[2]

यहाँ अभिमन्यु का शव आलम्बन तथा उत्तरा आश्रय है। पति की सुन्दरता, वीरता तथा प्रेम का स्मरण आदि उद्दीपन है। चिन्ता, दैन्य आदि सचारी तथा उत्तरा का विलाप अनुभाव है। इन सबसे परिपुष्ट स्थायी भाव शोक की करुण रस मे परिणति होती है। एक उद्धरण और देखिए—

आज मै विदेशिनी हूँ, अपने ही देश मे
वन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश मे

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृ० ८३
२ ” ” ” पृ० २५

हा ! दु स्वप्न ही मै इसे मान नही सकती
कैसे समझाऊँ मन जान नही सकती
मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है ।[1]

इन्द्र के स्वग-भ्रष्ट होने पर नहुष इन्द्र बनते है । इस स्थिति से इन्द्राणी बहुत दुखी है । यहाँ इन्द्र का पराभव आलम्बन, इन्द्राणी आश्रय, स्वग की पराधीनता (मानव द्वारा इन्द्रासन ग्रहण करने के कारण) आदि उद्दीपन है । ग्लानि, चिन्ता, विषाद आदि सचारी एव उच्छ्वास, विवर्णता तथा इन्द्राणी का उक्त वचन अनुभाव है । इस प्रकार करुण रस ध्वनित है । विकट भट का यह अवतरण—

"जा, बेटा कदाचित् सदा के लिए" हाय रे !
करुणा से कठ भर आया ठकुरानी का ।
जाकर अ धेरी एक कोठरी मे वेग से,
पृथ्वी पर लौट वह रोई ढाढ मार के
व्योम की भी छाती पर होने लगी लीक-सी ![2]

भी द्रष्टव्य है । कुमार सवाईसिह आलम्बन, ठकुरानी आश्रय तथा जोधपुर-नरेश विजयसिह का सवाईसिह को दरबार मे बुलाना एव उसके पूवकृत्यो का स्मरण उद्दीपन है । ठकुरानी का वेग से जाना, पृथ्वी पर लोटना, रोना चिल्लाना आदि अनुभाव है । दैन्य, विषाद, उन्माद आदि सचारी है । इन सभी अवयवो के अवलम्ब से स्थायीभाव शोक की रस मे परिणति हुई है । साकेत के दशरथ-मरण प्रसग से भी करुण की आद्रता का एक उत्कृष्ट निदशन देखिए—

बस, यही दीप-निर्वाण हुआ, सुत-विरह वायु का बाण हुआ ।
धुँधला पड गया चन्द्र ऊपर, कुछ दिखलाई न दिया भू पर ।
अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना सा सब ससार हुआ ।
अर्द्धांग रानियाँ शोककृता मूर्च्छित हुई या अर्द्ध-मृता ?
हाथो से नेत्र बन्द करके, सहसा यह दृश्य देख डरके,
'हा स्वामी !' कह ऊँचे रव से, दहके सुमन्त्र मानो दव से ।

---

१ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० १०
२ विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृ० ६

अनुचर अनाथ से रोते थे, जो थे अधीर सब होते थे।
थे भूप सभी के हितकारी, सच्चे परिवार-भार धारी ।[१]

यह बन्धु नाश-जन्य करुण है। रसावयव सहज-स्पष्ट है—महाराज दशरथ आलम्बन है, रानिया, सुम त्र तथा अन्य भृत्य, अभिप्राय यह कि जो भी वहा उपस्थित थे वे सभी आश्रय है। दशरथ के शव का दर्शन, सर्वहितकारिता, परिवार-पालन-कुशलता आदि उनके प्रशसनीय गुणो का स्मरण आदि उद्दीपन है। रोदन, नेत्र-निमीलन, प्रलाप, मूर्च्छा आदि अनुभाव तथा आवेग, दैन्य, जडता, विषाद आदि सचारी भाव है। उपर्युक्त सामग्री से परिपुष्ट शोक की करुण रस के रूप मे चरम परिणति हुई है।

शान्त

क्या भाग रहा हूँ भार देख?
तू मेरी ओर निहार देख?
मै त्याग चला निस्सार देख,

× × ×

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र?
भीतर भीषण ककाल मात्र,

× × ×

प्रच्छन्न रोग है, प्रकट भोग,
सयोग मात्र भावी वियोग!
हा लोभ-मोह मे लीन लोग,
भूले है अपना अपरिणाम!
ओ क्षणभगुर भव, राम-राम![२]

ये पक्तियाँ गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' से उद्धृत है। गौतम आश्रय तथा असार ससार आलम्बन है। प्राणी का अनिवार्य मरण, मानव की भीतरी ककालता, भोग मे रोग का निहित रहना तथा सयोग का अनिवार्यत वियोग मे परिवर्तन आदि उद्दीपन है। गृह त्याग, ससार को इस प्रकार सम्बोधित करना आदि अनुभाव है। सचारी है वितर्क, मति, धैर्य आदि। सहृदयो के हृदय मे वासना-रूप से स्थित निर्वेद पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव और सचारी से

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १२३
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १६-१७

शान्त रस का रूप धारण करता है। पचवटी के निम्न पद्य मे भी शान्त का सौदर्य है—

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढते है शुक सारी भी आश्रम के,
मुनि-कन्याएँ यश गाती हे क्या ही पुण्य पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन-राज्य मे सुखपूर्वक सब जीते है,
सिह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते है।[१]

'स्वच्छ शिला' पर बैठे हुए 'धीर, वीर, निर्भीकमना' लक्ष्मण पचवटी की शोभा निहार रहे है। पचवटी ही यहा आलम्बन है, आश्रय है लक्ष्मण। पचवटी का शान्त वातावरण, शुक और सारिका का 'शुभ सिद्धान्त वाक्य' पढना, सबका सुखपूर्वक जीना— सिह और मृग का एक घाट पर पानी पीना आदि उद्दीपन हे। एकान्त वातावरण मे रमना, ससार के तथाकथित सुख-वैभव से पराङ्मुखता आदि अनुभाव है। हर्ष, मति आदि सचारी है। इन सभी अवयवो से पोषित शम रस-रूप मे व्यजित है।

निर्वेद भी यहाँ सचारी के रूप मे है। मै समझता हूँ कि निर्वेद और शम दोनो मे से कोई भी स्थायी बन सकता है। आचार्यो ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[२]

रौद्र

प्रस्तुत कवि ने युद्धवीर का तो नही—किन्तु रौद्र का प्रचुर चित्रण किया है। दो एक उदाहरण लीजिए—

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
"ससार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पडे,"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खडे।[३]

यहाँ पापकर्मी कौरव तथा उनके सहायक आलम्बन है। अर्जुन आश्रय तथा उनका हाथ मलना, खडे हो जाना एव उनके आरक्त नेत्र तथा उपयुक्त गर्वोक्ति अनुभाव है। उद्दीपन है कृष्ण के वचन और अभिमन्यु-से पुत्र की मृत्यु। गर्व और आवेग सचारी है। रस के सम्पूर्ण अवयवो का कैसा सफल सयोजन है। निम्नाकित सक्षिप्त किन्तु सप्रभाव अवतरण भी द्रष्टव्य है—

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० १२

२ दे० काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग)—कन्हैयालाल पोद्दार, पचम सस्करण, पृ० २३४

३ जयद्रथ-वध' सत्ताईसवाँ सस्करण, पृ० ३६

"अरे पापी तुझको तो मै
व्योम मे रसातल मे खोजकर मारता
भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको"[१]

शास्त्राभ्यासियो के लिए यहा पर भीम और दु शासन आश्रय आलम्बन हैं। दु शासन के पूवकृत्य उद्दीपन तथा भीम की (अनुमित) आकुचित भौहे और फूले हुए नथने अनुभाव है। दु शासन पर प्रहार, कठोर भाषण आदि भी अनुभाव के अन्तगत ही आएँगे। उग्रता तथा स्मृति आदि सचारी है। इस प्रकार रौद्र का सावयव निरूपण हुआ है। मुक्तक-सग्रह मगल-घट से भी एक उद्धरण देखिए—

ठाकुर ने त्योरियो के साथ तलवार भी
खीच ली तुरन्त और क्रोध[२] कर यो कहा—
"पार कर दूँगा अभी आतें गिर जाएँगी
कहता हूँ फिर भी उतार दे उतार दे !"[३]

भयानक

बोला तब कातर होकर वह भूल यशोलिप्सा सारी—
"देखो, देखो बृहन्नले, यह सेना है कैसी भारी !
इसे देखकर धैर्य छूटता, अग कापते हैं, थकते,
मै क्या, इसे स्वय सुरगण भी रण मे नही हरा सकते।
मै किस भाँति लडूगा इससे मोडो रथ के अश्व अभी,
।"[४]

कौरव-सेना विराट की राजधानी पर आक्रमण करती है। महाराज का पुत्र उत्तर बृहन्नला नाम-धारी अर्जुन को सारथी बना युद्ध के लिए जाता है। किन्तु शत्रु की विशाल वाहिनी को देखकर वह घबरा जाता है। इसमे कुरुराज की सेना आलम्बन, राजकुमार उत्तर आश्रय है। शत्रु-सेना की विशालता, विकरालता और दुर्जेयता उद्दीपन है। कातर-वचन, अधीरता, कम्प, श्रम, (प्रतीयमान) वैवण्य आदि अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग, त्रास आदि सचारी हैं। काव्य वर्णित ये विभाव, अनुभाव और सचारी वासना-रूप मे रसिक के हृदयस्थ भय को रस-दशा मे परिवर्तित करने मे सक्षम है। जयद्रथ-वध से

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३८४
२ यह स्वशब्दवाच्यत्व दोष है
३ मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृ० २०५
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २७१

अवतरित निम्न पद्य मे भी भयानक की उत्कृष्ट व्यजना है—

> **जो प्रण किया है पार्थ ने सुत-शोक के सन्ताप से**
> **हे कुरुकुलोत्तम ! क्या अभी तक वह छिपा है आपसे ?**
> **'मारू जयद्रथ को न कल मै तो अनल मे जल मरूँ',**
> **की है यही उसने प्रतिज्ञा, अब कहो मे क्या करूँ ?**
> **कर्त्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,**
> **भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है।**
> **अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,**
> **या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए ।।**[1]

यहा रस के सभी अवयव सहज-सुलभ है। किन्तु भयानक के चित्रण मे भय का स्पष्ट कथन ('भय और चिन्ता युक्त' आदि पक्ति मे) दोष है। इसीलिये श्री कन्हैयालाल पोद्दार और प० रामदहिन मिश्र ने क्रमश काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग) और काव्यदर्पण मे भयानक रस के निदर्शन-स्वरूप उपर्युक्त पक्तियो मे से अतिम चार को उद्धृत करते समय 'भय और चिन्ता युक्त मे 'भय और' के स्थान पर 'कुरुराज' शब्द का प्रयोग किया है।[2] जिससे कि पूर्वोल्लिखित दोष का परिहार हो जाता है—अन्यथा वह मूलपाठ नही है।

हास्य

स्वभावत हमारा कवि हास प्रिय है—गभीर परिस्थिति मे भी वह हास का अवसर निकाल लेता है। उदाहरण के लिए सात्यकि के कहने पर कि कृष्ण और अर्जुन मुझे आपकी रक्षा के लिये छोड गए है, युधिष्ठिर का अधोलिखित कथन कैसा हास्य तरल है—

> **सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड के**
> **माया-मृग मारने गये थे राम वन मे !**[3]

यहाँ पर यह उक्ति आलबन और युधिष्ठिर का स्वभाव उद्दीपन है। आश्रय कवि और पाठक को ही मानना चाहिए। वास्तव मे हास्य की यह विशेषता है कि कोई भी उसका आश्रय बन सकता है। सिद्धराज की निम्न पक्तियो का सरल हास्य भी दर्शनीय है—

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ सस्करण, पृ० ४१

२ (क) काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग), पचम सस्करण, पृ० २२५
(ख) काव्य-दर्पण, द्वितीय सस्करण, पृ० १८६

३ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृ० १७

औषधि का रत्न पात्र देने चली दादी को,
किन्तु 'नही' सुन, हँस बोली—"बडी मीठी है !"[1]

राजकुमारी काचनदे अपनी दादी मीलनदे को औषधि सेवन कराने के लिए जाती है। किन्तु दादी औषधि लेने से इन्कार कर देती है। तब काचनदे उन्हे बहलाना-फुसलाना चाहती है, कहती है कि दवाई "बडी मीठी है।" साधारणत बडे बूढे इस तरह से बच्चो को बहलाया करते है—किन्तु यहाँ विपरीत बात है। यह वैपरीत्य ही हास्य का मूल है।

अद्भुत

"आश्चय जनक विचित्र वस्तुओ के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है"[2] मैथिलीशरण के काव्य मे अद्भुत का चित्रण बहुत कम हुआ है, फिर भी प्रयत्न करने पर दो-एक अच्छे उदाहरण मिल सकते है। यथा—

खीच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना
सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन मे,
अग्नि-शिखा ऊँची भी नही है निराधार कही,
वैसा सार वेग कब पाया सान्ध्य घन मे ?
भूपर से ऊपर गया था वानरेन्द्र मानो
एक नया भद्र भौम जाता था लगन मे
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर,
दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन मे ![3]

हनुमान के आकाश आरोहण का चित्रण है। इसमे अद्भुत का चमत्कार है। भरत, माण्डवी, शत्रुघ्न तथा अन्य दर्शक-वृन्द आश्रय है। आलम्बन है उपर्युक्त अलौकिक घटना। बिना प्रयास एकदम ऊपर चढते चले जाना उद्दीपन तथा (प्रतीयमान) रोमाच, नेत्र-विस्फारण आदि अनुभाव है। हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि सचारी भी सहज-अनुमित है। इन सबसे पुष्ट विस्मय की अद्भुत रस के रूप मे प्रतीति होती है।

वीभत्स

गोल-कपोल पलटकर सहसा बने भिडो के छत्तो-से,
हिलने लगे उष्ण सासो से ओठ लपालप लत्तो-से !

---

१ सिद्धराज, तृतीय सरकरण, पृ० ८३

२ काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग)—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पचम सरकरण, पृ० २३१

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २६३

कुन्दकली-से दात हो गये बढ बराह की डाढो-से,

× × ×

जहाँ लाल साडी थी तनु मे बना चर्म का चीर वहाँ,
कन्धो पर के बडे बाल वे बने अहो ! आतो के जाल,
फूलो की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल ![1]

राम-लक्ष्मण दोनो से निराश शूर्पणखा के विकृत रूप-धारण का अकन है। इसमे राम, लक्ष्मण (सीता भी) तथा अन्य दशक (यदि कोई उपस्थित था तो !) आश्रय है। शूपणखा की रूप-विकृति (निलज्ज काम-लिप्सा-जन्य) आलम्बन है। भिड के छत्तो जैसी कुरूपता, दातो की विकरालता, चम-चीर, आत जाल एव मुण्डमाला की विगर्हणा आदि उद्दीपन है। अध्याहृत थुत्कार, मुँह फेर लेना आदि अनुभाव हैं तथा वैवर्ण्य, मोह आदि व्यभिचारी है। इन सब अवयवो से पोषित जुगुप्सा रस-रूप मे व्यग्य है। निम्न पक्तियो मे भी वीभत्स की ध्वनि है—

रक्त से हरी धरा को सींच,
पडे हैं दुर्विध आँखें मींच।

गीध खाते हैं आँखें खीच।[2]

वत्सल और भक्ति रस

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि वात्सल्य और भक्ति का रसत्व विवादग्रस्त विषय है। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि इन दोनो भावो मे रस-दशा तक पहुँचने की क्षमता है। प० रामदहिन मिश्र ने तो इन्हे स्वतन्त्र रस के रूप मे परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—

(१) "जहाँ ईश्वर-विषयक प्रेम विभावादि से परिपुष्ट होता है वहाँ भक्तिरस जाना जाता है।"[3]

(२) "जहा पुत्रादि के प्रति माता, पिता आदि के वात्सल्य परिपूर्ण स्नेह की विभावादि द्वारा पुष्टि हो वहा वत्सल रस होता है।"[4]

गुप्त जी के काव्य से दोनो के निदर्शन प्रस्तुत करते है—

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ८२
२ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० ४३
३ काव्य-दपण, द्वितीय सस्करण, पृ० २१०
४ ,, ,, ,, पृ० २१८

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम-रूप के सग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम ! दूसरा रग ।[१]

यह निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रथारम्भ मे लिखा गया मगलाचरण है। स्थायी भाव है ईश्वरानुराग । राम आलम्बन है—उनका श्यामल सौदर्य तथा धनुर्बाण अथवा वेणु-धारण उद्दीपन है। आश्रय तो यहाँ स्वय कवि ही है। हर्ष, मति, औत्सुक्य आदि सचारी तथा गद्गद वचन आदि अनुभाव है। भक्ति रस की कैसी कुशल अभिव्यजना है। निम्न अवतरण भी भक्ति रस से आप्लावित है—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व मे रमे हुए नही सभी कही हो क्या ?
तब मै निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममे रमा करे ।[२]

राम मे गूढानुरक्ति का यह अन्यतम उदाहरण है। अब निम्न पक्तियो मे यशोधरा के वत्सलता-वरिष्ठ मानस का उद्वेलन भी देखिए—

किलक अरे, मै नेक निहारूँ,
इन दाँतो पर मोती वारूँ !
पानी भर आया फूलो के मुँह मे आज सबेरे,
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख मे तेरे।
लटपट चरण, चाल अटपट-सी मनभाई है मेरे,
तू मेरी अगुली धर अथवा मै तेरा कर धारूँ ?
इन दाँतो पर मोती वारू ![३]

स्नेह सवलित, ममतामयी माँ का पुत्र के प्रति हार्दिक उद्गार प्रकट हुआ है। उपर्युद्धृत अवतरण मे राहुल और यशोधरा आलम्बन-आश्रय है। राहुल के छोटे-छोटे दुग्ध-धवल दाँत, अटपटी चाल, चलने की शिशु सुलभ असमथ उत्सुकता तथा फेनोज्ज्वल हास आदि उद्दीपन है। स्नेहसिक्त उक्त कथन, पुलक तथा अनुमित नेत्र-विकास, शीश और हस्त-सचालन आदि अनुभाव है। हर्ष तथा 'हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख मे तेरे' से व्यग्य गर्व सचारी है। रस का कितना सुष्ठु परिपाक है। लक्ष्य साहित्य से ऐसे स्थलो के रस ग्रहण के

---

१ द्वापर, मगलाचरण

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६

३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ४६

पश्चात् भी क्या लक्षणकार वत्सल को रस स्वीकार न करने की हठधर्मी करते ही रहेगे ?

आलम्बनो का वैविध्य

भाव की चरम परिणति रस की विविधता हम गुप्त जी के काव्य मे देख चुके है। वैसे तो रसो के मूलाधार और स्पष्ट शब्दो मे, भाव-उद्बुद्धि के कारण-स्वरूप आलम्बनो का भी यत्किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है। किन्तु यहाँ पर उनके वैविध्य के परिदशन का प्रयत्न किया जाएगा। 'मनुष्य से लेकर कीट, पतग, वृक्ष, नदी, पवत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ' आलम्बन बन सकता है। जिसके काव्य मे सृष्टि के विस्तृत प्रागण से जितनी अधिक वस्तुएँ गृहीत होगी वह उतना ही महान् कवि होगा—कवि के महत्ता-निर्धारण की एक कसौटी उसके द्वारा स्वीकृत क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार भी है। हमारे कवि के आलम्बनो मे आपार वैविध्य है। उसने चेतन-अचेतन, क्षुद्र-विराट्, मानव दानव, पशु-पक्षी, शुभ-अशुभ, राजा-रक सभी को समस्त विभिन्नता के साथ अपनाया है।

लक्षणकारो ने रसो मे शृगार का और आलम्बनो मे उसी की मुख्य आधार नायिका का विशद विवेचन किया है। शृगार के ही सम्बन्ध मे वरान नायक का भी हुआ है पर नायिका का भेदोपभेद व्याख्यान तो—वर्ण, जाति, देश, पति-प्रेम, सामाजिक स्थिति आदि—न जाने कितने आधार ग्रहण करता हुआ उपहासास्पद कोटि तक पहुँच गया था। एक युग ऐसा भी आया था कि लक्ष्यकारो ने उन्ही के उदाहरण प्रस्तुत करने मे अपनी कवित्व-शक्ति की इति-श्री समझ ली थी। सौभाग्य से अब उस कुप्रवृत्ति का अत हो गया है। नायक-नायिका का चित्रण तो आज भी होता है (क्योकि यह तो काव्य का चिरन्तन विषय है), किन्तु अब वह रूढि-मुक्त हो गया है। गुप्त जी की नायिका का सहज सौदय देखिए—

> **अरुण-पट पहने हुए आह्लाद मे,**
> **कौन यह बाला खडी प्रासाद मे ?**
> **प्रकट मूर्तिमती ऊषा ही तो नही ?**
>
> × × ×
>
> **कनक लतिका भी कमल-सी कोमला,**
> **धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला !**
>
> × × ×

झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है।[1]

शास्त्रनिष्ठ पण्डित यहाँ भी मुग्धा का सन्धान किए बिना नही रहेगा—किन्तु इस सहज चित्रण मे शास्त्रीयता का आग्रह कहाँ है ? हमारा विश्वास है कि इन पक्तियो को लिखते समय कवि के मन मे मुग्धा की शास्त्रीय परिभाषा नही थी। इसीलिए इसे 'सहज चित्रण' कहा गया है। यह तो हुआ एक सम्भ्रान्त कुल की—'जाई राजघर, ब्याही आई राजघर'—नायिका का अकन। निम्न अवतरण मे निम्न श्रेणी की श्रमशीला नायिका का भी अवलोकन कीजिए—

थी श्रम से उद्दीप्त और भी तप्तस्वर्णशोभाभरणी।
उभरे अग साँस बढ़ने से हिलकोरे-से लेते थे,
स्वेद विन्दु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे।
लम्बा बाँस लिये थी कर मे निज विजयध्वज-दण्ड यथा,

× × ×

अलकें वा यमुना लहरो से सूँघ रही थी सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था बाल्यभाव अस्थिर उसका।
खडा कछोटा, किन्तु कधेला पडा-पडा उड चलता था,
गोरे बाहु मूल मे यौवन फूला-फूला फलता था।[2]

वय सधि का कैसा परम्परामुक्त प्रसन्न चित्र है। गतानुगतिकता की गध भी नही ! और अब देखिए निर्लज्जा कामिनी के अनावृत रूप की जगमगाहट—

रत्नाभरण भरे अगो मे ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यो प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग जगते थे।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीघ दृगो से झलक रही,
कमलो की मकरन्द-मधुरिमा मानो छवि से छलक रही।[3]

यह अभुक्त-काम शूपरणखा का वासना-पकिल वृत्तान्त है। इसके विपरीत आलेखन है साकेत के चौथे सर्ग मे मर्यादा-सकुचित सीता के नियन्त्रित काम कुलवधू रूप का।

पुरुषो मे राम तो कवि के आराध्य है—उनके सौदर्य, शक्ति और शील

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ७२
३ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० १५

समन्वित रूप का तो उसने बडी उमग से बखान किया ही है। सिद्धराज जय-सिंह के वीरौदात्त्य के भी दर्शन कीजिए—

युवक उदार-वीर उच्च उदयाद्रि के
शिखर-समान, चित्र भानु-सा किरीट था,
सहज प्रसन्न-मुख, लोचन विशाल थे,
भाल पर भौहे दृढ निश्चय की रेखा-सी।
लाल-लाल होठो पर सूक्ष्म मसि-लेखा थी।

× × ×

पीन वृष स्कन्ध, क्षीण सिंह-कटि, साहसी,
दीर्घ हस्ति-हस्त, मानो पशुता के गुण्य की
देव-साधना का वह पुण्य-नर क्षेत्र था।[१]

उधर अनुकूल नायक नन्द के विषय मे यशोदा कह रही हैं—

मेरे पति कितने उदार हैं, गद्‌गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते है मुझको, स्वय सचिव से रहते।[२]

अर्जुन की रोषाविष्ट उग्र मुद्रा भी दर्शनीय है—

दृगो का जल गया शोकाश्रुजल तत्काल ही
तब निकल कर नासा-पुटो से व्यक्त करके रोष त्यो
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यो—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर-फिर फणा फुकार भरता है फणी।[३]

क्रोध की उपर्युक्त प्रचण्ड ज्वाला का ही प्रतियोगी है ब्राह्मण का सर्वथा शान्त व्यक्तित्व—

द्विजवर्य विघ्नो से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द सन्ध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरो के योग से,
मानो भुवन की भावना था हर रहा।[४]

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० २१
२ द्वापर, सस्करण सवत २००४, पृ० १६
३ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवॉ सस्करण, पृ० ३७
४ वक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृ० ७

ब्राह्मण की प्रशान्त सन्ध्योपासना के उपरान्त भगवदवतार श्रीकृष्ण के शयन-सौन्दर्य का दर्शन-सुख भी लूटिए—

ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे।
यो लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे,
भीतर मधुप मूदे हुए ज्यो सुप्त सरसिज श्याम थे।

× × ×

नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति थी,
गलहार के गज मौक्तिको मे नीलमणि की भ्रान्ति थी।[1]

भगवद्लीला के साथ ही असुरकृत उत्पात पर भी दृष्टिपात कीजिए—

पटके पैर दत्य दुद्धर ने धँसी मेदिनी मूक,
पटकी पूँछ जलधि चिल्लाया निज मर्यादा चूक!
उछला असुर—हुए शृगो से मेघो के सौ टूक,
मारी जो हुकार महिष ने उठी प्रलय की हूक।[2]

ऐसे राक्षसो का उन्मूलन करने मे समर्थ है शक्ति का निम्नाकित चण्डी-रूप—

दोनो सन्ध्याओ के गतिमय थे उनके भ्रूभग,
उठते थे उनकी त्रिवली मे क्या ही त्रिगुण-तरग!
वह्नि विभा मे था अदृश्य-सा उनकी कटि का ढग,
भिन्न-भिन्न सुर तेजोमय थे उनके सारे अग।[3] आदि।

—और बालक के वात्सल्य-उद्दीपक चित्र का अपना ही आकर्षण है—

बैठी बहन के स्कन्ध पर
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल दीप सा बालक खडा था स्थिर वहाँ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा
"मालूँ अचुल को मै अभी, वह है कहाँ?"[4]

बालक की तोतली वाणी की तुलना कीजिए मधुप की मधुर गुजार से—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २८८
२ शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृ० १५
३ शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६
४ वक-सहार, सस्करण सवत् २००२, पृ० २०

गुन गुन सगुण गान करके,
मधु मकरन्द पान करके।
मधुकर मुक्त घूमते है
कुसुम कपोल चूमते है ।।[१]

षट्पद-से क्षुद्र जीव की क्रीडाओ मे भी कैसा मोहन भाव है ! ("कीरी" तो नही पर) मधुकर के साथ ही तुरग और कुजर का गति-चित्र भी लीजिए—

धरा को धसका कर मातग
बढे दिखलाकर निज गति-रग।
उडाकर उसकी धूल तुरग,
चले ज्यो चपल अपाग सभग।[२]

और शायद कवियो की ऊट विषयक उदासीनता का परिहार करने के लिए कवि ने इस स्थान पर ऊट को भी याद कर लिया है—

भूमि पर सकट-सा आया,
उसे ऊँटो ने उकसाया ।[३]

पक्षियो के मानवीकृत व्यापारो का सौदर्य देखना हो तो अधोलिखित पद्य देखिए—

नाटक के इस नये दृश्य के दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को कोलाहल भी करते थे,
पचवटी की रगभूमि को प्रिय भावो से भरते थे ।।[४]

मनुष्य आज तक पक्षियो का तमाशा देखता आया है। किन्तु कुशल कवि ने पचवटी के पक्षियो को ही मानव-अभिनीत नाटक का प्रेक्षक बना दिया है—अभिनेता है सीता, लक्ष्मण और शूपणखा।

मूत और सचेतन ही नही अमूत भावनाएँ और अचेतन पदाथ भी आलम्बन-स्वरूप गृहीत है। खण्डकाव्यो और महाकाव्यो के प्रसग मे 'विविध-वस्तु-वर्णन' के अन्तगत कुछ उदाहरण दिए जा चुके हे। यहाँ दो-चार अवतरण और प्रस्तुत करता हूँ। सबसे पहले तो एक आश्रम—किसी मुनि के नही, एकलव्य के साधना-आश्रम का अवलोकन कीजिए—

---

१ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृ० १२
२ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६
३ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६
४ पचवटी, सस्करण सवत २००३, पृ० २८

एक ओर थी कुंज शिला पर उनकी[1] मूर्ति गभीर,
अर्पित थे चरणों में टटके पत्र-पुष्प-फल नीर।
धन्वा की टंकार वहाँ थी घटा-ध्वनि अविराम,
और झलकते बाण-फलक थे पूजा-दीप ललाम।
झूल रहे थे वृक्षों पर बहु चक्राकृति चल लक्ष।[2] आदि।

इसके विपरीत घनीभूत वैभव की प्रतिमूर्ति, अमरावती के मित्र-से गगन-चुम्बी नृप-सौध भी देखिए—

कर रहे नृप-सौध गगन-स्पर्श है,
शिल्प कौशल के परम आदर्श हैं।
कोट-कलशों पर प्रणीत विहग है,
ठीक जैसे रूप, वैसे रंग है।
× × ×
ठौर-ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसवत् के निदर्शन रूप हैं।[3]

वन वैभव से सरोवर का वर्णन लीजिए—

उसी वन मे था एक तडाग,
जहाँ उडता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे मे ज्यो हरे जडा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पडा।[4]

यदि इच्छा हो तो नरक की ओर भी दृष्टिपात कर लीजिए। युधिष्ठिर कह रहे है—

अब मुझे दीखते हैं, उडते व्यालो से बिखरे बाल कटे,
ये सडे गले चलते-फिरते कंकाल कराल, कपाल फटे।[5]

अधोलिखित पंक्तियो मे भीषण युद्धस्थल का वीभत्स दृश्य भी द्रष्टव्य है—

---

१ गुरु द्रोणाचार्य की
२ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० ४६
३ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १४
४ वन-वैभव, संस्करण संवत २००५, पृ० २१
५ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० ४३६

भर गई सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डो से,
रक्त के प्रवाह छूटे पान्ी की पुकार थी।
लाल-लाल भूमि सब ओर विकराल थी,

× × ×

कर्तित थी कन्धराएँ, नर्तित कबन्ध थे!
टूटे रथ आँते-सी बिखेर कर अगो की,
तडप रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को![1]

निष्प्राण को कही-कही सप्राणता भी प्रदान की गई है—निदर्शन-स्वरूप साकेत की 'कही सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी' आदि चिर-प्रशसित और बहु-उद्धृत पक्तिया द्रष्टव्य है। इतना ही नही अन्य कुशल अधुनातन कवियो के समान ही गुप्त जी ने अमूर्त और अरूप को भी आलम्बन के रूप मे ग्रहण किया है, यथा—

दुरदृष्ट, बता दे स्पष्ट मुझे—क्यो है अनिष्ट ही इष्ट तुझे?
तू है बिगाडता काम बना, रहता है बहुधा वाम बना।
प्रतिकार-समय तक दिये बिना, छिपकर कुछ अकधक किये बिना—
करता प्रहार तू यहाँ वहाँ, धोखा देता है जहाँ तहाँ।[2]

यहाँ चिर-अभिशसित अदृष्ट, जो कि अमूत है, को ही मूर्तिमन्त कर आलम्बन बनाया गया है। निम्न पक्तियो मे भी अरूप भाव को सरूप-रूप मे उपस्थित किया गया है—

प्रेम भूख नींद ही भुलाता हुआ आता है[3]

अथवा

जो सकोच घटता है परिचय होने से
हाय! वही बढता है मुझमे न जाने क्यो?[4]

प्रेम और सकोच दोनो ही अमूत है—किन्तु उनका चित्रण मूर्तवत् हुआ है। अस्तु!

हमारा विश्वास है कि आलोच्य कवि के आलम्बनगत वैविध्य को हृदयगम करने के लिए इतना विवेचन ही काफी है। उपयु द्धृत अवतरणो के पठन के

---

१ युद्ध, प्रथम सरकरण, पृ० ६
२ साकेत, सरकरण सवत २००५, पृ० ११७
३ सिद्धराज, तृतीय सरकरण, पृ० ६६
४ सिद्धराज, तृतीय ,, पृ० ६६

पश्चात् उसकी विस्तार ग्राहिणी प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

आलम्बन-चित्रण मे परिस्थिति का विधान

"हमारी परिस्थिति जीवन का आलम्बन है, अत उपचार से वह हमारे भावो का भी आलम्बन है।"[१] अभिप्राय इसका यह हुआ कि मात्र आलम्बन के रूप विन्यास से रस कोटि का भावोद्रेक सम्भव नही है। उसके लिए अपेक्षित है परिस्थिति का अकन ! और स्पष्ट शब्दो मे अपने आस-पास के चारो तरफ के वातावरण मे हो आलम्बन का प्रकृत स्वरूप प्रस्फुटित होता है—अन्यथा वह 'शून्य मे खडा' प्रतीत होता है। कुशल कवि आलम्बन और परिस्थिति के सश्लिष्ट चित्रण द्वारा बिंब-ग्रहण कराते है—किन्तु असमथ लेखक के केवल आलम्बन पर केन्द्रित रहने पर भी उसका सौन्दर्य अद्ध-व्यक्त ही रह जाता है।

प्रस्तुत कवि ने परिस्थिति का पूरा ध्यान रखा है। वह पार्श्ववर्ती दृश्यो के मध्य ही प्राय आलम्बन की प्रतिष्ठा करता है। प्रमाण-स्वरूप केवल दो उदाहरण पर्याप्त होगे—

> **पचवटी की छाया मे है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,**
> **उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर, वीर, निर्भीकमना।**
> **जाग रहा यह कौन धनुधर जब कि भुवन भर सोता है ?**
> **भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥**[२]

कैसा सरस चित्र है !—सरसता का कारण है आलम्बन और परिस्थिति दोनो का सश्लेषण। यदि यहाँ पचवटी (पाँच प्रकार के वृक्षो का समाहार) और उसकी छाया, पण-कुटीर तथा स्वच्छ शिला का निर्देश न होता तो चित्र अधूरा और नीरस होता—पाठक के प्रभावित होने का तो प्रश्न ही नही उठता। सचमुच परिस्थिति के योग ने आलम्बन को समृद्ध बना दिया है। योजन-गधा पर मुग्ध होते हुए महाराज शान्तनु और उनके चतुर्दिक् वातावरण का अकन भी देखिए—

> **गगा-तीर समान भाग्य से यमुना-तट भी उन्हे फला,**
> **लेकर दिव्य सुगन्धि एक दिन शीतल-मद समीर चला।**

---

१ रस-मीमासा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम सस्करण, पृ० १११

२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ६

चौंक पडे वे उसे सूँघ कर हुई ऊँघ-सी उनकी दूर,

× × ×

खिलती हुई कली-सी आगे दीख पडी योजनगधा,

हुआ निमेष मात्र मे उनका मोहित मनोमधुप अधा।[१]

शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर चल रहा हो, और सामने अर्द्धस्फुट-यौवन (खिलती हुई कली-सी) सुरभि बिखेरती हुई कामिनी हो तो एक शान्तनु क्या भला किसका मनोमधुप मोहान्ध नही हो जाएगा ! आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"उसी परिस्थिति मे—उसी ससार मे—उन्ही दृश्यो के बीच जिनमे हम रहते है, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का अधिक अनुभव करते है, जिससे साधारणीकरण पूरा-पूरा होता है ।"[२] प्रस्तुत प्रकरण मे शान्तनु को उन परिस्थितियो मे ही मुग्ध होते हुए देखकर जिनमे कोई भी प्राकृत (Normal) जन हो सकता है उनके साथ पाठक का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । यदि यहाँ वातावरण की पृष्ठभूमि न होती तो कदाचित् हम शान्तनु को कामुक, वासना-लिप्त आदि न जाने क्या-क्या कह जाते !—तादात्म्य तो असम्भव ही हो जाता ।

इस प्रकार आलम्बन के परिदशन मे परिस्थिति का चित्रण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है । सच तो यह है कि परिस्थिति-मुक्त आलम्बन का चित्र ही पूर्ण नही हो सकता । इस विषय मे प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र उचित ही कहते है—"परिस्थितियो के बीच मे आलम्बन का जो चित्र अकित किया जाता है वह पूर्ण हुआ करता है और पाठक या दशक ऐसे ही आलम्बन से तादात्म्य का अनुभव कर सकने मे समथ हो सकता है ।"[३]

उद्दीपनगत विविधता

"जो रति आदि स्थायी भावो को उद्दीपित करते है—उनकी आस्वाद-योग्यता बढाते है वे उद्दीपन विभाव है ।"[४] प्रत्येक रस के अपने पृथक् उद्दीपन हुआ करते है । उद्दीपन दो प्रकार के होते है—पात्रस्थ और बाह्य । पात्रस्थ के अन्तर्गत आती है पात्र की और स्पष्ट शब्दो मे आलम्बन की चेष्टाएँ तथा दूसरे मे आती है 'तदितर बाह्य परिस्थिति'। इस सबध मे यह भी ज्ञातव्य है कि—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २२

२ रस-मीमास, प्रथम ,, ,, १११

३ वाङ्मय-विमर्श, तृतीय सस्करण, पृ० १३५

४ काव्य-दर्पण प० रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृ० ५५

आलम्बनगत चेष्टाएँ तो सभी रसो मे हुआ करती है, पर बाह्य परिस्थितियो का उद्दीपन के रूप मे शृगार मे ही विधान दिखाई देता है। अन्य रसो मे भी ये परिस्थितियाँ थोडी बहुत लाई जा सकती है। पर काव्यो मे इनका उल्लेख बहुत कम पाया जाता है।"[१]

रसो के विवेचन मे आनुषगिक रूप से उद्दीपनगत वैविध्य और विस्तार भी देखा जा चुका है—क्योकि प्रत्येक रस के विभिन्न उद्दीपन हुआ करते है। यहाँ उन पर थोडा और विचार कर लिया जाए। पहले पात्रस्थ उद्दीपनो को लीजिए—

सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपाग ही उसने दिया।[२]

उर्मिला की चेष्टाओ का वर्णन है। उसकी 'गति, स्थिति आदि व्यापारो तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओ की विलक्षणता' से लक्ष्मण तो अभिभूत हो गए—उस अपाग मे कितना तीक्ष्ण आकर्षण रहा होगा! लक्षणकार इसे ('लीला' स्वभावज अलकार कहकर) अनुभाव मानेगे—किन्तु यह अनुभाव से अधिक उद्दीपन है तभी तो लक्ष्मण उसे (अपाग को) 'घाते मे कर' अपना प्राप्य (परिरम्भण) ले लेते है। निम्न पक्तियो मे वीर के उद्दीपन भी देखिये—

आगया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओ की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा।
बोला दूर से ही वह—"व्यर्थ होगा भागना!"

× × ×

राक्षस बहन को हटा के भिडा भीम से,
कौशल मे बल मे वे दोनो थे असीम-से।

× × ×

लड-लड जाते क्रुद्ध गडको से मुड थे,
टागें मारते थे मत्त वारणो के शुड थे।[३]

भीम और हिडिम्ब का घोर युद्ध है। हिडिम्ब का अतुल पराक्रम, उसकी प्रचण्डता और अपनी बहन हिडिम्बा को एक ओर धकेलना तथा 'व्यर्थ होगा भागना' से व्यजित पाडवो को धमकी आदि उद्दीपन है।

---

१ वाङ्मय-विमर्श प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, तृतीय सस्करण, पृ० १२४
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०
३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १८, २१, २३

एकान्त मे हँसते हुए सुन्दर रदो की पाति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वही,
हे आर्यपुत्र! विदीर्ण होता चित्त जान क्यो नही ॥[1]

करुण सिक्त इस पद्य मे आलम्बन है अभिमन्यु। उसका सौन्दर्य और 'धर चिबुक मम ' से व्यग्य उत्तरा के प्रति अतिशय प्रेम उद्दीपन है। निश्चय ही अभिमन्यु का अनिद्य सौन्दय और अतिशय पत्नी प्रेम अथवा अनुकूलपतित्व उत्तरा के शोक को द्विगुणित कर रहे है।

लक्ष्य करने की बात है कि पूर्वोल्लिखित तीनो उदाहरणो के उद्दीपनो मे पर्याप्त वैभिन्य है—वरन् कुछ भी साम्य नहीं। अन्य रसो के भी उदाहरण देकर इस बात को और विशद रूप मे सिद्ध किया जा सकता है।

उद्दीपन के रूप मे प्रकृति (परिस्थिति)

पात्रस्थ उद्दीपनो का ऊपर निरूपण हो चुका है। अब बहिगत के विवेचन की अपेक्षा है। बहिगत उद्दीपन से अभिप्रेत है पात्र इतर उद्दीपक पदार्थ। मै उन्हे प्रकृति कहता हूँ—मानवेतर सृष्टि को ही तो प्रकृति के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रकृति आलम्बन के रूप मे भी गृहीत होती है, आलोच्य कवि ने भी की है—किन्तु उसके काव्य मे वह अधिकाशत उद्दीपन रूप मे ही आई है। इस अध्याय के पूर्वोद्धृत अवतरणो मे अधिकाश उद्दीपन प्राकृतिक अथवा बाह्य ही हैं। सयोग शृगार के परस्थ उद्दीपन देखिए—

साँझ को ही रात हुई उनको गहन मे
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके
चमके वे नूपुरो की रुन झुन सुनके
सुन पडी राग की नई-सी टेक उनको
दीख पडी सुन्दरी समक्ष एक उनको
उत्थित वसुन्धरा से रत्नो की शलाका थी
किवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी।[2]

प्रहरी-रूप मे स्थित भीम के पास मानव-रूप-धारिणी हिडिम्बा के आगमन का वर्णन है। उसका अपना सौदय प्रभूत प्रभावशाली है। पर गहन कानतार की साझ जो अन्धकार और निस्तब्धता मे जनपद की रात्रि के ही समान होती

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृ० २३

२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० [illegible]

है तथा गगन-स्थित नक्षत्र सुंदर हिडिम्बा की मन्द्र-मधुर झंकार के मोहक प्रभाव को और भी घनीभूत कर देते हैं। लक्ष्मण भी 'ढलती रात' में अकेली शूर्पणखा को देखकर अत्यंत विस्मित हुए थे।[1] ये सब बहिर्गत उद्दीपन हैं।

कूक उठी है कोयल काली !
ओ मेरे वनमाली !
चक्कर काट रही है रह-रह, सुरभि मुग्ध मतवाली,
अम्बर ने गहरी छानी यह, भूपर दुगुनी ढाली ![2]

यहां बाह्य पदार्थ अथवा परिस्थिति वियोगिनी यशोधरा के विरह को उद्दीपित कर रही है।

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि बहिर्गत उद्दीपन शृंगार में ही मिला करते हैं। अन्य रसों में प्रायः उनका अभाव रहता है। हमारे कवि के बारे में भी यही सत्य है। फिर भी शृंगार-इतर रसों में बाह्य उद्दीपनों की योजना के दो चार उदाहरण मिल ही जाएँगे यथा—

तम के तन में कुछ घाव लगे से दिये दीख पडते थे,
दूरागत श्वान शृगाल-शब्द ही कानों में गडते थे।
दिन भी दुपहर में स्तब्ध, रात थी यह तो, गाढी गहरी,
× × ×
भीतर अबाध घुस गया चोर सा वह[3] जीवन का ज्वारी।
× × ×
हलचल होने से चौंक चौंककर इधर उधर जन जागे,
हक्के बक्के से—"कौन-कौन ?" कह जिधर बना उठ भागे।[4]

भयानक के इस चित्रण में भी प्राकृतिक परिस्थिति- टिमटिमाते हुए लघु-दीप- दूरागत श्वान शृगाल शब्द तथा निशा की निस्तब्ध प्रगाढता—बाह्य उद्दीपन ही है।

हड़प रहे थे स्यार गीध शव नोच के।[5]

इस पंक्ति में वीभत्स के बहिर्गत उद्दीपन का आलेखन है। और भी कुछ उदाहरण सुगमता से मिल सकते हैं।

---

१ पंचवटी
२ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृ० ६४
३ अश्वत्थामा
४ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० ४०५
५ युद्ध, प्रथम संस्करण, पृ० ६

कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्त जी के काव्य मे राशि-राशि उद्दीपन उपलब्ध है—वे पात्रस्थ भी है, और बाह्य भी। सब मे बडी बात यह है कि वे विभिन्न क्षेत्रो से गृहीत ह—सुन्दर भी हे, असुन्दर भी हे, सुखद हे और दुखद भी ह।

रसाभास

रस के साथ ही रसाभास पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। अनुचित प्रवृत्ति मूलक रस ही रसाभास के नाम से अभिहित किया जाता है अर्थात् अपात्र अथवा अनुपयुक्त पात्र के प्रति किसी भाव की परिणति ही रसाभास के रूप मे अभिशमित है। रस का काव्य की आत्मा मानने वाले आचाय के सामने जब नैतिकता अथवा औचित्य-अनौचित्य का सवाल आया तब उसने मानव मन के सभी अनैतिक और औचित्य रहित उद्वेलनो की परिव्यक्ति को रसाभास कहकर निन्दित ठहराया। स्पष्ट शब्दो मे अभिप्राय यह कि रसाभास अनुचित, अनैतिक और अनुपयुक्त सबधो ससर्गो पर आवृत है। अनौचित्य और अनैतिकता की सभी विचारक मनीषियो ने निन्दा की है—हमारा कवि भी इनका घोर शत्रु है। किन्तु जीवन मे तो इनका अनस्तित्व नही है! फलत व्यापक जीवन को अपने काव्य का विषय बनाने वाला कवि अनुचित और अनैतिक भाव तरगो से भी एकदम अछूता नही रह सकता। इसीलिए गुप्त जी के काव्य मे रसाभास के भी उदाहरण सहज उपलब्ध हे, जैसे—

हे अनुपम आनन्द मूर्ति, कृशतनु, सुकुमारी,
बलिहारी यह रुचिर रूप की राशि तुम्हारी!
क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी,
सुध-बुध जाती रही देखकर तुमको मेरी।
इन दृग्बाणो से बिद्ध यह मन मेरा जब से हुआ,
है खान-पान-शयनादि सब विष-समान तब से हुआ।[१]

सैरन्ध्री नामधारिणी द्रौपदी के प्रति कीचक के वचन है। साधारणत रस के सभी अवयव उपस्थित ह। द्रौपदी-कीचक आलम्बन-आश्रय हे। द्रौपदी का सौन्दय और सौकुमाय तथा एकान्त स्थान उद्दीपन हे। हर्ष, आवेग तथा 'क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी' से व्यग्य चिन्तन आदि सचारी हे। अनुभाव हे उक्त वचन तथा टकटकी लगाकर द्रौपदी को देखना आदि। किन्तु यह सब अनौचित्यपूर्ण है। परस्त्री के प्रति प्रेम-रूप अनैतिक काय हे

अतएव यह शृंगार रस न होकर उसका रसाभास है। दृढ शास्त्रीय दृष्टि से निरिन्द्रिय वनस्थली पर रति-विषयक आरोपण—

लेकर सुख की सास स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिंता से मुक्त हुई वह धनिका।[१]

—भी शृंगार रसाभास ही है। किन्तु ऐसे चित्रणों को अभिशंसनीय न मानकर कल्पना का वरदान ही समझना चाहिए।

शृंगार के ही समान अन्यान्य रसों के भी रसाभास होते हैं। पर साहित्य मे अधिकतर शृंगार, रौद्र और हास्य के भी रसाभास का आलेखन हुआ करता है। कहीं-कहीं वीर का रसाभास भी देखने को मिल जाएगा। किन्तु शेष की कल्पना ही असंगत है—सम्पूर्ण लक्ष्य साहित्य इस बात का प्रमाण है। मैथिलीशरण जी के काव्य से रौद्र और हास्य के रसाभास का एक एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड !

× × ×

चण्डि ! सुनकर ही जिसे, सातंक,
चुभि उठे सौ बिच्छुओं के डंक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प—
है तुषानल तो कमल-दल-तल्प !
जो द्विरसने ! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय विचार।

× × ×

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भूनकर पति-देह ![२]

यह बात एक पुत्र अपनी माता से कह रहा है।—भरत जैसा शीलवान् पुत्र अपनी जननी कैकेयी पर क्रुद्ध है। शास्त्राभ्यासियों के लिए रस परिपाक की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित होने पर भी वह अनुचित है, अशिष्ट है। पूज्या, श्रद्धास्पदा माता के प्रति प्रकट किया गया यह रोष अनैतिक है—'भरत से सुत' के लिए लज्जा की बात है। पापकर्मा कैकेयी की भी स्वपुत्र के द्वारा ऐसी

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १७३
२ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० १३६-१३७

अवहेलना अवाछनीय है। परिणामत उपर्युद्धृत पक्तियो मे रौद्र रसाभास है। हास्य रसाभास का निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

> **तुम्हारे भाई बेचारे,**
> **जुए मे जो सब कुछ हारे,**
> **विपिन मे दीन भाव धारे,**
> **भटकते हे मारे मारे।**
> **खबर लें उनकी चलो जरा,**
> **कि वन मे होगा हृदय हरा।**
> × × ×
> **विकट यह तीन टिकट किल के,**
> **हसा फिर खिल खिल कर खिलके।**[१]

दुर्योधन का मामा दुष्ट शकुनि तपस्वी, सहिष्णु और न्यायी पाण्डवो का उपहास करता है—उन पर व्यग्य करता है। और तब वह कुटिल तीन टिकट (दुर्योधन, कर्ण और शकुनि) अट्टहास करता है। किन्तु पाण्डु पुत्र उपहास के पात्र नही हे—उन्हे हास का आलम्बन बनाना अनुचित है। इसीलिए यहाँ हास्य रस नही है, उसका आभास है।

इस प्रकार गुप्त जी के अपने काव्य मे जीवन के अनन्त विस्तार मे से अनैतिक, अनुपयुक्त, अभिशसनीय और अवाछनीय परिस्थितिया भी गृहीत है, और रसाभास के अनेक उदाहरण प्राप्य है।

शास्त्रीय दृष्टि से भाव-कोटि

विभाव, अनुभाव और सचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है'—किन्तु जहाँ इनमे से किसी के अभाव अथवा अपूर्णता के कारण रस निष्पन्न नही होता वहाँ रस दशा के स्थान पर भाव-दशा मानी जाती हे। इस प्रकार शास्त्र मे अपुष्ट रस को ही भाव कहा गया है। पडित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य दर्पण मे लिखा है—"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि सचारी, देवता आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र-रति आदि स्थायी भावो को भाव कहते है।"[२] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का भी यही वक्तव्य है—

---

१ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३-४

२ द्वितीय सस्करण, पृ० ७०३

सचारिण प्रधानानि देवादिविषया रति ।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥[1]

इस विषय मे मुझे इतना ही निवेदन करना है कि 'देवादिविषया रति' के अन्तगत परिगणित—भगवद विषयक रति, सतति-विपयक रति, राज-विषयक रति, गुरु-विपयक रति, मातृ-भूमि-विपयक रति आदि—मे से कम से कम प्रथम दो मे रस-परिणति की क्षमता है। अत उन्हे क्रमश भक्ति रस और वत्सल रस मानकर मे उदाहृत भी कर चुका हूँ। आलोच्य कवि की रचनाओ से शेप मे से कुछ का निदशन यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा—

आया एक नवयुवक, उसने गुरु को किया प्रणाम

× × ×

पर विरक्ति से नही भक्ति से अपना ध्यान समेट,
रक्खी उसने गुरु-चरणो मे मजुल मधु की भेट ।[2]

अल्हड युवक वनचर एकलव्य और राजगुरु द्रोणाचाय की प्रथम भेट का उल्लेख है। नागरिक शिष्टाचार की कृत्रिमता से एकदम मुक्त! रस चवणा मे सक्षम न होने पर भी गुरु-विषयक रति का कैसा भोला—किन्तु मोहक चित्रण है। अधोलिखित पक्तियो मे महाकवि-विषयक रति भी दशनीय है—

तुलसी, यह दास कृताथ तभी—मुँह मे हो चाहे स्वण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि-कथा कहे ।[3]

यहाँ तुलसी और उनके अमर महाकाव्य रामचरितमानस के प्रति कवि के घनीभूत राग अथवा रति भाव की मधुर व्यजना है।—और,

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।"[4]

—आदि उनके बहु उद्धृत पद्य मे मात-भूमि-विपयक रति भाव परिव्यक्त है। प्रकृति-प्रेम को भी साधारणत प्रकृति-विपयक रति भाव ही माना जाता है। गुप्त साहित्य मे पचवटी, वन-वैभव तथा साकेत मे इसके उदाहरण देखे जा सकते है। अनेक पसगो मे उनमे से कई पहले ही उद्धृत किए जा चुके है—पुनरुद्धरण अनावश्यक है। पचवटी, सैरन्ध्री आदि रचनाओ मे उद्बुद्ध-

---

१ साहित्य दर्पण ३।२६०
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४३ ४४
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ११५
४ पद्य-प्रब ध, द्वितीय सस्करण, पृ० २६

मात्र रति स्थायी भी देखा जा सकता है। वीर की भाव-दशा का अकन भी देखिए—

कण था अटूट सार-धारा का प्रताप-सा,
× × ×
बात क्या युधिष्ठिर नकुल-सहदेव की ?
उनको डुबाकर न उसकी तरगो ने,
फेक दिया एक ओर दूर दारुखण्ड सा।
आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके ?
× × ×
रक्षा नही पा सके वे। किन्तु उन्हे उसने
मारा नही, कुन्ती को वचन जैसा था दिया।[1]

अतिम पक्ति पर आकर भाव-धारा को झटका लगता है। उसी के कारण वीर परिपुष्ट नही हो पाता—अपुष्ट रह जाता है। अत यहा रस न होकर वीर भाव है—अपुष्ट रस ही तो भाव होता है।

अब प्रधानतया अभिव्यजित व्यभिचारी भाव के भी दो उदाहरण लीजिए—

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यो व्यस्त है ?
इस समय पलपल मे मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो।
भगवान् मेरे शत्रुओ की सब दुराशाएँ दलो।[2]

यहाँ अर्जुन का हृदगत शका सचारी भाव ही मुख्यत प्रकट होने के कारण शास्त्रानुसार भाव-ध्वनि है। निम्न पद्य मे भी प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेद सचारी-रूप भाव-व्यजना है—

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धम-कम कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपचो से ऊपर
उठ पाँच पच ये कहाँ चले ?[3]

इस प्रकार मैथिलीशरण जी के काव्य मे भाव-दशा के असख्य उदाहरण विद्यमान है। निदर्शन-स्वरूप कुछ उपर्युद्धृत है। अन्यान्य स्थायी एव सचारी

१ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृ० ३०-३१
२ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० ३१
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४२६

भावो की भाव व्यजना से पूर्ण स्थल भी पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध है। उन सबके अवतरण की न अपेक्षा है और न वह रुचिकर ही होगा। इतने से ही भली-भाति अनुमान लगाया जा सकता है। भाव-दशा के साथ ही लक्षण-ग्रथो मे भावोदय आदि का भी जिकर हुआ करता है। हमारे कवि की रचनाओ मे उनका भी प्राचुय है। अपनी बात की पुष्टि के लिए सभी का एक एक उदाहरण प्रस्तुत करते है

भावोदय

गये लौट भी वे आवेगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उ हे पावेगे,
पर क्या गाते-गाते ?[१]

यहा प्रथम और द्वितीय पक्तियो म मति और तीसरी मे हर्ष की ध्वनि है—किन्तु अन्तिम पर आते ही उनका तिरोभाव और विषाद का उदय होता है। इस उदय मे ही अधिक चमत्कार होने से 'भावोदय' है।

भाव-शान्ति

"खडी है माँ बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी हतभागिनी यह,
अभी विषद त इसके तोड दूगा,
न रोको तुम, तभी मै शान्त हूँगा।
बने इस दस्युजा के दास है जो,
इसी से दे रहे बनवास है जो,
पिता हैं वे हमारे या—कहूँ क्या ?
कहो हे आय ! फिर भी चुप रहूँ क्या ?"
कहा प्रभु ने कि—"हाँ, बस चुप रहो तुम,
अरुन्तुद वाक्य कहते हो अहो ! तुम !"
जताते कोप किस पर हो, कहो तुम ?
सुनो, जो मै कहूँ, चचल न हो तुम।
मुझे जाता समझ कर आज वन को,
न यो कलुषित करो प्रेमान्ध मन को ![२] आदि।

---

१ यशोधरा, सरकरण सवत् २००७, पृ० ७५

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६१

राम-लक्ष्मण का वार्तालाप है। रोपाविष्ट अनुज को राम समझा रहे ह—क्रोध और उग्रता की शान्ति तथा शम का आविर्भाव हे। उपर्युक्त पक्तियो का सौदय क्रोध और उग्रता की शान्ति मे ही निहित है। अत यहाँ भावशान्ति है।

भावसन्धि

सम चमत्कारक दो भावो की योजना को भावसन्धि कहा जाता है। निम्न अवतरण मे दो तुल्य बल भावो का मणि काचन सयोग द्रष्टव्य है।

> **पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से।**
> **मे समथ हुआ सभी विष रह विरोग शरीर से।**
> **यदपि कृत्रिम रूप मे वह मातृभूमि समक्ष है,**
> **किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?**[1]

यहा मातृभूमि-विषयक रति और उसकी रक्षा का उत्साह इन समान चमत्कारी दो भावो के सम्मिलन से भावसन्धि की प्रतिष्ठा हुई है।

भावशबलता

> **धीरज धरूँ हे तात कैसे ? जल रहा मेरा हिया,**
> **क्या हो गया यह हाय ! सहसा दैव ने यह क्या किया।**
> **जो सवदा ही शून्य लगती आज हम सबको धरा,**
> **जो नाथ हीन अनाथ जग मे हो गई है उत्तरा,**
> **हूँ हेतु इसका मुख्य मै ही, हा ! मुझे धिक्कार है,**
> **मत 'धमराज' कहो मुझे, यह क्रूर जन भू-भार है॥**[2]

अभिमन्यु की मृत्यु पर युधिष्ठिर का आत्मोद्गार है। यहा क्रमश विपाद, वितक स्मृति, निर्वेद तथा शुक्ल जी द्वारा उद्भावित 'क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा'[3] का सयोजन हुआ है। एक के वाद एक कई भावो की योजना के कारण इस उद्धरण मे भावशबलता है। अस्तु !

अनुभाव-विधान

रस के विभिन्न अवयवो मे अनुभाव का भी परिगणन होता है। अनुभावो के द्वारा रस परिव्यक्त होता है या यह कहिए कि अनुभाव उद्बुद्ध स्थायी भाव का अनुभव कराते हे—"अनुभाव्यन्ते—अनुभवविषयीक्रियन्ते, रत्यादिस्थायि-

---

१ रग में भग, सस्करण सवत २००३, पृ० २६

२ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० २८-२९

३ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृ० ९८

भावा एभि इति अनुभावा ।"[१]

अनुभाव चार प्रकार के माने गए हे—१ कायिक, २ मानसिक, ३ आहार्य, ४ सात्त्विक। इन चारो प्रकारो मे स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग आदि सात्त्विक अनुभाव ही प्रमुख एव सर्वाधिक प्रभावशाली हे। मैथिलीशरण जी के काव्य से इनमे से दो एक क उदाहरण लीजिए

स्तम्भ

रानकदे आप न थी मानो इस लोक मे,
मानो एक मौन मूर्ति मंदिर मे बैठी थी,
होकर तटस्थ शोक और हष दोनो से।
व्यर्थ परिचारिकाएँ करती प्रतीक्षा थी,
वह इस जन्म की समाधि लिए बठी थी।[२]

पति मृत्यु से विषाद सकुल रानकदे का शरीर चेष्टाहीन हे—अग-सचालन एकदम अवरुद्ध है। कितना करुण नरल स्तम्भ चित्र है!

अश्रु

"क्या कर्त्तव्य यही हे भाई ?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य्य, आप के प्रति इस जन ने कब कब क्या कर्त्तव्य किया ?"
"प्यार किया हे तुमने केवल!" सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखे सफल सीप-सी भर आईं।।[३]

वन गमन का प्रसग है। राम, लक्ष्मण को साथ जाने से रोकना चाहते है। पर लक्ष्मण जाने के लिए कटिबद्ध हे। भावातिरेक से राम के नेत्र अश्रु-पूर्ण हो जाते है। सचमुच भ्रातृ भावजन्य इस आन द के आधिक्य की व्यजना के निमित्त अश्रु से अधिक सबल माध्यम और कोई नही हो सका था। प० बालकृष्ण भट्ट ने ठीक ही कहा था—"मनुष्य शरीर मे आसू भी गडे हुए खजाने के माफिक हे   हष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावो को प्रकट करने मे जब सब इन्द्रिया स्थगित होकर हार मान बैठती है, तब आँसू ही उन भावो को प्रकट करने मे सहायक होते है।"[४]

---

१ वाग्भटालकार, वाचस्पति प्रेस, चतुर्थ सस्करण, पृ० १८०
२ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ७१
३ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ४
४ आसू (निब ध) से

चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो रह गई हत उत्तरा।
सज्ञा-रहित तत्काल ही फि वह धरा पर गिर पडी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बडी ।।[१]

अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार श्रवण कर उत्तरा का हृदय धक् से बैठ जाता है। वह निश्चेष्ट हा जाती है मूर्च्छित हा जाती है। लीनता की यह चरमावस्था है। मगध म गौतम का आगमन सुनकर मोहाधिक्य के कारण यशोधरा की भी यही दशा हुई थी

मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज लो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मे पडी
प्यासी मरती हूँ, हाय इतना अभाग्य भी
भव मे किसी का हुआ? कोई कही ज्ञात है,
तो मुझे बता दे हा! बता दे हा! बता दे हा!

यह कहते-कहते भावावेश मे वह गिर पडी होगी ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है।

अलकाराभिधेय नायिकागत चेष्टाओ को भी आचार्यो ने अनुभाव ही कहा है। कि तु जैसा कि मै पहले निवेदन कर चुका हूँ वह अधिक सगत नही है। उनमे से अधिकाश तो वास्तव मे अनुभाव न होकर उद्दीपन ही है। फिर भी किलकिंचित्, मोट्टायित, विहृत, कुतूहल, आदि कुछ 'अलकारो' के अनुभावत्व से इन्कार नही किया जा सकता। किलकिचित् का एक उदाहरण लीजिए—

डाल के विजय-दृष्टि, साथ ही विनय से,
राना के समक्ष नत रानकदे हो गई।
दोनो के दृगो मे नीर, होठो पर हास्य था,
ओस भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि मे।[३]

प्रिय के लाभ के हर्ष से रानकदे मे एक साथ हास, लज्जा, रोदनाभास आदि प्रकट हो रहे है। इस सम्मिश्रण के कारण ही यहाँ किलकिचित् है।

सचारी-भाव

रस-चवणा मे सक्षम भाव स्थायी होते है—शेष सब अस्थायी। इन अस्थिर भावो को ही सचारी अथवा व्यभिचारी कहा जाता है। सचारी भाव अन्य

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० २१
२ यशोधरा सस्करण सवत् २००७, पृ० १२६
३ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ६५

(स्थायी) भावो को रसावस्था तक पहुँचाने मे सहायक तो होत हे, किन्तु स्वत रस-परिणति मे समथ नही होते । प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दो मे—"अस्थायी भाव वे है जो निरन्तर बने नही रहते, प्रत्युत समय समय पर जिनका उदय हुआ करता है और जो क्षणिक होते हे । यदि ये किसी स्थायी भाव के साथ दिखाई पडते हे तो उसके सहायक हो जाते है, और यदि स्वतन्त्र रूप मे भी आते हे तो थोडे ही समय के बाद मन से हट जाते हे ।"[१]

पहले ही निवेदन किया जा चुका हे कि सचारियो का सख्याबद्ध करना असम्भव हे—वे असख्य है । किन्तु लक्षणकारो ने उनकी सख्या तेतीस मानी है । उन तेतीस मे भी मरण, अपस्मार, व्याधि आदि कतिपय 'सचारी' तो भाव ही नही हे अर्थात् उनमे शारीरिक स्थलता का प्राधान्य हे । इस विषय मे आलोचक द्वय प० रामचन्द्र शुक्ल और प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के निम्न वाक्य द्रष्टव्य हे—

"जो तेतीस सचारी कहे गए है वे उपलक्षण मात्र ह, सचारी और भी हो सकते है ।"[२] (शुक्ल जी)

"सब सचारियो को भाव कहना उपलक्षण मात्र है ।"[३] (मिश्र जी)

हम इन दोनो बातो को एक साथ मानना चाहते है अर्थात् हमारी सम्मति मे न तो सचारियो की सख्या तेतीस है—और न ही शास्त्रोल्लिखित सभी सचारी वास्तव मे भाव ही हे । फिर भी लक्षण ग्रन्थो का सचारी विवेचन अनर्गल प्रलाप नही हे । उसमे बहुत कुछ सत्य और तथ्य है । शास्त्र वर्णित अधिकाश सचारी निश्चयात्मक रूप से शुद्ध सचारी है । आलोच्य कवि की रचनाओ से उनमे से अनेक के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हे

शका

क्षत्राणियो के अथ भी सबसे बडा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही ।

× × ×

अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर मे, प्रार्थना यह मानिए ।[४]

---

१ वाङ्मय-विमर्श, तृतीय सस्करण, पृ० १२६
२ रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृ० २१५-२१६
३ वाङ्मय-विमर्श, तृतीय सस्करण, पृ० १२८
४ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवाँ सस्करण, पृ० ६

उत्तरा चक्र-व्यूह-भेदन के निमित्त गमनोद्यत अभिमन्यु को रोकना चाहती है। उसकी उपर्युक्त पंक्तियों में शंका संचारी की व्यंजना है।

असूया

> "भेद ?"—दासी ने कहा सतर्क—
> "सवेरे दिखला देगा अंक।
> राजमाता होगी जब एक,
> दूसरी देखेगी अभिषेक ?"[1]

कैकेयी के राम और भरत में भेद पूछने पर मंथरा की यह उक्ति है। यहाँ मंथरा की असूया ध्वनित है। असूया साधारणतः बराबर के लोगों में हुआ करती है। किन्तु यहाँ दोनों पक्षों में आकाश-पाताल का अंतर है। कहाँ राजा भोज, और कहाँ गंगू तेली!—कहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम राम की माता कौशल्या—और कहाँ दासी मन्थरा। उसकी असूया का कारण है कैकेयी के प्रति अनन्य अनुराग जो तादात्म्य की सीमा तक पहुँच गया है। कैकेयी के अतिरिक्त और किसी का भी उत्कर्ष उसकी जलन का विषय है।

दैन्य

> उधर द्रौपदी का दुकूल जब तक न दुष्ट ने हरण किया,
> नारी ने नर से निराश हो नारायण का शरण लिया।
> "हा हृदयस्थ हरे! तुमको भी यदि अभीष्ट यह गति मेरी,
> तो फिर को ही क्या लज्जा, कहे और क्या मति मेरी ?"[2]

इस अवतरण में दैन्य अभिव्यंजित है।

व्रीडा

> पंचवटी की कुटी खोलकर
> खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!
> × × ×
> वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़ कर,
> गया चन्द्र पश्चिम की ओर,
> लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा
> लेने लगी अपूर्व हिलोर॥[3]

---

१ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० ३३

२ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० १३८

अन्तिम चरण मे लक्ष्मण की व्रीडा का अकन है । साधारणत स्त्रियो मे व्रीडा का प्रदर्शन किया जाता है यह ठीक भी है—लज्जा नारीणा भूषणम् । किन्तु पुरुषो मे उसका एकान्ताभाव नही है । 'प्रखर ज्योति की ज्वाला' शूर्पणखा के साथ सीता द्वारा देख जाने पर बिचारे लक्ष्मण का तो रग ही उड गया । लक्ष्मण की वह झेप सचमुच देखने लायक होगी ।

विषाद

> **भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो !**
> **हे पुण्यभूमि ! कहाँ गई है वह तुम्हारी श्री कहो ?**
> **अब कमल क्या जल तक नही सर-मध्य केवल पक है,**
> **वह राज-राज कुबेर अब हा ! रक का भी रक है ।।**[1]

इष्ट-हानि तथा असहायावस्था आदि के आलेखन द्वारा यहा विषाद की व्यजना है ।

उग्रता

> **सोने के कटोरो मे अफीम घुलने लगी ।**
> **देवीसिह को भी वह ठीकरे मे मिट्टी के**
> **भेजी गई देखते ही मानो सरदार से**
> **अब न सहा गया, रह गया मौन भी—**
> **"अधम अधर्मी, अकृतज्ञ अनाचारी रे,**
> **ऐसा अपमान !" कोडा खाके भला घोडा ज्यो—**
> **तडप, त्यो ठाकुर ने एक झटका दिया,**
> **टूट गये बन्धन तडाक, ।**[2]

अपमान एव दूषित व्यवहार जन्य उग्रता ध्वनित है । साकेत से—'मै निज अलिद मे खडी थी सखि, एक रात, आदि पूर्वोद्धृत पद्य मे स्मृति तथा प्रलय (अनुभाव) के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत—'मेरा सुधा सिन्धु मेरे सामने ही आज तो' आदि पक्तियो मे आवेग सचारी व्यजित है ।

शास्त्र मे अनुल्लिखित कतिपय सचारी

'दधि-मन्थन तरग निम रार रग विस्तार ।'[3] निश्चय ही मानव मन रूपी गम्भीर अम्बुनिधि मे अगणित भाव वीचिया उद्वेलित है । लक्षणकारो

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ८७

२ विकट भट चतुर्थावृत्ति, पृ० ६

३ प्रेम-प्रकाश शाह बरकत-उल्लाह पेमी

ने अनेक को परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—किन्तु बहुत सी भाव तरगो का अभी नामकरण भी नही हो पाया। वे अख्यात और अनाम, स्पष्ट शब्दो मे, शास्त्र बाह्य तरगे भी गुप्त जी के काव्य मे देखी जा सकती है

उदासीनता

कहा दासी ने धीरज त्याग—
"लगे इस मरे मुह मे आग।
मुझे क्या मै होती हूँ कौन ?
नही रहती हूँ फिर भी मौन ?"[१]

कैकेयी के धमकाने पर मथरा के वचन है। "मुझे क्या मै होती हूँ कौन ?' मे उदासीनता व्यग्य है। आचार्य शुक्ल ने 'मानस' के इसी स्थल—

हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती। नाहित मौन रहब दिन-राती ॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाडि अब होब कि रानी ॥

—की मार्मिक व्याख्या करते हुए उदासीन का वैभव दिखलाया है।[२]

उदासीनता की प्रभावशाली व्यजना की दृष्टि से यदि इन दोनो अवतरणो की तुलना करे तो निश्चय ही गुप्त जी की पक्तिया हल्की पडती है, फिर भी हमारे कवि की पूर्वोल्लिखित पक्तियो मे उदासीनता की व्यजना तो है ही।

चकपकाहट

अकस्मात किसी असम्भावित बात के हो जाने पर हमारे मन मे आश्चर्य से मिलते-जुलते जिस भाव का उदय होता है उसे 'कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह नाम दिया है।[३] पचवटी से इसका एक उदाहरण लीजिए—

मग्न हुए सौमित्र चित्र सम नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखे खोले तो यह क्या, अनुपम रूप, अलौकिक वेष !
चकाचौध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला
निस्सकोच खडी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला ![४]

लक्ष्मण ने कभी स्वप्न मे भी नही सोचा होगा कि ढलती रात मे कानन के एकान्त कोने मे इस प्रकार कोई रमणी आ सकती है। पर वह आ गई—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३८
२ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृ० ९२-९३
३ दे० गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृ० ९३
४ सस्करण सवत् २००३, पृ० १५

लक्ष्मण विचारे तो चकपका गए, चकित रह गए। यह घटना असम्भव तो नही है—किन्तु असम्भावित अवश्य है। इसीलिए इसमे चकपकाहट है अन्यथा अद्भुत की व्यजना होती।

सारल्य

सरलता भी शृगार, करुण और वत्सल का सचारी बनकर आ सकती है। नूरजहा के भोलेपन पर ही तो जहागीर मुग्ध हो गए थे दक्षिण अधोवतरण मे राहुल का भोलापन कैसे वात्सल्य को परिपोषित कर रहा है—

ओ माँ, आँगन मे फिरता था
कोई मेरे सग लगा,
आया ज्यो ही मै अलिन्द मे
छिपा, न जाने कहा भगा![१]

—और निम्न पक्तियो मे मातृ-प्रेम की पोषक सरलता की व्यजना का भी अवलोकन कीजिए—

बोली वे हँसकर—"रह तू' यह न हँसी मे भी कह तू।
तेरा स्वत्व भरत लेगा? वन मे तुझे भेज देगा?
वही भरत जो आता है, क्या तू मुझे डराता है?
लक्ष्मण! यह दादा तेरा,—धैर्य देखता है मेरा?"[२]

राम द्वारा वनवास का समाचार मिलने पर माता कौशल्या का यह उद्गार है। कैसा भोला सारल्य है!—कितना आकर्षक!! महाराज दशरथ की तीनो रानियो मे कौशल्या के प्रति जो हमारे मन मे अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धा, पूज्य बुद्धि और अपनत्व है, उसका एक कारण जहाँ राम की माता होना है, वहाँ दूसरा मुख्य कारण उनका सुग्धसरल भोलापन ही है।

विदग्धता

"अधिक असुविधा तो आपको नही यहाँ?"
"धन्यवाद! जो-जो मुझे प्राप्य सो सभी तो है,
दुलभ है और कही ऐसी सहृदयता।"
ऐसा ह्रद एक सुना मैने आपके यहाँ
जो भी गिरे उसमे सलौना बन जाता है।
अद्भुत है!" राजा मुसकाया और बोला "हाँ"

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ५०

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ७८

"मधुर रहेगी तू वहाँ भी !" कहा भट ने।
"निस्सदेह ?" अर्णोराज बोला !'

कॉचनदे, अर्णोराज तथा काकभट के इस मधुरालाप की अन्तिम पक्तियो मे विदग्धता की व्यजना है। इस विदग्धता को रति का सचारी मान सकते है।

नैराश्य

" तो भी गुण कर्म से
तुझको महान मानने जो विश्व बाध्य है।
× × ×
किन्तु क्षमा होती कही दानि तेरे दड मे,
तो इस प्रचण्ड वर का भी यत्न तू ही था।
पूरक है तेरा एक यहाँ युधिष्ठिर ही।"
वृद्ध मुसकाए फिर बोले आह भरके—
"राम और भरत सदा ही नही मिलते।
जान लिया मैने अब प्रेम नही होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके।,'

अपने सदैव दोषी किन्तु सम्प्रति क्षमा-प्रार्थी कर्ण से बाण-शय्या-शायी भीष्म पितामह यह बात कह रहे है। यहाँ कुल के क्षय का घोर विषाद तो है ही पर साथ ही निराशा भी ध्वनित है। 'राम और भरत सदा ही नही मिलते। जान लिया मैने अब प्रेम नही होन का।'—इस पक्ति मे विषाद से अधिक नैराश्य की झलक है।

साराश यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य मे परम्परा-प्रसिद्ध ही नही अनेक अपरिगणित सचारी भी मिलते हैं।

निष्कर्ष

मैथिलीशरण जी के काव्य मे सभी रसो एव मूल अथवा प्रधान भावो का निरूपण किया जा चुका है। प्रधान ही नही सचारी नामधारी सम्पूर्ण गौण भाव भी उनके काव्य मे जगमगा रहे है। कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किए जा चुके है—शेष को भी सहज ही उदाहृत किया जा सकता है। अनपेक्षित समझकर मैने उन्हे छोड दिया है। इस विषय मे यह उल्लेखनीय है कि शास्त्र मे उक्त ही नही कतिपय अनुक्त सचारी भी गृहीत है। बहुत से तो ऐसे भी होगे जिन्हे (किसी प्रकार के लक्षण आदि के अभाव मे) हम पकड ही नही पाए।

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ९६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण पृ० ६३८

इसी प्रकार रसाभास और भाव कोटि आदि के भी अनेक उदाहरण आलोच्य कवि की रचनाओ मे प्राप्त है । साथ ही आलम्बनगत वैविध्य और उद्दीपनगत वैभिन्न्य तथा अनुभावयोजना-कौशल पर भी सम्यक् रूपेण दृष्टिपात किया जा चुका है । आलम्बन तो कवि की दृष्टि मे परिस्थिति सहित ही आते है, उसमें पृथक् नहीं ।—और परिस्थिति के चित्रण मे उसकी सार-ग्राहिणी प्रतिभा कुशलता से आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करती है । अनुभाव-विधान मे सामान्यतः कुछ उल्लेख्य नही है, लेकिन सभी रसों एव भावो के उपयुक्त अनुभावो का निरूपण ही कवि की सफलता है ।

पूर्व-विवेचन एव परिदर्शन के पश्चात् पूर्ण विश्वास एवं अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि हमारे कवि का भावक्षेत्र अत्यन्त विशद, विलास एवं व्यापक है । शृंगार, वीर, शान्त, करुण और भक्ति रस कवि को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है—इनसे सिंचित राशि-राशि स्थल बिना प्रयास ही लभ्य है । देखा जाए तो आलम्बनो मे भी इन्हीं रसो के आलम्बनो का विशेष मनोयोग से चित्रण हुआ है जो पाठक के मन पर चिरस्थाया कोमल-करुण प्रभाव छोड़ जाता है । वस्तुतः अन्य रसान्तर्गत आलम्बन तो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न आलोच्य कवि को सहज-ग्राह्य ही नहीं है । रसाभास भी अनौचित्यपूर्ण होने के कारण उसे स्वभावतः सह्य नही है, फिर भी जीवन की पूर्णता का चित्रण करनेवाला इनका त्याग नही कर सकता । इनके भी प्रसंगप्राप्त दो-दो चार-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाना कठिन नही है ।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि के भावक्षेत्र का अपरिमित विस्तार पाठक को विस्मय-विमुग्ध करने वाला, उसकी प्रतिभा के व्यापकत्व एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रमने की उसकी अद्भुत शक्ति का परिचायक है ।

(ख) प्रबलता, सूक्ष्मता, और संवेदनीयता

प्रबलता और सूक्ष्मता

कवि के भावक्षेत्र का विस्तार देखा जा चुका है । आलम्बन और उद्दीपनगत वैविध्य का परिदर्शन भी कर चुके हैं । हम देखते है कि मैथिलीशरण जी प्रिय और अप्रिय, व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत सभी को अपने काव्य का विषय बनाते

है। यह उनकी बहुत बडी विशेषता है। कोलरिज तो इसे प्रतिभा का एक लक्षण ही मानते है।[१] फिर भी केवल वैविध्य विस्तार अपने आप मे विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। प्रबलता, तीव्रता, गहराई, सूक्ष्मता आदि भी अपेक्षित है।—इनके अभाव मे विविधता एव विस्तीर्णता निरर्थक एव निष्प्रयोजन है। क्योकि साहित्य 'जीवन के विशिष्ट क्षणो' की—उन वरद क्षणो की रचना है जब कवि आवेशाविष्ट तथा किसी भाव विशेष की गहराइयो मे निमग्न होता है। गहन अनुभूति ही तो काव्य की उद्भावक है। तुलसीदास की भावुकता का विश्लेषण करते हुए इसीलिए शुक्ल जी ने कहा है—"भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकृत करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावो मे पूरी गहराई या तीव्रता भी है।"[२] गुप्त जी मे ये दोनो गुण विद्यमान है—अपरिमित विस्तार के साथ-साथ उनके भावो मे चिर प्रभावक्षम सूक्ष्मता और प्रबलता भी है। यो तो रस-निरूपण मे प्रकारान्तर से प्रबलता एव गहनता का तथा सचारियो की विवेचना मे सूक्ष्मता का निदर्शन भी प्रस्तुत किया जा चुका है, फिर भी यहा उन पर थोडा और विचार कर लिया जाए।

पहले प्रबलता को लीजिए। गुप्त जी स्वभाव से अत्यन्त सवेदनशील है। यह सवेदनशीलता ही भावना को शक्ति प्रदान करती है। कुछ प्रसग लेकर बात को स्पष्ट करते है—

चला गया लो, चला गया हो,
चला गया सो पुण्यश्लोक,
ओ विक्षिप्त मनुज, अब तुम सब
हर्ष मनाओ चाहे शोक।
अन्तरिक्ष आहे भरता है,
धरती आज कराह रही,
हा! मनुष्य से ही मनुष्यता
हटकर बचना चाह रही![३]

---

१ A second promise of genius is the choice of subjects very remote from the private interests and circumstances of the writer himself

Writers on writing Walter Allen
Edition 1948, Page 41

२ गोस्वामी तुलसीदास, सस्करण सवत् २००३, पृ० ७४

३ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ११

ये पंक्तियाँ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के निधन से शोक संकुल कवि के करुणोच्छ्वास 'अंजलि और अर्घ्य' से अवतरित है। गांधी जी सच्चे अर्थों में राष्ट्र के पिता थे। किस देशभक्त को उनकी मृत्यु पर दुःख नहीं हुआ? हमारा कवि तो उनका चिरभक्त है। रेडियो द्वारा यह दुखद समाचार सुनते ही उसे तो मानो काठ मार गया—गहन शोक से अभिभूत वह 'अरे राम?' कहते-कहते स्तब्ध हो गया।"[1] वह हार्दिक शोक ही यहां उद्वेलित है। निम्न दोहे में राम-भक्ति की तीव्र-गहन अनन्यता भी द्रष्टव्य है—

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझपर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥[2]

राम के प्रति तुलसी की चिरप्रशंसित अद्भुत अनन्यता से इसका संतोलन कीजिए।

यह तो हुई स्वानुभूत अर्थात व्यक्तिगत राग विराग की बात। किन्तु कवि का आत्म जनसाधारण की अपेक्षा विशद एवं विशाल हुआ करता है, उसमें परस्थ भावनाओं को आत्मवत् अनुभव करने की शक्ति होती है। साधारणतः, वे ही तो काव्य प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत अनुभव के बिना ही भाव ग्रहण में, तद्वत अनुभूति में समर्थ हों।[3] कहते हैं सभी कवियों के अंतस् में एक विरहिणी निवास करती है। गुप्त जी के विषय में भी यही सत्य है। उर्मिला और यशोधरा के रूप में उनकी हृदयस्थ वियोगिनी ही प्रकट हुई है।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?[4]

—आदि प्रगीत में पूर्वोक्त विरहिणी का ही सघन और तीव्र उच्छ्वास है। कवि का अपना जन्मजात पौरुष विरहिणी के नारीत्व में विलीन हो जाता है। वह इतना तल्लीन होता है कि यशोधरा में और उसमें कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता। कवि का यशोधरामय हृदय फूट उठता है—

---

१ अजलि और अ र्घ का 'निवेदन'

२ द्वापर का गीता प्रसग

3 The poetic gifts are generally found in men who can realize what they portray without actually experiencing it
The Principles of Criticism W B Worsfold
Edition 1923, page 169

४ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृ० २४

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गव अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा,
रहें स्मरण ही आते ![1]

विरह और विरहज न विषाद कितना तीव्र है ! यह तीव्रता ही कवि और अकवि का निणय करानी है। उर्मिला की उक्तियो मे और भी अधिक तीव्रता है—

मेरे उपवन मे हरिण, आज वनचारी
मे बाँध न लूगी तुम्हे, तजो भय भारी।[2]

नव परिणीता वधू उर्मिला का अपने पति लक्ष्मण के प्रति यह कथन है। कैसा करुण मधुर उपालम्भ है। हम समझते है कि ऐसी पक्तियो के प्रणयन-काल मे कवि या तो स्वय उर्मिला बन गया है या फिर उर्मिला ही उसके अन्तस् मे आ बैठी है।—यही तो भावयोग है। इसी के प्रताप से उत्तरा के शोक मे प्रबलता आ सकी है। उमसे कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती है—

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा सवाद पाकर विष भरा,
चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो रह गई हत उत्तरा !
सज्ञा-रहित तत्काल ही वह फिर धरा पर गिर पडी,
उस काल मूर्छा भी अहो ! हितकर हुई उसको बडी
कुछ देर तक दुदव ने रहने न दी यह भी दशा

तब तपन नामक नरक से भी यातना पाकर कडी
विक्षिप्त-सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पडी
× × ×
प्राणेश-शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,
वह नव-वधू फिर गिर पडी "हा नाथ ! हा !" कहती हुई ॥[3]

शोक की कैसी प्रबल व्यजना है ! अन्तर्प्रेरणा क अभाव मे केवल शास्त्र-परिगणित अनुभावा और सचारियो के एकत्रीकरण मे इतनी शक्ति कहाँ ? प्रबलता की इसमे भी अधिक सघनता देखनी हो तो यशोधरा की निम्न उक्ति

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० २५
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६३
३ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवाँ सस्करण, पृ० २१

का पाठ कीजिए—

जहाँ जाने से जगत मे
कोई मुझे रोक नही सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मै आप इच्छा रहते हुए
जाने नही पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मै ? छान डालती धरित्री को।
सिहनी-सी काननो मे, योगिनी-सी शैलो मे,
शफरी-सी जल मे विहगिनी सी व्योम मे,
जाती तभी और उन्हे खोज कर लाती मै।
× × ×
हाय इतना अभाग्य भी
भव मे किसी का हुआ ? कोई कही ज्ञात है,
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा ![1]

पाठक को झकझोड डालनेवाला घनीभूत प्राबल्य है !—मानो कोई महानद गभीर नाद करता हुआ प्रबल वेग से बह रहा हो—ऐसे वेग मे जिसमे सब कुछ आत्मसात् कर लेने की क्षमता तो हो पर इधर-उधर देखने का, वीचि-विलास का अवकाश न हो। यशोधरा के व्यक्तित्व की यह प्रबलता ही उसे उर्मिला से अलग करती है। यशोधरा और उर्मिला मे प्रकृतिगत अन्तर है एक प्रबल है तो दूसरी तीव्र !—किन्तु दोनो का चरित्र ही अपने आप मे आकर्षक है।

उपर्युक्त स्थलो के अतिरिक्त भरत की ग्लानि (साकेत), गौतम का निर्वेद (यशोधरा), शची का रोष (नहुष), ठकुरानी का शोक (विकट भट), यशोदा का वात्सल्य (द्वापर), यशोधरा का वात्सल्य (यशोधरा), गौतम के आगमन पर यशोधरा का मान (यशोधरा), चित्रकूट-सभा मे कैकेयी का पश्चात्ताप (साकेत) तथा कौरव पाण्डव-युद्ध (जय भारत) आदि की तीव्रता, प्रबलता एव गहराई की दृष्टि से विशेषत अवलोकनीय है। तीक्ष्ण तीव्रता, अप्रतिबद्ध प्रबलता और गभीर गहनता-सम्पन्न ऐसे और इतने स्थल साधारणत किसी एक कवि की रचनाओ मे मिलना दुष्कर है। यह गुप्त जी की भावुकता का वरदान है।

किन्तु उनमे सूक्ष्मता नही है। सूक्ष्मता के इस अभाव के लिए उनकी अतिशय

---

१ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृ० १२५-१२६

भावुकता ही उत्तरदायी है। वास्तव मे सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रबलता प्राय एक साथ नही मिला करते। मीरा के काव्य मे तीव्रता है पर सूक्ष्मता नही। इसके विपरीत पन्त जी की कविताओ मे सूक्ष्मता तो है—किन्तु प्रबलता का प्रभाव है। गुप्तजी के विषय मे भी यह बात सोलह आने सही है, फिर भी उनके काव्य मे सूक्ष्मता का सर्वथा अभाव ही हो सो बात नही है। जीवन और जगत् के प्रबुद्ध पारखी की रचनाओ मे उसका अत्यन्ताभाव सभव ही नही है। ऊपर यशोधरा और उर्मिला के प्रकृतिगत अन्तर की ओर सकेत किया जा चुका है। यद्यपि दोनो सम्भ्रान्त कुल की वियोगिनिया है—दोनो को पति-वियोग की दु सह व्यथा सहन करनी पड रही है, फिर भी वे कितनी पृथक् है।—उनमे शील-वैभिन्य है। शील दशा को पहुँचे हुए इन भावो की व्यजना कवि ने दोनो के चरित्र मे आरम्भ से अन्त तक की है। यह उसकी सूक्ष्म ग्राहिणी प्रतिभा की ही द्योतक है। दो-एक प्रसग और लीजिए। कौशल्या और सीता देवार्चन की सामग्री सजो रही है।[1] 'पवित्रता मे पगी हुई' सद्य स्नाता 'कौशल्या कोमल-काया' बैठी हुई है, और सीता—

> **"माँ! क्या लाऊ?" कह कह कर—पूछ रही थी रह रह कर।**
> **सास चाहती थी जब जो,—देती थी उनको सब सो।**
> **कभी आरती, धूप कभी, सजती थी सामान सभी।'[2]**

सद्गृहस्थी का उज्ज्वल एव आदर्श चित्र है।—सास बहू के आधुनिक वैमनस्य से इसकी तुलना कीजिए। आरती का सामान सज ही रहा था कि राम भी अनुज सहित वहा पहुँच जाते है। मा उन्हे देखते ही, प्रणाम की प्रतीक्षा किए बिना ही—आशीर्वाद देने लगती है। कौशल्या की निस्स्वार्थता अथवा अहकार शून्यता की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक था—क्योकि प्रणाम की प्रतीक्षा भी तो अह की ही द्योतक है। खैर, माँ तो आशीर्वाद मे व्यस्त थी, किन्तु—

> **हँस सीता कुछ सकुचाई आखें तिरछी हो आई।**
> **लज्जा ने घूघट काढा—मुख का रग किया गाढा।[3]**

शास्त्राभ्यासी यहाँ व्रीडा सचारी और किलकिंचित् भाव की खोज करेंगे। किन्तु इसमे कुछ ऐसी बात है जिसे उन दोनो के कटघरे मे बन्द नही किया जा सकता। क्योकि उक्त पक्तियो मे परिव्यक्त 'मधुर सकोच' का कारण केवल

---

१ साकेत, चतुर्थ सग

२ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० ७२

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ७३

रति नही है वरन् रति से भी अधिक मर्यादा है। इसीलिए तो सीता के अभ्यस्त हाथ घूघट काढ़ लेते है। रति और मर्यादा-जन्य इस संकोच की व्यजना का अवसर भी कवि ने उपयुक्त ही ढूढ़ा है। यदि मन्द हास, सकुचाना, नेत्र-वक्रता, घूंघट काढना आदि ये ही व्यापार इस समय और स्थान पर न दिखाकर कही और, मान लीजिए वन मे जाते हुए पथ में अथवा वन मे, दिखाए जाते तो अमर्यादित माने जाते। मर्यादा-मण्डित इस मनोहर व्यक्तित्व के विपरीत है शूर्पणखा का निर्लज्जता-कलुषित चरित्र। देखिए वह स्वयं दूतिका किस प्रकार लक्ष्मण के समक्ष अपना कुत्सित प्रस्ताव रखती है—

अरे, कौन है, वार न देगी जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हा हा! करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम एक और अवसर दो दानि ?"[1]

लक्षणकारो ने व्रीड़ा को सचारियो में परिगणित किया है, निर्लज्जता को नही। यहाँ वही प्रमुख है और उसके लिए पात्र भी सर्वथा उपयुक्त—राक्षसी शूर्पणखा है। उसके अतिरिक्त और किसका इतना साहस हो सकता है कि ढलती रात मे अकेले ही जगल मे घूमती फिरे तथा पर-पुरुष से ऐसा प्रस्ताव करे। पात्र और परिस्थिति का ऐसा सुष्ठु सयोग अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टिसम्पन्न कवियों के द्वारा ही सम्भव है। उर्मिला के विरह-वर्णन में तो कवि और अधिक सूक्ष्मता तक पहुँचा है। वियोगिनी उर्मिला की अर्द्धविस्मृति का सूक्ष्म-तारल्य दर्शनीय है—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ।'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ।'[2]

विरह-मूढ़ उर्मिला को जब कभी अवधि विस्मृत हो जाती है तो वह प्रियतम का आकुल आह्वान करती है—किन्तु स्वप्न में भी यदि वे अपने पास दिखाई दे जाते हैं तो वह चौककर उठती है और उन्हें जाने के लिए कहती है। जिसके लिए मर रही है उसी को जाने के लिए क्यो कह देती ? डा० सहल तो 'आओ' और 'जाओ' को क्रमशः काम और लज्जा के द्योतक मानकर उसे मध्या नायिका कहना चाहते है।[3] बल्कि उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करने से पूर्व उन्होने स्पष्ट ही लिखा है—"निम्नलिखित छन्द में मध्या नायिका की भाँति उर्मिला का

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृ० २१
२. साकेत, सस्करण संवत् २००५, पृ० १६५
३. दे० साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृ० ५

चित्रण कवि ने किया है।"[१] किन्तु हम गुप्त जी के काव्य का अध्ययन करते समय मुग्धा मध्या-प्रौढा आदि से प्रपच म न पडने का अनुरोध करते है। सचमुच वह कवि और उसकी कामना के प्रति अन्याय होगा।

'आओ' और 'जाओ' की बात चल रही थी। उर्मिला 'जाओ' कहती है मर्यादा-भग की आशका से—इसलिए कि अभी चौदह वर्ष पूरे नही हुए। उसे अवधि की पूर्ति से पहले स्वप्न मे भी प्रिय का आगमन असह्य है। यदि ऐसा न होता तो उर्मिला और शूर्पणखा मे अन्तर ही क्या रह जाता? निश्चय ही पूर्वोल्लिखित अव-विस्मृत का चित्रण उर्मिला के मध्या-रूप के पुरस्कार के लिए नही वरन् श्रेय के निमित्त प्रेय के बलिदान के लिए हुआ है।

मथरा-कैकेयी सवाद म भी सूक्ष्मता देखी जा सकती है। किन्तु वह पूर्ववर्ती कवियो—वाल्मीकि और तुलसी से ज्यो की त्यो गृहीत है। फिर भी उसका सफल निर्वाह स्तुत्य ही है—क्योकि सूक्ष्मता का अनुसरण भी तो दुष्कर है।—और दो-एक स्थलो पर कवि का हास्य तो काफी सूक्ष्म हो गया है। शब्द लिंग पर आधृत लक्ष्मण-उर्मिला का सूक्ष्म परिहास देखिए—

> उर्मिला बोली—"अजी, तुम जग गये?
> स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?"
> "मोहिनी ने मन्त्र पढ जब से छुआ,
> जागरण रुचिकर तुम्हे जब से हुआ।"[२]

किसी कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा के मूल्याकन का एक और उपाय है। जिस कवि मे सूक्ष्म-निरीक्षण की जितनी अधिक शक्ति होगी उसके काव्य मे उतने ही अधिक सचारी—परम्परा प्रसिद्ध मोटे-मोटे सचारी नही वरन् शास्त्र मे अनुल्लिखित छोटे छोटे सूक्ष्म भाव—मिलेगे। प्रस्तुत कवि के काव्य से ऐसे कुछ छोटे-छोटे अप्रसिद्ध सचारियो को उदाहृत किया जा चुका है। यहाँ दो उदाहरण और प्रस्तुत करते है—

> किन्तु जगद्देव नत मस्तक खडा रहा
> मानो कुछ सोचता था, बोला कुछ देर मे—
> "सचमुच महाराज, आज महाकाल ने
> आपको प्रसाद दिया, इच्छा यही देवी की
> भय से पराजय न मानूँ किन्तु आपके

---

१ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृ० ५

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ८१

वीरोचित विनय-विवेक व्यवहार से
हार मानता हूँ और होता हूँ अधीन मैं।"[1]

शायद यहा मति की व्यजना बताई जाएगी। लेकिन यह ठीक नही है। वस्तुत इस अवतरण मे जयसिह की उदारता पर मोहित वीर जगद्देव की कृतज्ञता व्यग्य है। अब शास्त्र मे उसका उल्लेख हो या न हो—किन्तु जीवन मे तो उसके अस्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता। गुहराज के निम्न वचनो का अपूर्व मार्दव भी दर्शनीय है—

मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड सकते है, चारु चरण ये, पर कहाँ
आ सकती है, बार-बार माँ जानकी।
कुलदेवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे, भूले नही मुझे आह्लाद वे,
मिथिलापुर के राजभोग है याद वे।
पेट भरा था किन्तु भूख तब भी रही!
एक ग्रास मे तृप्त न कर दूँ तो सही।[2]

परम्परागत किसी भी व्यभिचारी की स्थिति यहा नही है। किन्तु सौजन्य या विनम्रता जसे किसी कोमल सचारी की सहज ही कल्पना की जा सकती है। वास्तव मे, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है, जब उग्रता को सचारी माना जाता है तो उसके प्रतियोगी सौजन्य या विनय की गणना भी सचारियो मे की जानी चाहिए।[3] गुहराज की इस उक्ति मे उसी की व्यजना है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य मे सूक्ष्मता भी मिल सकती है। किन्तु ऐसे प्रसग कम है—अन्य महाकवियो की तुलना मे बहुत कम है। वास्तव मे वे प्रबलता के कवि है—सूक्ष्मता के नही।—और जैसा कि मै पहले भी निवेदन कर चुका हूँ ये दोनो गुण प्राय एक साथ नही मिला करते। इन दोनो का गरिमा-शालीन समन्वय तो किसी एकाध कविपुगव मे ही देखने मे आता है। हिन्दी मे तुलसीदास के बाद प्रसाद ही उसके अधिकारी हुए है। निश्चित रूप से हमारे कवि मे वह बात नही है। भाव प्रबलता की दृष्टि से तो वह प्रथम कोटि का ही कवि ठहरता है प्रसाद से किसी प्रकार

१ सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृ० ४७-४८
२ साकेत, संस्करण सवत २००५, पृ० ८७
३ दे०, रस-मीमासा, प्रथम संस्करण, पृ० २२०

भी कम नही। किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से मैथिलीशरण उनकी स्पर्धा नही कर सकते।

सवेदनीयता

यह काव्य का सबसे पहला और अनिवार्य उपबन्ध है। उसका तो सारा प्रपच ही सवेदनीयता को लेकर रचा गया है। अपने भावो, अनुभूति अथवा मनोदशा को सवेद्य बनाना—पाठक को भी उसी मे ले आना—कवि-कर्म का प्रमुख अग है। उसे अपनी अनुभूति को सहृदय सवेद्य बनाना ही पडेगा। किन्तु प्रेषणीयता-सम्पादन का यह कार्य सुनिश्चित और सुमयोजित नही हुआ करता। सवेदनीयता तो अनुभूति की सुष्ठु व्यजना मे अन्तर्निहित रहती है। काव्य के लिए अनिवार्य होते हुए भी अनुभूति से पृथक् इसकी कोई सत्ता नही है। जब इसे पृथक् माना जाने लगता है तब जैसा कि रिचर्ड्स कहते हैं, यह काव्य के लिए घातक सिद्ध होती है।[१] अस्तु।

सवेदनीयता के निमित्त सबसे पहले कवि के भावो मे प्राबल्य की अपेक्षा है। हमारे कवि मे पर्याप्त प्रबलता है, यह अभी देख चुके है। पुनरावृत्ति अनावश्यक है। दूसरी अपेक्षित शक्ति है सहृदय को बिम्ब ग्रहण कराने की। इस विषय का विस्तृत विवेचन तो कलापक्ष पर विचार करते समय किया जाएगा—किन्तु यहा भी विहगम दृष्टि डालना अनुचित नही होगा। काव्यकार अपने मानस मे उद्भूत रूप अथवा भावकल्पना को सहृदय तक यथावत पहुँचाने के लिए एक बिम्ब खडा करता है। वह बिम्ब ही पाठक मे अभिलषित भाव जगाता है। भावना के प्रेषक अथवा भाव-प्रेषण मे सहायक बिम्ब भी मूल-स्रोत की दृष्टि से कई प्रकार के हो सकते है—उनका चयन प्रकृति से हो सकता है, मानव जीवन से हो सकता है या फिर परिचित और प्रख्यात पुस्तको, कथाओ आदि के द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जा सकता है। प्रस्तुत कवि को प्रकृत बिम्ब अधिक प्रिय है। यद्यपि आलम्बन रूप मे उसने प्रकृति चित्रण बहुत कम किया है, फिर भी उसके काव्य मे अधिकाश अप्रस्तुत प्रकृत जीवन से गृहीत है।—और उनके द्वारा प्रस्तुत को सवेद्य बनाने मे उसे काफी सफलता भी मिली है। केवल दो उदाहरण दिए जाते है—

---

१ If he (artist) considered the communicative side as a separate issue would be fatal in most serious work

Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, Page 27

किन्तु कुछ चिन्तित से दीखते हो तुम क्यो ?
भाराक्रान्त तुहिन-कणो से भी कुसुम ज्यो ।[१]

कवि पाठक के मानस पटल पर चिन्ता-सकुल व्यक्ति अंकित करना चाहता है—वही उसकी अपनी चेतना पर भी अधिकृत है। पर 'चिन्तित से दीखते हो तुम क्यो' से तो लक्ष्य-सिद्धि नही होती—पाठक के मन पर अभिप्रेत प्रभाव नही पडता। अत कवि उसे स्पष्ट करने के लिए, हृदयगम कराने के लिए तुहिन कणो से भाराक्रात कुसुम का चित्र उपस्थित करता है। कैसा जाना-पहचाना और अनुभूत बिम्ब उपस्थित किया गया है। इसके द्वारा कवि पाठक की चेतना को प्रभावित कर अपने अनुभव को वहा पहुँचाने मे समर्थ हो सका है। अर्थात चिन्तित व्यक्ति की उसके अपने मन मे जो मूर्ति घूम रही थी वह पाठक के मन मे भी जा बैठी। इस प्रकार कवि की अनुभूति पाठक के लिए सवेद्य बन गई। कीर्ति शेष महात्मा गाधी के विषय मे लिखित निम्न पक्ति देखिए—

कुछ न सूझते अँधियारे मे उजियाला सा आया तू ।[२]

जब भारतवर्ष दास था, गौराग प्रभुओ के असह्य अत्याचार जिनकी स्मृति भी लोमहर्षक है, हो रहे थे। अत्याचार के घटाटोप मे देश मे अन्धकार छाया हुआ था—सचमुच दासता निगडित भारत के लिए वह युग अन्धकार का ही था। किन्तु महात्मा जी के राजनैतिक मच पर आते ही वह अन्धकार, वे अत्याचार दूर होने लगे।—और आखिर एक दिन उन्ही के प्रयत्नो से हम स्वतन्त्र हुए। राष्ट्रीयता के इसी रूप को कवि प्रतिष्ठित करना चाहता है। कैसे करे ? कालिमा का वदन करता हुआ प्रकाश तो सभी ने देखा है—उसका बिम्ब ग्रहण भी सुगम है। अर्थात् सभी का उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, चिर साहचर्य के कारण। अत अपनी अनुभूति को प्रेषणीय बनाने के लिए वह उसी को माध्यम बनाता है। कैसा सक्षिप्त, सटीक—किन्तु प्रभावशाली बिम्ब है।

'जिस पर पाले का एक पतन सा छाया' आदि मारन के प्रसिद्ध पद्य मे भी विशेषता देखी जा सकती है। किन्तु एकान्तत प्राकृतिक बिम्ब ही अभीष्ट नही है। अपने विचार और अनुभवो के सवेदन के लिए उसने दूसरे प्रकार का विधान भी किया है, जैसे—

---

१ पृथ्वीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृ० ३८

२ अनाल और अ थ, प्रथमावृत्ति, पृ० ३८

(१) **फूल-काँटे एक से कृतज्ञ होके विधि के**
पार्षद बने थे, निज जीवन के निधि के'

(२) **कट जावेगे पुण्यभूमि की पराधीनता के सब पाश,**
पाचाली की लाज रहेगी होगा दु शासन का नाश ।[२]

(३) **कृषक अथक तेरे उद्योगी**
जैसे कूट-काव्य-रस भोगी ।[३]

इनमे से प्रथम मे मानवीय व्यापार का, द्वितीय मे महाभारत की कथा का और तृतीय मे काव्यज त् का आश्रय लेकर अनुभव-प्रेपण का प्रयत्न हुआ है। इन सबसे सहृदय का सनातन परिचय है । अत ये प्राकृतिक बिम्ब के समान ही उपयोगी है ।

ध्वन्यात्मक शब्द-योजना द्वारा भी कविगण बिम्ब खडा किया करते है—वे ध्वनि-चित्रण के द्वारा ही पाठक के लिए अपना अनुभव ग्राह्य बना दते है। इसके लिए ध्वनि की सूक्ष्म चेतना अपेक्षित है । हिन्दी मे सुमित्रानन्दन पन्त मे यह चेतना बहुत विकसित है । किन्तु हमारे कवि को ध्वनि का वैसा परिज्ञान नही है, फिर भी दो-चार उदाहरण मिल सकते हे, यथा—

रिमझिम-रिमझिम रस की बूदे बरसी जो ऊपर से[४]

वर्षा का दृश्य मनश्चक्षु के समक्ष उपस्थित करने मे समर्थ होन पर भी यह ध्वनि चिर-प्रसिद्ध और सवपरिचित है । अत इसके लिए ध्वनि के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नही है । पर मैथिलीशरण जी के काव्य मे तो ऐसे उदाहरणो की सख्या भी अल्प ही है ।

काव्य को सवेद्य बनाने के लिए तीसरी आवश्यकता है कवि की ईमान-दारी अर्थात निश्छलता । उसे अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार होना चाहिए। क्योकि सहृदय को भावमग्न करने स पूव यह अपेक्षित है कि स्वय कवि ने भी उसका प्रत्यक्षत अथवा कल्पना द्वारा अनुभव किया हो ।—और कवि का यह अनुभव जितना गहन और सघन होगा उसमे सहृदय के मन मे वह भाव उद्-बुद्ध करने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी । यह आवश्यक नही कि हर बात म कवि विश्वास करता हो, फिर भी रचना-काल मे उसे तद्गत होना ही पडेगा ।—"रावण की बात करते हुए राम के विषय मे, स्वय तुलसीदास तुच्छ

१ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० ११

२ गुरुकुल, सस्करण सवत् २००८, पृ० १०२

३ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० ७६

४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १७३

भावना प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होते है।"[१] अन्यथा रचना नीरस और प्रभावहीन होगी। मैथिलीशरण जी की असदिग्ध निश्छलता तो सर्वमान्य है। सचमुच वे मनसा, वाचा, कर्मणा छल से दूर है। उनके काव्य की सवेदनशीलता का सबसे बडा कारण भाव की निश्छलता ही है।—और इसीलिए उनमे इतनी प्रबलता आ सकी है। केवल एक प्रसग उपस्थित करता हू। बौद्ध-दर्शन से कवि पूर्णत सहमत नही है—वह मूलत वैष्णव है, फिर भी यशोधरा के 'महाभिनिष्क्रमण' खण्ड मे गौतम से उसका मानसिक तादात्म्य हो जाता है। अमिताभ के साथ-साथ वह घोषणा करता है—

वह कर्म काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग्, यजु और साम!
ओ क्षणभगुर भव, राम-राम![२]

निर्वेद की पर्याप्त प्रबल व्यजना है। इस प्रबलता का मूल कारण क्या है? प्रस्तुत पात्र से तादात्म्य। यही भावना की इमानदारी है। गुप्त जी के काव्य की प्रभावक्षमता का एक और कारण है अभिव्यजना की अद्भुत् ऋजुता, जैसे—

हरे! हाय! क्या से यहाँ क्या हुआ?
उडा ही दिया मथरा ने सुआ![३]

पाठक के हृदय पर कोमल-करुण प्रभाव छोड जाने वाली उर्मिला की यह उक्ति कितनी ऋजु सरल है, फिर भी अत्यत प्रभावशाली!

किन्तु सवेदनीयता की दृष्टि से यह कवि एकदम निर्दोष भी नही है। भारतभारती का निम्न पद्य लीजिए—

सुख-शान्तिमय सरकार का शासन समय है अब यहाँ,
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
अब भी न यदि कुछ कर सके हम तो हमारी भूल है,
अनुकूल अवसर की उपेक्षा हूलती फिर शूल है॥[४]

निश्चित रूप से यह भारत-भारती की भाव-धारा (बल्कि विचारधारा

---

१ हि[illegible], प्रथम [illegible] करण, ५०।

२ यशोधरा, [illegible] सन् २००[illegible], पृ० [illegible]

३ साकेत, संस्करण सन् २००५ पृ० [illegible]

४ भारत भारती, अष्टदश संस्करण, पृ० ७५

कहिए) मे व्याघात उपस्थित करता है। यद्यपि यह स्थिर सत्य है कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से भारतवर्ष मे पूर्व उपद्रवों का शमन हुआ, अपेक्षाकृत शांति का प्रसरण हुआ, फिर भी गुप्त जी की—स्वातन्त्र्य के पुजारी राष्ट्र कवि की यह भावना नहीं हो सकती। कवि के अस्वीकार करने पर भी मै ऐसे स्थलों पर बाह्य दबाव ही मानता हूँ। और स्पष्ट शब्दों मे यह कवि की उक्ति और मान्यता मे अन्तर है—इसीलिए यह प्रभावहीन है। इसमे प्रेरणा दान की सामर्थ्य नही है। इस दृष्टि से गुरुकुल सर्वाधिक सदोष है। उसका अधिकांश भाग संवेदनाहीन है—क्योंकि उसकी रचना हृद्गत अनुभूति से नही एक सिक्ख सज्जन के अनुरोध पर हुई थी।

कुछ स्थलों पर भाव-प्रेषण मे समर्थ बिम्ब भी प्रस्तुत कवि खड़ा नही कर पाया, यथा—

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही।[1]

आकाश-स्थित सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी का दृश्य हृदयंगम कराने के लिए मकड़े द्वारा प्रहृत मक्खी का रूपक बांधा गया है। डा० सहल तो यहां विराट् रूपक की योजना बताते है।[2] परन्तु यह विराटता सहृदय-संवेद्य नही है, केवल बौद्धिक ऊहापोह है। कहां सूर्य और कहां मकड़ा?—कहाँ पृथ्वी और कहाँ मक्खी? कोई अनुपात भी तो हो! अनुपात और उस पर भी अकाव्योचित! हम समझते है कि इस रूपक की कवित्वहीनता के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। तब फिर यह संवेदना का साधक कैसे हो सकता है? और कलाओं मे जो उपकरण साधक नही बन पाता वह बाधक बन जाया करता है। प्रस्तुत रूपक के विषय मे भी यही सत्य है। पर सौभाग्य से ऐसे स्थल बहुत ही कम है।

सब मिलाकर गुप्त जी का अधिकांश काव्य संवेदनापूर्ण है। अपरिमित प्रबलता, प्रौढ बिम्ब-विधायिनी शक्ति तथा अपूर्व निश्छलता के कारण उसमे उत्कट संवेदनीयता आ गई है।

---

१ साकेत संस्करण संवत् २००५, पृ० २०८

२ दे०, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृ० ४५

(ग) मार्मिक प्रसंगों की पहचान

जीवन एक अविश्रान्त हृदय-सग्राम है—निरन्तर सघर्षशील है। उसके प्रत्येक क्षण की अपनी कहानी है। फिर भी कतिपय विशिष्ट क्षण अपेक्षाकृत मर्म-स्पर्शी होते है। ये मर्म स्पर्शी क्षण ही काव्य का विषय है—काव्योचित है। काव्य के सभी रूपो के विपय मे यह सत्य है। प्रबन्ध मे यद्यपि समग्र जीवन अथवा खण्ड-जीवन आता है। किन्तु उसके प्राण हुआ करते है कतिपय मर्म स्थल ! इन मर्म स्थलो का ही तो प्रबन्धकाव्य मे महत्व होता है—बाकी सब कुछ उन्ही के परिदर्शनार्थ आया करता है या फिर जैसा कि शुक्ल जी कहते है शेष इतिवृत्त इन्ही स्थलो तक पहुँचने के लिए ही होता है।[1] वास्तव मे कथा के मार्मिक प्रसगो का चयन और सप्रभाव पुरस्करण ही सच्चे प्रबन्धकार का लक्षण है।—यही उसकी कुशल प्रबन्ध कल्पना का परिचायक है। आलोच्य कवि मुख्यत प्रबन्धकार ही है। उसने ना महाकाव्यो और उन्नीस खण्डकाव्यो का प्रणयन किया है। नवीन काव्य-रूप—यशोधरा, द्वापर और कुणाल गीत—भी निश्चित रूप से प्रबन्ध ही है। इन सबकी रचना मे अनेक मार्मिक प्रसग सामने आये—और हमारे कवि ने बडी तत्परता एव कुशलता से उनका निषेवण किया। कवि की इस महत्यात्रा मे आने वाले प्रमुख भाव-रमणीय स्थान निम्नलिखित है—

कन्या का विवाह और विदाई प्रसग, बारूजी का अपमान और आत्म-हत्या, वर की वीरगति तथा वधू का सहमरण, हाडा कुम्भ का धर्म सकट और अनन्त आत्म-बलिदान (रग मे भग), अभिमन्यु का रणोत्साह, उत्तरा का विलाप, अर्जुन का शोक और कोप, अर्जुन की विफलता की कृष्ण कृपा से सफलता मे परिणति (जयद्रथ बध) देश और विदेश मे किसान पर किए गए अत्याचार (किसान), लक्ष्मण शूपणखा सवाद, लक्ष्मण, सीता और शूपणखा

---

[1] निबन्ध प्रबन्ध काव्य मे रसात्मकता आ जाती है पर तु जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल वे जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच मे आते रहते है। यह समझिए कि काव्य मे कथा-वस्तु की गति इन्ही स्थलो तक पहुँचने के लिए होती है।

जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६६

की वार्ता, निराश शर्पणखा का विकृत रूप-धारण करना (पचवटी), महाशक्ति द्वारा असुर-सहार (शक्ति), द्रौपदी का बचनाघात-सहन, द्रौपदी-सुदेष्णा सभाषण (सैरन्ध्री), दुर्योधन मण्डली की कपट-योजना दुर्योधन का जल विहार और चित्ररथ से तकरार, वृद्ध मन्त्री की युधिष्ठिर से साहाय्य-याचना (वन-वैभव), ब्राह्मण परिवार पर सकट, कुन्ती के हृदय मे कर्तव्य और प्रेम का सघर्ष (वक-सहार), देवीसिह जी का क्षोभ, ठकुरानी का उद्वेलित वात्सल्य, कुवर सवाईसिह की कुलक्रमागत मृगेन्द्रता (विकट-भट), शची की शोचनीय दशा, ऋषि-कोप और नहुष का पतन (नहुप), हसन और हुसैन की पिपासाकुल मृत्यु (काबा और कबला), भीम और हिडिम्बा का वार्तालाप, भीम-हिडिम्बा-युद्ध, कुन्ती-हिडिम्बा वार्ता (हिडिम्बा), गुरु तगबहादुर की हत्या, गुरु गोविंदसिंह के पुत्रो का दीवार मे चुना जाना, ब दा वीर बैरागी का पीडन (गुरुकुल), निरपराध अजित का कारा-बन्धन, कारागृह का कटु वैचित्र्य (अजित), सोमनाथ की कर-मुक्ति के निमित्त राजमाता मीलन्दे का यात्रा स्थगन, राजा नरवर्मा की मृत्यु पर भी वीर जगद्देव का पराजय स्वीकार न करना, रानकदे का वरण, पति की मृत्यु के बाद लोभ और अत्याचार की अवस्थिति मे भी सतीत्व की रक्षा एव गौरव-व्यजना, काचनदे के हृदय मे प्रेम का प्रथम स्फुरण, मदनवर्मा मे मैत्री (सिद्धराज), कुणाल द्वारा विमाता के आदेश का शिरोधारण, अन्ध राजकुमार कुणाल और उसकी पत्नी काचनमाला का भिक्षाटन (कुणाल-गीत), यशोदा का वियुक्त वात्सल्य, लाछित विधृता का देह-त्याग, वसुदेव-देवकी का वात्सल्य-विक्षोभ, गोपी विरह (द्वापर), जरा, रोग और मृत्यु आदि की विभीषिका का दशन कर गौतम का मानसिक सघर्ष, यशोधरा का लाछना-जन्य खेद और विरह, गौतम को लेकर चलने वाला राहुल और यशोधरा का वार्तालाप, बुद्ध का आगमन और यशोधरा का मान और उत्सर्ग (यशोधरा), लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेमालाप, मथरा-कैकेयी सवाद, कैकेयी की वर याचना, राम का अयोध्या-त्याग, गुहराज-मिलन, भरत का आगमन और आत्म-ग्लानि, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी, चित्रकूट सभा, उर्मिला-विरह, भरत-माडवी का वैराग्यपूर्ण गार्हस्थ्य, लक्ष्मण शक्ति प्रसग, साकेतवासियो की रण-सज्जा, लक्ष्मण मेघनाथ-युद्ध, राम-रावण-युद्ध, राम सीता, लक्ष्मण का पुनरागमन, लक्ष्मण उर्मिला मिलन (साकेत), योजनगधा प्रसग, दुर्योधन की अपरिमित ईर्ष्या, एकलव्य की गुरुभक्ति, लक्ष्य-वेध प्रसग कपट-द्यूत तथा द्रौपदी का केश-वस्त्र कषण, पाण्डवो का वनवास, कृष्ण को कोरव पाण्डवो की ओर से रण-निमन्त्रण, मद्रराज की विपम स्थिति, कुन्ती-कर्ण सवाद, अर्जुन का

मोह, महाभारत युद्ध, पाडव पुत्रो की छल से हत्या, गाधारी का विलाप, युधिष्ठिर का दु ख, पच पाण्डवो और द्रौपदी का स्वर्गारोहण तथा नहुष, हिडिम्बा, वक सहार, वन-वैभव और सैरन्ध्री के पूर्वोल्लिखित प्रसग (जय भारत)।

ऊपर गुप्त साहित्य के मार्मिक स्थलो की सक्षिप्त सूची दी गई है। अब इनमे से कुछ प्रसगो पर विचार कर लिया जाए

हाडा कुभ प्रसग

लाखा नृपति सीसोदिया राणा चित्तौर के सिंहासन पर बैठते ही प्रतिज्ञा करते है—

दुर्ग बूदी का स्वय तोडे बिना जो अब कहीं—
ग्रहण अन्नोदक करूँ तो मै प्रकृत क्षत्रिय नहीं।[१]

किन्तु बूदी-दुर्ग-भजन उतना सहज काय नही है। अत शुभैषी सचिव राजप्रतिज्ञा की पूर्ति के निमित्त बूदी का कृत्रिम दुग बनवाते है जिसे तोडकर राणा अन्न-जल ग्रहण कर सके। राणा का भृत्य बूदी-निवासी हाडा कुम्भ भी उस दुग को देखता है। बूदी दुग की उस प्रतिकृति को देख स्वभावत उसके मन मे कुतूहल जागृत होता है, लोगो से इसका कारण पूछता है। और कारण जानते ही तो—

हो गया गभीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गई,
भृकुटि-कुचित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी।[२]

वह राणा का दास है—किन्तु उसने शरीर बेचा है, धर्म नही। तब मातृभूमि की ऐसी तिरस्क्रिया वह क्यो सहने लगा?—निश्चय ही देश-प्रेम यदि अन्त करण का कोई भाव है तो वह देश की भूमि, पशु-पक्षियो, पेड-पौधो, देशवासियो, देश के ऐतिहासिक स्थानो, सरिता-सरोवरो आदि के प्रेम के अतिरिक्त कुछ नही है।[३] तो फिर जिसके मन मे उत्कट देश-प्रेम तरगायित होगा वह भला अपनी मातृभूमि के प्रसिद्ध दुर्ग—दुर्ग ही क्यो?—उसकी प्रतिकृति मे भी अनुरक्त क्यो न होगा? जब सर्वशक्तिमान् परमात्मा की भावना एक प्रस्तरखण्ड मे की जा सकती है तो किले की उसके प्रतिरूप मे मे क्यो न होगी?—बस, चाहिए भाव की तीव्रता और सघनता। अन्यथा

---

१ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० ४२

२ रग मे भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० ४५

३ दे० आचार्य शुक्ल लिखित 'लोभ और प्रीति' (निबन्ध)

जैसे कोई महमूद मूर्ति को खण्डित कर सकता है वैसे ही कोई देश-प्रेमहीन व्यक्ति अपने ही हाथ से ऐसे कृत्रिम दुर्ग को तोड सकता है, फिर चाहे वह मातृभूमि के इतिहास प्रसिद्ध दुग की प्रतिकृति ही क्यो न हो !—वरन् ऐसे मनुष्यो को तो यह पता भी नही चलेगा कि यह किस चीज की प्रतिकृति है। पर हाडा कुभ उन लोगो मे से नही है, वह तो—

वन्दना उस दुर्ग को करने लगा अति भाव से,
शीश पर उसने वहाँ की रज चढाई चाव से।[1]

मातृभूमि-विषयक कितनी सघन रति है। अपने देश प्रेम की घोषणा से गला सुखाने वालो मे क्या इसका एक अश भी मिल सकेगा ? देश भक्ति के ठेकेदार जहाँ धाराप्रवाह वक्तृता भाडने के पश्चात् निश्चेष्ट हो रहते है वहाँ यह वीर—

पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से,
मै समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप मे वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है ?
जन्मदात्री, धात्रि ! तुझसे उऋण अब होना मुझे,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे ?[2]

—आदि उद्गार प्रकट करने के पश्चात् उस कृत्रिम दुर्ग की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। और जब राणा प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए आते है तब जैसे जैसे वे निकट आते जाते है वैसे-वैसे कुम्भ के भाव उग्र होते जाते हे—तथा 'क्रोध से उसके बदन पर स्वेद-जल बहने लगा।'[3] वह राणा का वेतनभोगी भृत्य है। अत उन्हे सावधान करता है, अन्यथा शर-सधान ही कर देता। बूदी के कृत्रिम दुर्ग का भजन भी उसे स्वीकाय नही, उसका तक है—

तोडने दूँ क्या इसे नकली किला मै मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड जान के ?

× × ×

है न कुछ चित्तौर यह, बूँदी इसे अब मानिए,
मातृभूमि—पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।[4]

---

१ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० २५
२ ,, ,, ,, पृ० २६
३ ,, ,, ,, पृ० २७
४ ,, ,, ,, पृ० २८

अत —

कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे ?
मृत्यु माता की जगत मे सह्य हो सकती किसे ?[1]

और अन्त मे वह 'राजपूतो की धरा को कीर्तिधवलित' करता हुआ, देश प्रेम की उज्ज्वल धारा प्रवाहित करता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है ।

उत्तरा-विलाप

चक्र व्यूह मे पाण्डुवश-प्रदीप अभिमन्यु को छल से मार दिया जाता है—पाण्डव पक्ष मे सर्वत्र शोक छा जाता है । और बिचारी उत्तरा ! वह तो—

चित्रस्थ सी, निर्जिव मानो रह गई हत उत्तरा !
सज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पडी ।[2]

नव-वय मे ही जिसके पति की मृत्यु हो गई हो—और पति भी अभिमन्यु-सा विश्रुत वीर ! उस रमणी के शोक का क्या ठिकाना ? उसे तो चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई देगा—और बिचारी सज्ञा शून्य होगी ही ! वरन् ऐसी दशा मे तो सज्ञाशून्यता ही वरदान है—किन्तु दुर्दैव को वह भी तो सह्य नही । मनुष्य पर दु ख आता है, उसे सहने के लिए उसे अधिक देर तक अचेत भी तो नही रहने दिया जाता—विधि का विधान कैसा कठोर है ! अनिष्ट-कारी अदृष्ट उत्तरा को भी हतचेत नही रहने देता—अविलम्ब ही दासियो द्वारा वह होश मे लाई जाती है । तब अर्द्ध विक्षिप्त उत्तरा च म दु ख सहती हुई प्राणेश-शव के निकट जाकर "हा ! नाथ ! हा !" कहती हुई फिर गिर पडती है ।[3]—कैसी घोर विषमता है, एकदम लोमहर्षक ! मृत पति की देह को अपनी गोद मे रखकर—

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य बरसाती हुई[4]

उत्तरा बहु-विध विलाप-प्रलाप करने लगती है । ऐसे दु ख की अवस्था मे स्त्रियो के लिए सिर और छाती पीटना सहज अनुभव की बात है । राजवधू उत्तरा भी यही करती है जो उसे लोक सामान्य भूमि पर लाकर उसके दु ख को मानव मात्र के लिए अनुभवगम्य बना देता है । वस्तुत शोक-प्रसगो मे ही

---

१ रग में भग, सस्करण पृ० २८
२ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० २१
३ ” ” ” पृ० २१
४ ” ” ” पृ० २२

वह क्षमता है जिससे मानव मात्र समान भूमि पर आ खडे होते है ।

उत्तरा के विलाप की बात कर रहे थे । सचमुच उसका दु ख अत्यन्त गहन है—प्रिय मरण से अधिक करुण प्रसग और क्या हो सकता है ? ऐसी दशा मे, ऐसे शोक के अवसर पर सिर और छाती पीटने के अतिरिक्त प्रिय का, प्रियकृत पूर्वसुखो—प्रिय-सम्पर्क मे लब्ध आनन्द का स्मरण हुआ करता है । अपने को धिक्कारा जाता है तथा सदैव दोषी दैव को कोसा जाया करता है । इसका कारण किसी रूढ नियम का पालन नही है वरन् मानव की सहज प्रवृत्ति है । श्रेष्ठ कवियो की रचनाओ मे ऐसे प्रसगो मे इस प्रकार का चित्रण प्रमाण है । वस्तुत प्रिय मृत्यु के अवसर पर निरवलम्बता का बोध, स्वय जीवित रहने मे अपनी स्नेह-शून्यता का भान आदि प्रेम की तीव्रता के परिचायक है । इसीलिए विश्व के श्रेष्ठ कलाकारो मे इस प्रकार का वर्णन मिल जाया करता है । उत्तरा के विलाप मे भी इन्ही तत्त्वो का सम्मिश्रण है—

हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार बारम्बार है
था जो तुम्हारे सब सुखो का सार इस ससार मे
वह गत हुआ है अब यहॉ से श्रेष्ठ स्वर्गागार मे
हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो ![1]

यह है उत्तरा का अपार शोक व्यजक विलाप । किन्तु उसके हृदय का यह उद्वेलन विलाप तक ही सीमित नही है । वह भारतीय नारी है, इससे भी आगे बढती है—सहमरण का निश्चय करती है—

जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया,
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझको मिला,
है दूर करना तो उसे सकता नही कोई हिला ॥[2]

सहृदय विद्वद्गण विचार करे कि क्या सती होने की इस कामना ने विलाप को अधिक प्रभावशाली नही बनाया है ?—कितना कारुणिक प्रसग है ! मैं तो इस विलाप को जयद्रथ-बध का सर्वाधिक मार्मिक प्रसग समझता हूँ । अभिमन्यु का युद्धोत्साह तथा अर्जुन का कोप भी काफी मर्मस्पर्शी है—किन्तु जयद्रथ वध का मेरुदण्ड तो यही स्थल है । लोक-प्रसिद्धि मेरा समर्थन करती है—जयद्रथ-वध करुण प्रवाह के लिए प्रख्यात है, ओज-प्रसार के लिए नही है ।

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृ० २२
२ ,, ,, ,, पृ० २३

लक्ष्मण शूपणखा सवाद

पचवटी का रमणीय स्थान है—प्रकृति पूर्ण यौवन पर है। प्राकृतिक छटा दर्शनीय है। सर्वत्र दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना का प्रसार है, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर प्रवाहित है, मौक्तिकाभ हिमबिन्दु विकीर्ण है और शान्ति का एकान्त साम्राज्य है—पक्षी तक नीरव निद्रा मे मग्न है। ऐसे शान्त-कान्त वातावरण मे मदन-शोभी वीर लक्ष्मण प्रहरी के रूप मे कुटिया के बाहर स्वच्छ शिला पर विराजमान है। प्राकृतिक सौन्दर्य के सस्पर्श से उनके मन मे अनेक मधुर तरल भावनाएँ उठ रही है। वे वन के शुचि-सारल्य पर विचार कर रहे है कि इतने मे ही कृत्रिमता और अपावनता की मूर्ति शूपणखा उपस्थित हो जाती है। लक्ष्मण तो ढलती रात मे अकेली अबला को देखकर चकित रह जाते है—वे तो कुछ सकोचवश, कुछ मर्यादावश और कुछ असभावनाजन्य चकपकाहट के कारण कुछ बोल भी नही पाते। किन्तु प्रगल्भा शूपणखा तो तीर छोड ही देती है—

> **शूरवीर होकर अबला को देख सुभग तुम थकित हुए,**
> **ससृति की स्वाभाविकता पर चचल होकर चकित हुए![1]**

केवल लक्ष्मण पर ही व्यग्य करते हुए वह सन्तुष्ट नही है वरन् सम्पूर्ण पुरुष-जाति पर ही कटाक्ष करती है—

> **प्रथम बोलना पडा मुझे ही, पूछी तुमने बात नही,**
> **इससे पुरुषो की निर्ममता होती क्या प्रतिभात नहीं ?[2]**

निश्चय ही लक्ष्मण 'थकित' थे—और उनके व्यवहार से पुरुषो की निर्ममता भी स्पष्टत व्यजित है। कोई किसी के—विशेषत स्त्री पुरुष के स्थान पर आए—और वह उसकी बात भी न पूछे! लेकिन लक्ष्मण बिचारे करे क्या ?—वे तो ऐसे समय और स्थान पर एक असम्भावित घटना—निस्सकोच सम्मुख खडी हुई हास्यवदनी अनिद्य सुन्दरी—को देखकर सकपका जाते है। यद्यपि वातावरण ऐसा मधुर-मधुर है कि लक्ष्मण से रसभोगी (साकेत, प्रथम सर्ग प्रमाण है) कामिनी की कामना कर उठे होगे—और उर्मिला के ध्यान मे (एक निमेष के लिए ही सही) वे मग्न हो भी जाते है।[3] फिर भी यह थोडे ही

---

१ पचवटी सस्करण सवत् २००२, पृ० १६
२ „ „ „ पृ० १७
३ „ „ पृ० १५

सोच सकते है कि सचमुच कोई ग्रा ही जाएगी । शूर्पणखा को देखते ही एक बार तो वे धक् से रह जाते है–ऐसी अवस्था मे निश्चय ही कुछ बोलना सम्भव नही है । लक्ष्मण को 'थकित' दिखाकर यहा लेखक ने अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का परिचय दिया है । बस, दो क्षण बाद ही लक्ष्मण सभल जाते है—और उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते है—

पर मै ही यदि परनारी से पहले सभाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित पुरुषो की सुधर्म्मपरता ।[1]

शूर्पणखा ने अपने वक्तव्य मे लक्ष्मण के व्यवहार मे निममता का सकेत करते हुए पुरुष जाति पर आक्षेप किया है तो लक्ष्मण अपने व्यवहार को ही पुरुष जाति की 'सुधर्म्मपरता' का प्रतिष्ठापक सिद्ध करते है । पर यह तो सम्भलने के बाद की गढी हुई बात है । तथ्य तो यही है कि लक्ष्मण सुधर्म्मपरता की रक्षा की इच्छा से नही वरन् चकपकाहट के कारण नही बोल सके । फिर भी उनका उत्तर प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न है । पर इससे भी अधिक चमक और धार है—'शूरवीर होकर अबला को देख सुभग तुम थकित हुए'—के व्यग के प्रत्युत्तर मे—

शूरवीर कहकर भी मुझको तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो ।[2]

यहाँ लक्ष्मण यदि भीरुता के लाछन के उन्मूलन के लिए अपने वीर कृत्यो का बखान करते तो उपहसित होते । किन्तु वे शूरवीरता और भीरुता जैसे दो सम्मुख विरोधी गुणो की एक साथ परिकल्पना को शूर्पणखा की सूक्ष्मदर्शिता बताने लगते है । बिचारी कटकर रह गई होगी !

अब लक्ष्मण बिल्कुल सभल जाते है । पहले जिनके मुँह से एक शब्द भी नही निकलता था अब वे रमणी का परिचय तक पूछने का साहस रखते हैं—

तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रजित रहस्यवाली ?[3]

किन्तु वह भी चतुरा है । परिचय दिए बिना ही मन्तव्य प्रकट करती है—

समझो मुझे अतिथि ही अपना
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?[4]

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० १६
२ ,, ,, ,, ,, पृ० १७
३ ,, ,, , ,, पृ० १८
४ ,, ,, ,, ,, पृ० १८

पर लक्ष्मण बडी शिष्ट कुशलता से अपनी साधनहीनता—किसी वैभव-शाली के अतिथ्य की अपनी असमथता का उल्लेख करते है—

तुम अनुपम ऐश्वर्यवती हो, एक अकिचन जन हूँ मै
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, वनवासी निधन हूँ मै[१]।

लक्ष्मण सहज ही सारी स्थिति स्पष्ट कर देते है। अपनी 'अकिंचनता' का भी निश्छल सकेत है—हीनता और दीनता का स्पर्श भी नही। किसी भी प्रकार की ग्रन्थि का एकदम अभाव है। पौ फटने तक इसी प्रकार दोनो का वार्तालाप चलता रहता है जो काफी मर्मस्पर्शी और मनोवैज्ञानिक है। लक्ष्मण-शूर्पणखा के इस सवाद की रोचकता तो असदिग्ध है ही।

देवीसिह जी का रोष

दरबार खास लगा हुआ है। अकस्मात जोधपुर-नरेश विजयसिह होठो से सुरा-पात्र हटाकर पोकरणवाले सरदार देवीसिह से पूछ बैठते है—"कोई यदि रूठ जाए मुझसे तो क्या करे ?"[२]—एकदम अप्रासगिक और असभावित प्रश्न है। देवीसिह इसे कौतुक मात्र समझकर साधारण उत्तर देते है—

"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या।
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से।"[३]

विजयसिह के फिर पूछने पर देवीसिह कहते है—

जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे[४]

इस प्रकार वे कुतूहल-शान्ति का प्रयत्न करते है। किन्तु अब राजा एक बिल्कुल अप्रत्याशित प्रश्न कर बैठते है—

और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो![५]

इस पर—

देवीसिह चौंके—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या!"[६]

निश्चय ही यह चौंकने की बात है। राजा का अपने सरदार से ऐसा पूछना कौतुक मात्र नही माना जा सकता। न जाने किसी ने द्वेषवश राजा को कुछ सिखा-बहका दिया हो—इसीलिए देवीसिह चौक उठते है और जानना चाहते

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् पृ० १९
२ विकट-भट, चतुथावृत्ति, पृ० ३
३ " " पृ० ३
४ " " पृ० ३
५ " " पृ० ३
६ " " पृ० ३

हैं कि 'पृथ्वीनाथ' के मन मे ऐसा भाव क्यो आया ? विजयसिंह जी के यह बताने पर कि—

"मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो !"[१]

आश्वस्त देवीसिंह सहज सामन्तीय उत्तर देते हे—

"खमा अन्नदाता, यह क्या ?
सेवक हूँ मै तो और आप मेरे स्वामी हैं,
आपसे क्यो रूठूगा भला मै ? आप मुझको—
देते है टुकडे और उनसे मै जीता हूँ,
जाऊँगा कहाँ मै फिर रूठकर आपसे ?"[२]

देवीसिंह जी के उत्तर मे ग्रन्थि विश्वलेषक शायद उनकी हीन-भावना और चापलूसी आदि का सन्धान करेगे—किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नही है। यह तो सामन्तीय सभ्यता और शिष्टाचार का निदशन है। आज भी जब कि वे सामान्त उखड गए है—बडे-बडे सामन्ती राज्य ढह गए हैं, राजस्थान मे उन पद-च्युत राजाओ को भी 'अन्नदाता' कहा जाता है। उनके मुँह पर ही नही अपितु उनके पीछे भी ऐसा कहा जाता है—जनसाधारण तक उन उपाधिशेष राजाओ को 'अन्नदाता' कहते है।—और बडोदा-प्रदेश मे तो लोग अभिवादन के समय तक 'जय सियाजी राव' कहते हे। तात्पय कहने का यह कि सरदार देवीसिंह का उपयु क्त वक्तव्य उनकी आत्मसम्मान हीनता का नही वरन् तत्कालीन शिष्टाचार का ही परिचायक है।

लेकिन राजा विजयसिंह यह उत्तर सुनकर भी सतुष्ट नही है, आज उन पर कुछ और ही भूत सवार है। वे पुन पुन वही प्रश्न करते हे कि यदि तुम मुझसे रूठ जाओ तो क्या करो ? राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी चूक भी सह्य है। अत देवीसिंह प्रश्न को टालते रहते हे। पर धैर्य की भी एक सीमा होती है—अन्तत देवीसिंह तिलमिला उठते है—

लाली दौड आई सौम्य शान्त, गौर गात्र मे,
वदन गभीर हुआ ।[३]

परन्तु फिर भी वे मौन ही रहते है— जिसका नमक खाया है यथासम्भव

---

१ विकट-भट- चतुर्थावृत्ति, पृ० ३-४
२ ,, ,, पृ० ४
३ , ४

उससे झगडा बचाना ही चाहिए। पर विजयसिंह इस मौन की गम्भीरता को न समझकर—

बोले फिर —"देवीसिंह जी, कहा नहीं ?
यदि तुम रूठ जाओ मुझ से तो क्या करो ?"[१]

शायद वे आज कलह पर उतारू थे। निदान, वही होता है—वृद्ध वीर देवीसिंह के आत्म सम्मान को ठेस लगती है और तब—

"पृथ्वीनाथ, मै जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली मे ही,
मै यो 'नवकोटी मारवाड' को उलट दूं।"
कहते हुए यो ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होने उलटी पटक दी।[२]

इस तरह देवीसिंह क्रोधाभिभूत हो जाते है। राजपूतो के इतिहास मे ऐसी असख्य कथाएँ मिल जाएँगी—जरा जरा सी बात पर तलवारे खिंच जाना मामूली बात थी। पर विकट-भट वर्णित देवीसिह जी के क्रोध के इस मनोविज्ञान सम्मत उद्भव और अभिवृद्धि मे विचित्र मोहन भाव है।

नहुष-पतन

महाप्रतापी राजा नहुष को इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। किन्तु वहाँ की विशिष्ट प्रजा स्वय सुशासित है—शासक को तनिक भी कष्ट करने की आवश्यकता नही। सदैव श्रेय-सम्पादन-रत नहुष का मन भी रिक्त होने पर विलास की ओर दौडता है। स्वय इन्द्राणी पर उनकी कुदृष्टि पडती है।—और तब उसकी प्रेरणा से वे सप्त-ऋषि-वाहित शिविका पर चढकर शची को लिवाने जाते है। वासनादग्ध नहुष को यह भी नही सूझता कि यह प्रस्ताव तो उनके अनिष्टार्थ किया जा रहा है—भोग-लिप्सा तप पूत मन को भी कैसे वशीभूत कर लेती है। गीताकार ने ठीक ही कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन[३]

कामुक मनुष्य अनिष्ट को भी इष्ट समझे रहता है। नहुष भी शची के इस प्रस्ताव को अनिष्टकारी न मानकर यही समझते है कि वह उन्हे नूतन

---

१ विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृ० ४
२ ,, ,, पृ० ४-५
३ गीता २।७

वाहन-विनोद ही देना चाहती है ।[१]—काम का प्रभाव भी कितना गहन-व्यापक है जो मानव की सारी चेतनाओ को पराभूत कर देता है, निश्चय ही उस समय मनुष्य को कुछ नही सूझता । उसकी प्रबलता के समक्ष बडे-बडे देवता भी विचलित हो जाते है, नहुष विचारे तो मानव ही थे !

हा, तो नहुष ऋषियो द्वारा उठाये गए अश्रुतपूर्व यान पर सवार हो इन्द्राणी के पास जा रहे है । अनेक लोग यह तमाशा देखते है । भार-धारण का ही व्यवसाय करने वाले यह अपूर्व दृश्य देखकर कहते है—

आज कुछ होगा सही, अच्छे नही रग-ढग[२]

अपने ही व्यवसाय को लोग कठिनतर समझा करते है तथा दूसरो को उसे करने मे असमर्थ । 'सच्चे भारधारियो' की उक्त पक्ति मे इसी भाव की व्यजना है । यही नही वे और भी करारा व्यग्य करते है—

पालकी उठाना कुछ सहिता बनाना है[३]

कसा सहज-परिचित व्यग्य है । श्रमजीवी बुद्धिजीवियो पर ऐसे ही व्यग्य तो किया करते है । कवि इससे भी आगे बढता है और उन भारवाहियो से अग्रिम पक्तियो मे कहलाता है—

या कही निमन्त्रण मे जाके जीम आना है[४]

पर हम समझते है कि यह ठीक नही हुआ—ऋषियो के गौरवानुकूल नही है । क्या ऋषि भी भोजन-भट्ट ही थे ? लहू का घूँट पीते हुए ऋषि बेचारे शनै शनै चलते है—अनभ्यस्त कधो को बदलने के लिए वे बार-बार रुकते है । किन्तु कामातुर नहुष को तो एक एक पल युग के समान लगता है, वे उन पर बरस पडते है—

बस क्या यही है बस, बैठ विधियाँ गढो
अश्व से अडो न अरे, कुछ तो बढो, बढो[५]

काम का प्रबल प्रभाव देखिए । वही राजा नहुष जो किसी समय विधियो का सम्मान करते थे और ऋषियो की चरणरेणु के स्पर्श को अपना अहोभाग्य मानते थे, वासनालिप्त होकर विधियो और उनके प्रणेता ऋषियो का अपमान कर रहे है । आतुरतावश वे सरोष पैर पटकने लगते है और सयोग से—

---

१ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० ३५
२ ,, ,, पृ० ३६
३ ,, ,, पृ० ३६
४ ,, ,, पृ० ३६
५ ,, ,, पृ० ६६

क्षिप्त पद हाय ! एक ऋषि को जो जा लगा[1]

तब तो सातो ऋषि क्रोध से जल उठते हे—आखिर सहिष्णुता की भी तो सीमा होती है !—और तब क्रुद्ध ऋषि नहुष को सर्प योनि मे पडने का शाप देते हैं। शाप सुनते ही वे हततेज हो जाते है और होश ठिकाने आ जाते है। —काम का सारा नशा काफूर हो जाता हे। पर अब क्या हो सकता था ?—किन्तु यही पर कवि का आशावाद काम आता हे—वह मानव की अदम्य शक्ति का विश्वासी है। अत गुप्त जी के नहुष कहते हे—

चलना मुझे है बस अन्त तक चलना,
गिरना ही मुख्य नहीं मुख्य है सँभलना।
× × ×
फिर भी उठूँगा और बढके रहूँगा मै,
नर हूँ, पुरुष हूँ मै, चढके रहूँगा मै।[2]

और उन्नति व्यष्टिगत नही समष्टिगत ही अपेक्षित है—

उठना मुझे ही नही एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।[3]

इस प्रकार पतन के इस प्रसग मे उत्थान का भी उपक्रम हुआ है। नहुष काव्य के सबसे अधिक मार्मिक इस स्थल को सभालने के लिए ऐसी ही कुशलता की आवश्यकता थी।—और इसका स्वाभाविक चित्रण तो अपने आप मे मनोरम है ही।

राजमाता मीलनदे का तीर्थयात्रा-स्थगन

जेता जयसिह की माता मीलनदे राजमाता क अनुकूल गौरव के साथ सोमनाथ के दशनार्थ जा रही है। माग मे शिविर की स्थापना होती है। रात्रि का समय है—"दुहाई राजमाता की !"—शब्द सुनकर मीलनदे चौकती है और यह शब्द करने वालो को बुलाने का आदेश होता है। एक माता और उसका पुत्र राजविद्रोही के रूप मे उनके समक्ष उपस्थित किए जाते है। राजमाता क कहने पर वह अपनी कहानी सुनाती है—सोमनाथ के दशनो पर लगने वाले कर का भी उल्लेख करती है—

१ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० ३६
२ ,, ,, पृ० ३७
३ ,, ,, पृ० ३८

राजकर लगता है यात्रियो से, उसको
दे जो नही सकते हैं, लौटा दिए जाते हैं—
दर्शन बिना ही।[1]

देव दर्शन पर भी राजकर की बात श्रवणकर उन्हे अपार दुःख होता है। और—

उस रात राजमाता नही सो सकी,
हो सकी न स्वस्थ ही विचारो के प्रवाह मे।
लौटा दिया भोजन का थाल बिना खाए ही।[2]

वास्तव मे धर्म-प्राण माता के लिए इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी कि उसके पुत्र के राज्य मे भगवान् की प्रतिमा के दर्शन पर भी कर लगा दिया जाए। साथ चलने वाला मन्त्री भोजन न करने का कारण पूछता है। मीलनदे का उत्तर है—

कैसे वह पाप-अन्न खाऊँ अब और मै,
ऐसे पाप कर से कमाते तुम हो जिसे ?[3]

आज तक तो राजमाता को इस बात का पता ही नही था—व तो यही समझे बैठी थी कि उनके राज्य मे कही कोई 'अनरीति' नही है। और इसी-लिए—'करती थी शान्तिमयी मृत्यु की ही कामना'।[4] किन्तु अब तो दीपक के नीचे ही यह अँधेरा देखकर उनकी भूख-प्यास-नींद सब नष्ट हो गई।—शोकातिरेक मे यह सहज सभव है। मन्त्री उन्हे समझाता है। इसे पाप-कर नही वरन् यात्रियो को दी गई सुविधाओ के विनिमयस्वरूप प्राप्त द्रव्य ही बताता है। किन्तु राजमाता इस स्थिति से सतुष्ट नही है, बल्कि सुविधाओ के प्रति-दान वाली बात पर व्यग्य करती है—

देव, विप्र, वणिक, तुम्हारे सब उनसे
पाते हैं यथेष्ट पूजा, दान, लाभ, फिर क्यो
कोरे रह जाओ तुम्हीं करके भी इतना ![5]

और फिर देखिये उनकी क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा—

---

१ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० १८
२ ,, ,, ,, पृ० १६
३ ,, ,, ,, पृ० १६
४ ,, ,, ,, पृ० १७
५ ,, ,, ,, पृ० १७

ओरे दीन मानवो, अकिंचन ओ साधुओ,
लौट जाओ, तुमको कही भी ठौर है नही।
भेट गण-हेतु कुछ गाँठ मे नही हे तो
हर के यहाँ भी सुनवाई बस हो चुकी ![1]

यहाँ वास्तव मे दीनो और अकिचनो को सचेत करने का प्रयत्न नही है वरन् उनके प्रति किए गए अपने अथवा अपनो के दुर्व्यवहार के कारण मन मे उत्पन्न क्षोभ तथा क्षोभजन्य आत्मनिन्दा की ही परिव्यक्ति है। मीलनदे को अपने पुत्र के राज्य मे पाप-कर लगा देखकर घोर आत्म ग्लानि होती है। साधारणत ग्लानि किसी अपने कुकृत्य के कारण हुआ करती है पर निकट सम्बन्धियो के दुष्कृत्य भी ग्लानिजनक होते है। अत राजमाता देव-दशन किए बिना ही लौट पडती है।—और कारण पूछने पर मन्त्री से स्पष्ट कह देती है—

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सबके लिए,
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर भावना।[2]

राजमाता के उपयुक्त ही यह कथन है—उनमे ऐसी उदार भावना होनी ही चाहिए।

सिद्धराज जयसिंह भी माता के पीछे पीछे दशन क निमित्त आ रहे थे। किन्तु उन्हे वापस लौटता देख बडे विस्मय मे पड जाते हे। कारण से अभिज्ञ होने पर—

पचकुल लोगो से मँगाया वहाँ उसने
कर का निदेश-पत्र और लेखा उसका
देखा, उससे है प्रतिवर्ष लाभ लाखो का।
फाड फेंका तो भी वह पत्र मातृभक्त ने,
माँ के चरणो पर चढाया पत्र-पुष्प-सा ![3]

इस प्रकार 'पाप-कर' से मुक्ति मिलती है—राजमाता की अभिलाषा पूर्ण होती है। धन्य है वह पुत्र जिसकी माता मे ऐसी प्रगाढ श्रद्धा है और धन्य है वह ममतामयी माता जिसमे ऐसी सदभिलाषा एव औदाय है। सोमनाथ मन्दिर के धनी और निधन, सभी दशक तो पुकार ही उठते है—

हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की।[4]

---

१ सिद्धराज, ततीय सस्करण, पृ० १७
२ ,, ,, पृ० २०
३ ,, ,, पृ० २३
४ ,, ,, पृ० २३

विधृता का देह्-त्याग

द्वापर का यह प्रसग वास्तव मे कवि की अपनी उद्भावना है। सकेत तो उसे श्रीमदभागवत से ही मिला है[1]—किन्तु इस रूप मे उसका विस्तार कवि ने स्वय किया है। कृष्ण-सखाओ को भोजन देने जाती हुई अपनी कृष्ण-अनुरक्ता पत्नी को एक याज्ञिक ब्राह्मण बलपूवक रोकता है। वह कृष्ण को 'छैल-छोकडा' तथा अपनी पत्नी के सात्विक अनुराग को पाप-वासना मानकर अनेक दुर्वचन कहता है। कृष्ण की अनन्य भक्तिन वह विधृता उसी समय भौतिक शरीर छोड अपने आराध्य से जा मिलती है। पर मरने से पहले कुछ मम वचन कहती है। इस प्रसग मे इन वचनो का ही विशेष महत्व है। पति पत्नी एक-दूसरे के सहयोगी है, उनमे अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध नही है। पर जिसे मुट्ठी भर देने का भी अधिकार न हो उसकी सत्ता क्या दासी से अधिक है? विधृता को इसी बात का दु ख है—

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मै आहा![2]

—और फिर उसका पति याज्ञिक ब्राह्मण है। 'यत्र नायस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' आदि शास्त्रवाक्यो का निर्देश करता हुआ लोगो को नारी का आदर करने का उपदेश और प्रेरणा देता है। पर उसके अपने ही घर मे यह काण्ड होता है—कैसी विडम्बना है। विधृता इसी तथ्य को लेकर व्यग्य करती है—

अहा! 'यत्रनार्यस्तु'— वाक्य की पूर्ण सफलता पाकर,
क्यो न रमेगे अमर तुम्हारे इस अध्वर मे आकर![3]

याज्ञिक महाशय बालको को भोजन देने मे भी वासना का सधान कर बैठते है। विधृता इस लाछन से विचलित हो उठती है—क्या स्त्री के सब सम्बन्ध वासना-सम्बन्ध ही है? 'तिरिया चरित्र' क विशेषज्ञ तो शायद यही मानेगे। किन्तु वे 'विशेषज्ञ' पारिवारिक जीवन के सहज सत्य को भुला बैठते है। विधृता के कटु तीक्ष्ण शब्दो मे सुनिए—

हाय! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई?

---

१ दे० द्वापर का 'निवेदन'

२ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० २६

३ ,, ,, ,, पृ० २६

नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या सग नही वह लाई ?[1]

विधता पर दु शीलता का आरोपण करने वाला भी वह पाखडी याज्ञिक है जो व्रतियो की कुलस्त्रियो के पति अश्लील व्यवहार करता है । परन्तु फिर भी वह अपने को सुशील ही समझता है—होत्री जो ठहरा ! त्रिवृता पति की इन कुचेष्टाओ से परिचित होने पर भी आज तक चुप थी—क्योकि स्त्री पति की त्रुटियो को सदैव क्षम्य समझती रही है । परतु आज लाछित हो वह बौखला उठी है । उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन करने के बाद व्यग्य करती है—

मे भूखो को भोजन देने जाकर भी दु शीला
ललना तो छलना है, ओ हो, धय तुम्हारी लीला ।[2]

विधृता को चिर अविश्वसनीय नारीत्व के घोर अभिशाप पर अफसोस है—

अविश्वास, हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का ![3]

निश्चय ही समाज के वतमान विधान मे नारी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है—पहले भी रही है । न जाने इस विपर्यास का कब शमन होगा ? विधृता तो यह अन्याय न सहकर प्राण त्याग देती है —किन्तु पता नही कितनी स्त्रियाँ जीवित ही इस अभिशाप का भार-वहन कर रही हैं। बहुत ही कारुणिक प्रसग है !

सिद्धि-लाभ के पश्चात् गौतम का आगमन और यशोधरा का मान

वर्षो को तपस्या से अमृत तत्व प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध भगवान् गौतम मूढ़ जगती के अभ्युदय एव कल्याण-साधनार्थ फिर ससार मे लौट आते है । चलते-चलते कपिलवस्तु के पार्श्ववर्ती मगध-प्रदेश मे भी पहुँच जाते है । कतिपय व्यवसायियो द्वारा कपिलवस्तु मे भी शीघ्र ही यह समाचार पहुँचता है । राज्य भर मे आनन्द की लहर दौड जाती है—लोग हर्षोत्फुल्ल है । जिस प्रियदर्शी राजकुमार के बिना—

खान-पान नीरस था, सोना बुरा स्वप्न था
रोना ही रहा था हाय ! जीवन मरण था ।[4]

---

१ द्वापर, सस्करण सवत २००२, पृ० ३६
२ ,, ,, पृ० ३६
३ ,, ,, पृ० ३६
४ यशोधरा, सस्करण सवत २००७, पृ० ११६

—उसका सवान कोई साधारण बात है! अनेक प्रजानन लोचनो और श्रवणो के लाभ के निमित्त तुरन्त मगध को चल देते हे—राज और प्रजा वर्गो का यह सघन और प्रिय सम्बन्ध कितना भव्य रहा होगा! पर अब तो ये बाते कहानी मात्र है। जब प्रजा को ही अपार हष था तब महाप्रजावती और शुद्धोधन—अभ्यागत के माता-पिता के आनद का क्या ठिकाना! वे तो दौडकर यशोधरा के पास आते हे और उसे साथ ले मगध जाने के लिए उतावले है। उनके प्रस्ताव की उत्सुकता और उसमे व्यग्य लालसा की तीव्रता दशनीय है—

अब क्यो विलम्ब किया जाए बेटी, शीघ्र तू
प्रस्तुत हो। यह रहा मगध, समीप ही,
उसके लिए तो हम जगती के पार भी
जाने को उपस्थित है और उसे पाने को
जीवन भी देने को समुद्यत हे—सर्वदा।[1]

लक्ष्य कीजिए प्रथम पक्ति मे यशोधरा को धैर्य से समझाने के लिए तो थोडा-सा स्थैय है। उसके पश्चात् तो वात्सल्य का दुधर प्रवाह सभाले नही सभालता। शब्द भी तीर की सी तेजी से चलते है।

लेकिन यशोधरा जाने के लिए तैयार नही है। वह उनका 'निर्देश' पाए बिना वह घर छोडने को प्रस्तुत नही है जहा वे उसे छोड गए थे।। उसका तक है—

आप मुझे छोडकर वे गये।
जब उन्हे इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणो मे स्थान देगे वे।[2]

गौतम यशोधरा को सुप्तावस्था मे छोड गए थे। उसे बताए बिना घर छोडकर उन्होने उसे लाछित किया—विश्वासपात्री नही समझा। पत्नी के लिए इससे बडी लज्जा की बात और क्या हो सकती है। तो क्या यशोधरा अपने को परित्यक्ता समझे?—या कुछ और? बिचारी किसी को कुछ कह भी तो नही सकती। कैसी परवशता है। महाप्रजावती यशोधरा के उपर्युक्त तक के उपरान्त भी चलने का आग्रह करती है—पूछती है तुम्हे वहाँ चलने मे कौन-सी बाधा है? कोई भी मानिनी (शास्त्रीय अथ मे नही) पत्नी यशोधरा की बाधा को समझ सकती है। किन्तु महाप्रजावती आज उसे नही समझ पा रही

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १२८
२ ,, ,, ,, ,, पृ० १२५

हे। वे भी पत्नी है—पत्नी की टीस का अनुभव कर सकती है। पर आज उनका मातृत्व उभरा हुआ है, वह पत्नीत्व पर हावी है। वास्तव मे पुत्र-मिलन के आनन्द के महाप्रवाह म बाधाओ के तटवर्ती सिक्ताकण बहे जा रहे है। स्वय उनके लिए तो कोई बाधा है ही नही—परन्तु हर्षातिरेक मे उन्हे दूसरो की बाधाए भी दृष्टिगत नही होती। जो हो, यशोधरा गमन के लिए प्रस्तुत नही है। वह व्यजना द्वारा अपना आशय —अपनी बाधा स्पष्ट करती है—

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नही कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहा जाने से जगत मे
कोई मुझे रोक नही सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मै आप इच्छा रहते हुए,
जाने नही पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मै ? [१]

यह कहते-कहते तीव्र उद्वेग के कारण मूर्च्छित हो जाती है। अन्तत शुद्धोदन और महाप्रजावती भी मगध को जाने का विचार छोड देते है। शुद्धोदन का कथन है—

गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नही मुझको !
जाओ, अरे, कोई उस निमम से यो कहो—
झूठे सब नाते सही, तू तो जीव मात्र का,
जीव-दया-भाव से ही हमको उबार जा ! [२]

यह आर्त पुकार आखिर गौतम को खीच ही लाती है—वे कपिलवस्तु पधारते है। राजभवन मे भी आते है। सब लोग उनके दर्शन करते हैं—प्रवचन सुनते है। पर गर्विणी गोपा अब भी बाहर नही आती—उसी कक्ष मे स्थित है जहाँ 'वे' छोड गए थे। वह कक्ष मे तो है—किन्तु मन उद्वेलित है। आज ही तो उसके मन की परीक्षा है। अब तक जो निग्रह था वह तो अभाव के कारण था—'लोभ न था, जब लाभ न यह था।'[३] उस निग्रह की वास्तविक परीक्षा तो आज है—जबकि 'सुधा सिन्धु' सामने ही लहरा रहा है। यदि गौतम यशोधरा के समीप, उसके कक्ष तक आ जाते है तो उसकी लाज रह जाती है। जिसने त्यागा था यदि वह स्वय अपनाले तो उसकी सम्पूर्ण तपस्या

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १२५-१२६
२ ,, ,, ,, ,, पृ० १२६
३ ,, ,, ,, ,, पृ० १४०

सफल समझिए । और यदि गोपा स्वय दशन करने चली जाती है तो आज तक के सारे सयम पर पानी फिर जाता है । सारे कष्ट व्यथ हो जाते है । यशोधरा के हृदय मे प्रवृत्ति और विवेक का यही सघष चल रहा है, कि इतने मे गौतम स्वय उसके द्वार पर आ जाते हे और कहते है—

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान ।[1]

निश्चय ही यशोधरा की 'बान' रह गई । उसका सरा तप-सयम साथक हुआ । इस मिलन से यशोधरा की गौरव रक्षा ही नही हुई, गौतम की गौरव-वृद्धि भी हुई है—उनके व्यक्तित्व मे विचित्र आकषरण आ गया है ।

साकेत का एक स्थल

साकेत गुप्त जी की सवश्रेष्ठ कृति है । यदि केवल एक पुस्तक पढकर उनकी समृद्ध भावुकता से परिचित होना है तो हम साकेत के ही अध्ययन का परामश देगे । साकेत मे अनेक भावुकतापूरण प्रसग है । वास्तव मे वह है ही मार्मिक प्रसगो का सकलन । प्रोफेसर नगेन्द्र ने अपने साकेत एक अध्ययन के तीन परिच्छेदो—साकेत के गाहस्थ्य चित्र, साकेत मे विरह और साकेत के भावपूरण स्थल—मे बडी विद्वत्ता से उन प्रसगो का विशद विवेचन किया है । मै समझता हू कि उनका पुनराख्यान अनपेक्षित कलेवर-वृद्धि और पिष्ट-पेषरण मात्र होगा । लेकिन आलोच्य कवि का कोई भी अध्ययन साकेत के एकाध भाव-रमणीय स्थल के व्याख्यान के बिना अपूर्ण ही कहा जाएगा । इसी भावना से प्रेरित होकर यहा एक स्थल उपस्थित किया जाता है ।

भरत-मिलाप और चित्रकूट-सभा

रामकथा का यह अद्वितीय प्रसग है, इसका सौदर्य अपूव है । तुलसीदास ने अपने करस्पश से इसे जीवन्त बनाया—और तब से इसका माहात्म्य अक्षुण्ण है । साकेत के भी महत्वपूरण स्थलो मे से यह एक है । चित्रकूट-प्रदेश मे जब राम, लक्ष्मण और सीता ठहरे थे एक दिन उन्हे दूर से उठती हुई धूलि, भयभीत भागते हुए खग, मृग आदि दिखाई देते है । लक्ष्मण को पता लगता है कि ससैन्य भरत आ रहे हे । बस, फिर क्या था वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हे—राम का प्रतिषेध भी उन्हे स्वीकाय नही है । किन्तु उनका यह अनुमान गलत था । कुछ क्षण पश्चात् ही भरत और शत्रुघ्न धूलिपटल से बाहर निकल आते हे तथा—

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १६३

दोनो आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे,
दोनो से दोनो गये हृदय पर खीचे ।[1]

भरत तो हृदय पर खीचे जाने पर भी धूलि मे ही लोटना चाहते है । राम का कथन है—

रोकर रज मे लोटो न भरत, आ भाई,
यह छाती ठण्डी करो सुमुख सुखदायी ।[2]

किन्तु भरत का दुख तो अपार है । उन्हे इस ससार म अनुताप, तिरस्कार, लाछन और ग्लानि के अतिरिक्त और कुछ नही सूझता । इसीलिए उत्तर देते है—

हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है[3]

पर ससार उन्हे चाहे जो कहे । सब से अधिक खेद तो भरत को इस बात पर है कि आर्य दुष्टा कैकेयी की बात तो मानते है—किन्तु साधु भरत की भावनाओ का कुछ मूल्य और महत्त्व नही समझते—

उस जड जननी का विकृत वचन तो पाला
तुमने इस जन की ओर न देखा-भाला ![4]

राम निरुत्तर हो जाते है । निश्चय ही वे कैकेयी के तुष्ट्यर्थ यह निष्क्रमण करते है, भरत की 'मायप भगति' का तो विचार भी मन मे नही उठता । राम अपने को अपराधी अनुभव करते है परन्तु फिर अपने कठोर कर्त्तव्य का उल्लेख करके अपने मन को तथा भरत को सात्वना देते है । इतने मे ही गुरु-जन, पुरजन, परिजन, सचिव, माताएँ तथा प्रजाजन पहुच जाते है ।

रात्रि मे चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—भरत के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने के लिए ! सभा तो जुड जाती है पर बात कौन चलाए ! कौन किस प्रकार इस अप्रिय प्रसग को प्रारम्भ करे ? आखिर राम ही मौन-भग कर प्रश्न करते है—

हे भरत भद्र अब कहो अभीप्सित अपना[5]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १७२
२ ,, ,, ,, ,, पृ० १८२
३ ,, ,, ,, ,, पृ० १७२
४ ,, ,, ,, ,, पृ० १७२
५ ,, ,, ,, ,, पृ० १७

राम की गभीर गिरा सुनते ही सब सजग हो जाते है—सबका स्वप्न-सा भग हो जाता है। और भरत को तो यह प्रश्न मम-स्थल की चोट के समान विकल ही कर देता है। उनकी उद्रिक्त ग्लानि फूट पड़ती है—

> हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
> मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
> पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
> रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
> तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
> क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
> हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
> निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
> अब कौन अभीप्सित और आय वह किसका ?
> ससार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
> मुझसे मैंने ही आज स्वय मुँह फेरा,
> हे आय बतादो तुम्ही अभीप्सित मेरा।'[1]

यहा भरत अपने ऊपर ही व्यग्य कर रहे है—क्योकि उन्हे आत्म-ग्लानि है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-निन्दा मे ही राहत मिला करती है। यद्यपि उन्होने स्वय कोई पाप नही किया, किन्तु पापकर्मा कैकेयी से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए उनके मन मे ग्लानि है, और वे कहते भी है—'निज जननी के हाथ हनन था मेरा।' ग्लानि के साथ ही भरत के इन शब्दो मे निश्छल भ्रातृ-प्रेम, दैन्य तथा करुणा भी व्यजित है।—और ये सब भावनाए दीप्त है आवेग से ! निश्चय ही यहाँ कवि और भरत एकाकार हो गए है।

पूर्वोक्त उद्धरण की अतिम पक्ति मे भरत अपने पर व्यग्य करते हुए राम से अपना अभीप्सित पूछते है। राम के पास भी ग्लानि गलित भरत को ढाढस बँधाने का अचूक मन्त्र है—

> उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
> जनकर जननी ही जान न पाई जिसको ![2]

भरत तो मानो डूबते हुए बचते है, अब और क्या कहे ! परन्तु इन शब्दो मे कैकेयी को बोलने का अवसर मिलता है, उस कैकेयी को जिसे—'महि न

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १७७
२ ” ” ” ” पृ० १७८

बिचु, विधि मीचु न देई।'[1] वह एक साथ उठती है और अटल स्वर मे कहती है—

> यह सच है तो तुम लौट चलो अब घर को।
> हा जन कर भी मैने न भरत को जाना
> सब सुनले तुमने स्वय अभी यह माना
> यह सच है तो फिर चलो घर भैया,
> अपराधिन मै हूँ तात, तुम्हारी मैया।[2]

—और माता के कृत्यो पर पक्षपातपूर्ण विचार होना ही चाहिए। वास्तव मे कैकेयी का मातृत्व सदैव मुखर है वरन् यो कहिए कि उसे अपने मातृत्व का ही गर्व है। वही उसके प्राणो का सम्बल है। किन्तु भरत को निर्विकार सिद्ध करने के लिए तो वह मातृत्व की कठोर परीक्षा—पुत्र की शपथ (जिसे प्रत्येक माता बचाना चाहती है)—तक के लिए प्रस्तुत है—

> यदि मै उकसाई गई भरत से होऊँ
> तो पति समान ही स्वय पुत्र भी खोऊँ[3]

वस्तुत यहा उसके मन की घोर व्यथा ही व्यजित है। वह सारा अपराध अपना ही मानती है—मथरा तक को कोई दोष नही देना चाहती, क्योंकि—

> क्या कर सकती थी मरी मथरा दासी
> मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी[4]

कैकेयी की ग्लानि उभर आती है, वह अपने मन को दुख-दग्ध करने मे ही सात्वना पाती है। और आगे बढकर वह प्रसिद्ध लोकोक्ति 'पुत्रो कुपुत्रो न च माता कुमाता,—का अवलम्ब लेकर घोर आत्मनिन्दा करती है—

> कहते आते थे यही अभी नरदेही,
> 'माता व कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
> अब कहे सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,—
> 'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'[1]

इससे अधिक आत्मनिन्दा और क्या होगी! किन्तु कैकेयी के मन को चैन

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १७६

नहीं। वह तो अपने घोर पाप की शाँति के लिए युग-युगो तक धिक्कार सुनना चाहती है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल मे भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म मे सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वाथ ने घेरा।'[१]

आत्मग्लानि की पराकाष्ठा है। किन्तु शीलसमुद्र राम माता की ग्लानि-जन्य आत्म निन्दा कब तक सुनते। वस्तुत राम की गरिमा इसी मे है कि वे इस काण्ड की मूल अपनी विमाता के मन मे भी आत्मग्लानि न रहने दे। अत वे उसे अपने को गौरवान्वित अनुभव करने के लिए उसके चिरमजग मातृत्व को ही सहलाते है—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने जना है भरत-सा भाई।[२]

गलदश्रु कैकेयी के दयनीय पश्चाताप को देखकर उसके प्रति अन्य उप-स्थितगणो की घनीभूत घृणा भी विलीन हो जाती है। अन्त वे भावोन्मत हो राम के साथ ही चिल्ला उठते है—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई

कैकेयी को इन शब्दो से कितनी सान्त्वना मिली होगी। यहा कवि ने अपने मनोविज्ञान पाण्डित्य एव अतलस्पर्शी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। हमारे विचार मे कैकेयी के मातृत्व गौरव की स्वीकृति के उपयुक्त प्रयत्न के अतिरिक्त यदि कुछ और किया जाता तो वह अपर्याप्त किवा व्यथ ही रहता। निस्सदेह इन शब्दो का सम्बल पाकर वह गरिमा-मण्डित हो उठी होगी। थोडी देर बाद—कुछ ग्लानि एव परिताप-व्यजक करुण उद्गारो के पश्चात्—तो हम इनका वाछित प्रभाव स्पष्ट ही देखते है, कैकेयी कहती है—

मै रहूँ पकिला, पद्मकोष है मेरा[३]

इस प्रकार राम के प्रशसनीय शील-सौष्ठव के प्रभाव से चिर अनुतप्त कैकेयी भी गौरव भावना से भर उठती है। यही तो राम का पतितपावन

---

१ साकेत सस्करण, सवत् २००५, पृ० १८०
२ ” ” ” ” पृ० १८०
३ ” ” ” ” पृ० १८१

अथवा 'अधम उदारण' रूप है ।—और इस प्रसग को उपस्थित करने वाला कवि भी स्रष्टा कलाकारो की पक्ति मे स्थान पाने का अधिकारी है । साकेत के इस स्थल का महत्व असाधारण है जिसके पाठ के पश्चात् चिर अभिशसित कैकेयी के प्रति पाठक के मन मे युग-युग मे सचित सारी दुर्भावनाए नि शेष हो जाती है ।

पाण्डव-देहपात

जय भारत मे सग्रथित एक प्रकरण नहुष-पतन का विवेचन पहले ही किया जा चुका है । बस, अब एक और—देहपात-प्रसग—के दिग्दर्शन के पश्चात् इस प्रसग को समाप्त करता हूँ ।

धमराज युधिष्ठिर को महाभारत का महानरमेध देख अत्यधिक ग्लानि होती है । फिर भी लोगो के आग्रह से सिहासन सभालते है । किन्तु धृतराष्ट्र गान्धारी तथा कुन्ती भी जब वन को चले जाते है तब तो उनका धैर्य ही टूट जाता है । वे भी युयुत्सु को सब कुछ सभाल अनुज और कृष्णा सहित प्रस्थान करते है ।

बल से भूमण्डल-जय करके
ये स्वर्ग-विजय के हेतु चले ।[१]

ये सब वल्कल वस्त्र धारण किए है—तन से ही नही मन से भी तपस्वी है—

जो रत्न-जडित-से थे तन मे,
ये तृण सा उन्हे उखाड चले,
बाहर ही वल्कल धरे नही,
भीतर से राजस झाड चले ।[२]

अब चिरसगी शस्त्र भी निरर्थक है—यहा कौन किसी का शत्रु है—

निस्सार समझ शस्त्रो को भी
कर चले विसर्जित ये जल मे ।[३]

खेद का विषय है कि पाण्डवो द्वारा जल-विसर्जित ये शस्त्र मूढ मानव फिर-फिर निकाल लाता है ।

अन्तत देह-पात का समय भी आ जाता है । यह गुप्त काव्य के भव्यतम

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४२६
२ " " पृ० ४२७

प्रसगो मे से एक है। वास्तव मे 'मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसगो मे ही खुल खेलती है।'[१] सबसे पहले द्रौपदी गिरती है। अनुजो के सामने अधकार छा जाता है। किन्तु युधिष्ठिर इसे अपने मोक्ष का सर्वप्रथम सोपान मानते है, उनका कथन है—

तुम नही, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपातिता मेरी हा।

इसके पश्चात्—

बोले सहदेव तनिक चलकर
हे आर्य, अचल अब गात हुआ।[३]

किन्तु युधिष्ठिर बिना रुके ही उत्तर देते है कि यह तुम नही यह मेरा रूप-गर्व खर्वित हुआ है। फिर नकुल गिरते है—

कुछ आगे कहा नकुल ने यो
"गिरता हूँ अब मै अवश निरा।"[४]

उसे युधिष्ठिर अपनी मति गति के गर्व का ही नाश मानते है। थोडा और आगे चल अर्जुन भी धराशायी हो जाते है। उनके गिरने को धर्मराज अपने मानी मद का झडना ही समझते है—

तुम नही गिरे, झड गिरा यहा
तुममे मेरा मानी मन ही[५]

और फिर—

बोले गिर भीम अन्त मे यो—
"हे आर्य यहाँ मै भी टूटा।"[६]

भीम से महापराक्रमी भाई के पतन को अग्रज पाण्डव अपने औद्धत्य का शमन ही बताते है। अब वे स्वच्छन्द ही दीख पडते है। एक-एक करके उनके सभी भौतिक बन्धन कट जाते है। कृष्णा और अनुजो के देह-पात पर नि शेष बधन युधिष्ठिर निर्विकार आत्मा रह जाते है—

---

१ विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, प्रथम सस्करण, पृ० १२६
२ जय भारत' प्रथम सस्करण, पृ० ४३१
३ ,, ,, पृ० ४३१
४ ,, ,, पृ० ४३१
५ ,, ,, पृ० ४३१
६ ,, ,, पृ० ४३१

खुल गए सभी बन्धन मानो,
अब आप आप वे व्यक्त हुए[1]

महाभारत के इस प्रसग मे द्रौपदी एव अनुजो के देहपात के समय युधिष्ठिर उनके दोषो का उल्लेख करते है जो अनुपयुक्त है। किन्तु आलोच्य कवि ने इस पुनराख्यान मे वाछित सशोधन कर दिया है।

मार्मिक प्रसगो की यह सक्षिप्त पर्यालोचना है। ये सभी प्रसग विभिन्न पुस्तको से लिए गए है। उन सबका रचनाकाल भी एक नही है—वह ४० ५० वर्ष तक विस्तीर्ण है। दूसरे इन प्रकरणो के चयन मे मैने परिस्थिति-भिन्नता का विशेष ध्यान रखा है, जिससे कवि की व्यापक मर्मग्राहिणी तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षणी अन्तर्दृष्टि का सम्यक परिचय मिल सके। इस उपखण्ड के प्रारम्भ मे दी गई मैथिलीशरण जी की रचनाओ के मुख्य मर्मस्थलो की सूची मे कुछ की ही व्याख्या की जा सकी है—सबका व्याख्यान तो आवश्यक भी नही है। पर इतने से ही उनकी मार्मिक प्रसगो के चयन और व्याख्यान की शक्ति हृदयगम हो जाती है। हमारे कवि का मानव-जीवन के व्यवहारो, व्यापारो और शिष्टाचार का व्यापक ज्ञान उसमे सहायक सिद्ध हुआ है।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि मे मर्मस्थलो को पहचानने की अद्भुत क्षमता है। अनेक स्थलो का पुनराख्यान और नवोद्भावना उसे निश्चय ही स्रष्टा-कवियो की प्रथम पक्ति मे समासीन कर देती है।

(घ) कल्पना द्वारा भावना का उत्कर्ष

चेतना की अन्यान्य सूक्ष्म क्रियाओ के समान ही कल्पना के विषय मे भी अनेक भ्रातियाँ एव परस्पर भिन्न तथा विरोधी मान्यताएँ है। उसे परिभाषा-बद्ध करना असम्भव है। इसलिए कुछ लोग तो उसे अलौकिक अथवा ऐन्द्र-जालिक कहकर ही सतुष्ट हो रहते है। लेकिन मेधावियो का चिरविश्लेषणरत मस्तिष्क इस विषय मे निरन्तर यत्नशील है। विदेश के व्युत्पन्न पडित एव

---

१ जयभारत प्रथम सस्करण, पृ० ४३२

प्रौढ आलोचक डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' में इस शक्ति के छ: विभिन्न प्रयोगों का निर्देश किया है।[१] कोलरिज, एडीसन, रस्किन आदि विद्वान् उनसे पहले भी इस विषय पर प्रकाश डाल चुके है। वस्तुत: विदेश के काव्य-शास्त्र में कल्पना का काफी महत्व है—वह काव्य के प्रमुख तत्वों मे से एक है। लेकिन संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे विदेशी काव्य-शास्त्र के समान उसका पृथक् विवेचन उपलब्ध नही है। फिर भी उसकी सत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। ध्वनि, लक्षणा-व्यजना तथा अधिकाँश अलकार कल्पना-आधृत ही है। वास्तव मे 'काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नही—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो।[२] बात भी ठीक है, कल्पना-प्राचुर्य ही तो कवि और जनसाधारण का भेदक तत्त्व है। तब फिर काव्य-शास्त्र मे कल्पना के अभाव की तो कल्पना भी असह्य है। हाँ, प्रतिपादन की पद्धति भिन्न हो सकती है। देशी और विदेशी साहित्य मे कल्पना के अनिर्दिष्ट और निर्दिष्ट रहने का यही रहस्य है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार कल्पना शब्द की मूल धातु है—क्लृप्—जिसका अर्थ है सृजन की सामार्थ्य। अत कल्पना शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ सृजन-शक्ति। शायद इसीलिए अपने यहाँ कवि को प्रजापति का गौरव प्रदान किया गया है। लेकिन आज कल्पना मे केवल सृजन नही वरन् और भी बहुत कुछ सम्मिलित है। उसके प्रयोग के कम से कम छ: विभिन्न रूप तो है ही।—इन षड्रूपों का विवेचन हिन्दी में प्रोफेसर नगेन्द्र लिखित निबन्ध 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग'[३] तथा अग्रेजी मे रिचर्ड्स विरचित 'प्रिंसिपल्स ऑफ् लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक मे देखा जा सकता है।[४] —और यदि कल्पना के व्युत्पत्त्यर्थ—सृजन—को बहुत दूर तक खीचा जाए तो उसमे इन सभी रूपों का समाहार किया जा सकता है।

मैथिलीशरण जी के काव्य मे प्राय: कल्पना के सभी प्रयोग मिल जाएँगे। इसका सबसे पहला कार्य है चित्र की सजीव उपस्थिति। सजीव उपस्थितीकरण के लिए आवश्यक है कि वर्ण्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों को उपस्थित न करके

---

१. दे० Sixth impression, pp 239-243.

२. विचार और अनुभूति, प्रोफेसर नगेन्द्र, द्वितीय सस्करण, पृ० २०

३. विचार और अनुभूति में संकलित

4. Sixth impressson, PP. 239—253

कुछ प्रमुख तत्वो को ही सामने लाया जाए जो सम्पूर्ण का बिबग्रहण कराने मे सक्षम हो। कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभव करने के बाद उसे खडित कर कुछ का त्याग तथा कुछ का ग्रहण करता है। और फिर अन्त मे, गृहीत खण्डो की इस प्रकार योजना करता है कि एक नवीन, पर पूर्ण चित्र बन जाता है।[1] इस विषय का विस्तृत विवेचन चित्रण-कला के अन्तर्गत किया जाएगा। यहा केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते है—

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी
चचल जल कल-कल मानो तान ले रहा है अब भी !
नाच रहे है अब भी पत्ते मन से सुमन महकते है,
च द्र और नक्षत्र ललककर लालच भरे लहकते है ॥
वैतालिक विहग भाभी के सम्प्रति ध्यानलग्न-से है,
नये गान की रचना मे वे कवि कुल तुल्य मग्न से है।
बीच-बीच मे नतक केकी मानो यह कह देता है—
मै तो प्रस्तुत हूँ, देखे कल कौन बडाई लेता है ॥[2]

पचवटी की निस्तब्ध रात्रि का चित्र है। असख्य प्राकृतिक पदार्थो का मौन सौन्दर्य द्रष्टव्य रहा होगा। किन्तु कवि सभी वस्तुओ का उल्लेख नही करता। वह केवल पत्तो के नाचने, फूलो के महकने, नक्षत्र और चन्द्रमा के लहकने तथा पक्षियो के निद्रामग्न होने का ही वर्णन करता है। इन तीन-चार चीजो के उल्लेख से ही रात्रि की घोर निस्तब्धता, एकात नीरवता व्यजित है। शेष रही गोदावरी नदी के तट की ताल तथा मयूर-ध्वनि। यह ताल और ध्वनि नीरवता-भजक प्रतीत हो सकती है—किन्तु ऐसी बात नही है। गोदावरी के तट की दूरागत ताल तथा बीच-बीच मे उठने वाली मोर की आवाज क्या निस्तब्ध नीरवता को बढानेवाली नही है ! वस्तुत यह ध्वनि चित्र मे वास्तविकता और सजीवता का समावेश ही करती है। यह तो हुआ प्राकृतिक दृश्य। सिद्धराज, साकेत और जय भारत आदि मे उत्कृष्ट मानवीय चित्र भी देखे जा

---

1 The great artist, seeing a landscape, breaks it up, accepts this and rejects that, and finally brings the pieces together again to make a new whole —Ruskin as Literary Critic (Selections) edited by A H R Ball, ed 1928, PP 18

२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृष्ठ १०-११

सकते हैं। इस विषय में यह उल्लेख्य है कि कवि ने बड़े कौशल से प्रायः उन सबको पाठक के लिए ग्राह्य बना दिया है। यह सब कल्पना के द्वारा ही हो सका है, यद्यपि डा० रिचर्ड्स के अनुसार यह कल्पना का सबसे कम रोचक एवं सामान्यतम प्रयोग है।[1]

अप्रस्तुत-विधान का मूलाधार भी कल्पना ही है। साम्य एवं वैषम्यमूलक अलंकारों तथा रूपकों की योजना में इसका विशेष प्रयोग हुआ करता है। कविगण अपनी भावनाओं को प्रबलता सहित प्रेषित करने के लिए आलंकारिक भाषा का प्रयोग करते हैं। निश्चय ही अलंकरण का समुचित उपयोग—उपयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोग—कवि की अनुभूति को स्पष्टतर एवं संवेद्य बनाता है। यही उसकी उपादेयता है। लेकिन जब अप्रस्तुत की योजना में कवि दूर की कौड़ी लाने लगते हैं, जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाने लगते हैं तब वह व्यर्थ खिलवाड़ और काव्य के लिए भार बन जाती है। हमारे कवि में खिलवाड़ की यह प्रवृत्ति आपको नहीं मिलेगी। उसके अप्रस्तुत-विधान का विशेष विवेचन तो कलापक्ष के अन्तर्गत होगा, यहाँ पर केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) चिर नव यौवना शची क्या हँसी खेद से
निकली क्षणिक धूप वर्षा के विभेद से।[2]

(२) आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत सा।[3]

(३) उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?[4]

यहाँ प्रथम उद्धरण में शोक-संतप्त इन्द्राणी के क्षणिक हास्य को संबद्ध

---

1 The Production of vivid images is the commonest and the least interesting thing which is referred to by imagination.

—Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, Page 239

२ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० १०

३ हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृ० १८

४ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १६५

बनाने के लिए वर्षा के उपरात क्रिवा पावस को विदीर्ण कर फूट उठने वाली धूप को अप्रस्तुत के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय मे हिडिम्ब के विषय मे अपने मन मे उत्थित भाव को कवि ने प्रेष्य बनाया है यमदूत और भीरुओ की कल्पना के सच्चे भय-भूत का उल्लेख करके । यमदूत बहुत विरूप और विकराल माने जाते है । किन्तु चिर परिचय के कारण अब इसमे भाव सवेदन की सामर्थ्य नही रही । अत कवि सवेदनीयता के निमित्त एक और कल्पना प्रचुर उदाहरण देता है । जरा-सा खटका होते ही भीरुओ के मन मे अनेक आशकाएँ उठने लगती है—उनके मन का भय भीषण रूप धारण करके उनकी कल्पना मे घूमा करता है । भूत, डाकू अथवा ऐसा ही कोई और क्रूर-कराल नाम सुनते ही मन मे जमी हुई वह भीषण मूर्ति ही उभर आया करती है । उस काल्पनिक भीषण मूर्ति को ही क्रूरकर्मा हिडिम्ब का उपमान बनाया गया है ।

तीसरे उदाहरण मे भावबरिष्ठ रूपक की योजना है । ताम्र के स्वर्ण बनाने की रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा उर्मिला के विरह की गरिमा और उस विरह का वर्णन करनेवाली कवि की शब्दावली की महिमा का बखान हुआ है । आप देखेगे कि इन तीनो उद्धरणो मे कल्पना-गृहीत अप्रस्तुत पाठक मे अभिलषित भावना के उदबोधन मे समर्थ है । अप्रस्तुत के विधान मे कल्पना का वास्तविक उपयोग भी यही है ।

दूसरो की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार—उसको अनुभव करने की शक्ति भी कल्पना के नाम से अभिहित की जाती है । यद्यपि यह कल्पना का काफी सकुचित अर्थ है,[1] परन्तु फिर भी कवि—विशेषत प्रबन्धकवि—मे इसका होना आवश्यक है । मैथिलीशरण कुशल प्रबन्धकार है, उनमे यह प्रभूत परिमाण मे विद्यमान है । शतश पात्रो से वे सहज ही तादात्म्य स्थापित कर सके है । सवेदनीयता के प्रसग मे पहले ही इस विषय पर विचार कर आए है । यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मानता हूँ तुमने निभाया निज धर्म है ।
कि तु इस कारण अधीन नहीं हूँगा मै,

---

1 A narrower sense (of imagination) is that in which sympatthetic reproducing of other people's states of mind, particularly their emotional states is what is meant

—Principles of Literary Critism by I K Richards,

जीवन-मरण दोनो एक से हैं वीरो को।
अब भी स्वतन्त्र है अवन्ती निज शक्ति से,
मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत मे
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पचतत्व मेरी पुण्यभूमि के है मुझमे,
कहला रहे है यही मुझसे पुकार के—
हम परतन्त्र नही सवथा स्वतन्त्र है।[1]

यह वीरवर जगद्देव की उक्ति है जेता जयसिंह के प्रति। मातृभूमि के प्रति कितना सबल अनुराग है! यद्यपि यहाँ जन्मभूमि बहुत सकुचित अर्थ मे गृहीत है—केवल अवन्ती प्रदेश तक ही वह सीमित है। किन्तु मध्ययुग मे उसका यही अभिप्राय था। जगद्देव की इस सबल देशभक्ति का कवि ने अनुभव किया—अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर उसकी मनोदशा का भावन किया है। तभी तो इस उद्धरण मे भाव प्रवणता आ सकी है।

आविष्कार के अर्थ मे भी कल्पना शब्द प्रयोग हुआ करता है। साधारणत कल्पना के इस रूप का उपयोग अदभुत एव असभाव्य के विधान मे किया जाता है जैसा कि देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता सतति मे हुआ है। किन्तु आदभुत्य मे हमारे कवि का विश्वास नही है। उसने तो यथासम्भव सभी पात्रो एव घटनाओ को मानवीय रूप दने का प्रयास किया है। हाँ, उसने आविष्कार किया है नवीन पात्रो, परिस्थितियो एव घटनाओ का। 'विभिन्न काव्य-रूपो का प्रयोग' मे इन बातो पर विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर इस विषय मे इतना ही निवेदन करना चाहूँगा कि उन उद्भावनाओ मे कवि ने सदैव भाव की सरसता और उत्कर्ष का ध्यान रखा है। यशोधरा और राहुल का निम्न वार्तालाप देखिए—

"अम्ब, यह पछी कौन, बोलता है मीठा बडा,
जिसके प्रवाह मे तू डूबती है बहती।"
"बेटा यह चातक है।" "माँ, क्या कहता है यह ?"
"पी-पी, किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती ?"
"और यह पछी कौन बोला वाह!" "कोयल है"
"माँ, क्यो इस कूक की तू हूक-सी है सहती ?

---

१ सिद्धराज, सस्करण सवत् २००३, पृ० ४३

कहती—उमग से है मेरे सग सग अहो !
'कहो कहो' किन्तु तू कहानी नही कहती !"[1]

कवि कल्पना-प्रसूत यह वार्तालाप कथा-प्रसग म रोचकता का सपादन करने वाला तथा रस का उपकारक है। इसी प्रकार अर्णोराज क प्रथम दर्शन पर राजकुमारी काचनदे का कल्पना-चित्र भी दर्शनीय है—

पहुँची पर तु ज्यो ही मन्दिर मे सुन्दरी
दीखा आप अर्णाराज सम्मुख अलिन्द मे,

× × ×

सकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वय बन्दिनी-सी हो उठी !
आके जडता ने उसे जकड लिया वही,
स्तम्भ वह भी था, अवलम्ब लिया जिसका !
हो गए अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप भार कब तक झिलता ?
आहा ! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई[2]

सिद्धराज का वृत्त ऐतिहासिक हे। पर उपर्युक्त अनुभावो का विवरण तो किसी भी इतिहास म नही मिल सकता। इनकी योजना कवि ने अपनी कल्पना द्वारा की हे, और यह याजना निश्चय ही भाव को उद्बुद्ध करती है।

रिक्त स्थानो को भरने तथा लुप्त एव विस्मृत कारणो का सधान करने वाली कल्पना का अन्तर्भाव भी आविष्कर्त्री कल्पना के अन्तगत ही किया जा सकता है। मैथिलीशरण मे कल्पना का यह रूप भी उपलब्ध है। दशरथ-पत्नियो के सहमरण प्रस्ताव, चित्रकूट-सभा मे कैकेयी के सफाई पेश करने तथा सिद्धराज मे राजमाता मीलनदे से खड्ग प्राप्त करने वाले बालक एव जयसिह से मिलने वाले महोबे के गृह सचिव को एक ही व्यक्ति मानने आदि मे इसी शक्ति का प्रभाव है।

अब लीजिए कल्पना का सबसे महत्वपूर्ण एव सशक्त प्रयोग जो कि कवि-आलोचक कोलरिज की साहित्य शास्त्र को सबसे बडी देन है। वह यह कि विषम और विरोधी तत्त्वो को पचा लेना—नाना भावो को आत्मसात् कर लेना किसी कलाकार की विराट कल्पना शक्ति का परिचायक है। कोलरिज इसे

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् १९९७, पृ० ५२
२ सिद्धराज, सस्करण सवत् १९९३, पृ० ९२-९४

समन्वय एव जादू की शक्ति (Synthetic and magical power) कहते है। आलोच्य कवि मे समन्वय और जादू की यह शक्ति खूब बढी-चढी है। रग मे भग से लेकर जय भारत तक न जाने उसने कितने प्रकार के पात्रो से तादात्म्य स्थापित किया, न जाने कितनी परिस्थितियो मे मन रमाया। राम और रावण, युधिष्ठिर और दुर्योधन, सीता और शूर्पणखा जैसे विरोधी पात्रो का एक-सी तन्मयता से चित्रण साधारण बात नही है। सिक्ख गुरुओ और मुसलमानो के धार्मिक नेता हसन और हुसैन को भी उन्होने अपने काव्य का विषय बनाया। इससे एक ओर जहाँ कवि की हृदयगत विशालता की सूचना मिलती है वहा दूसरी ओर उसकी अद्भुत कल्पनाशक्ति का परिचय भी। परिस्थितिया भी जितनी जीवन और जगत् मे सम्भव है सभी मिल जाएँगी। मानव-जीवन मे सम्भव सभी सम्बन्धो मे रमने वाला तो तुलसी के बाद यह अकेला ही कवि है। सबसे बडी बात यह है कि उसने इन सभी विषमताओ और विभिन्नताओ को पूर्ण भावुकता के साथ अपनाया है, वह इन सब मे रम सका है।

अग्रेज़ आलोचक एडीसन तो मानवीकरण को कल्पना के प्रयोगो मे परिगणित करते हे।[१] किन्तु हमने इसका विवेचन अभिव्यजना-कौशल के अन्तगत किया है। वास्तव मे इसका उचित स्थान भी वही है। अन्यथा यो तो काव्य के अग-प्रत्यग मे कल्पना को न्यूनाधिक खोज की जा सकती है। अस्तु!

मैथिलीशरण कृत कल्पना के विभिन्न रूपो के प्रयोग के उपर्युक्त दिग्दशन के पश्चात् हम कह सकते ह कि उनकी प्रतिभा इस शक्ति के प्राय सभी रूपा से पुष्ट है।—और उन्होने इसका भरपूर उपयोग किया है। किन्तु उनके काव्य मे कल्पना का यह उपयोग तमाशा खडा करने के लिए नही वरन् भावोत्कषक बनकर आया है। यह सदैव भावप्रवण ही है। एकाध दोष भी मिल सकता है जैसे पूर्वोल्लिखित मकडे और मक्खी वाले रूपक[२] मे न अनुपात है—और न ही लालित्य। पर ऐसे स्थल अत्यन्त न्यून और नगण्य है। कुल मिलाकर इस

---

१ There is another sort of imagiuary beings, that we some times meet with among the poets, when the author repre sents any passion, appetite, virtue or vice, under a visible shape, and makes it a person or an actor in his poem

Loci Critici by Saintsbury
editioo 1931, page 200

२ वहाँ सूर्य और पृथ्वी का रूपक मकडे और मक्खा से बाधा गया है।

कवि की कल्पना काफी सशक्त, विराट और सृजनात्मक है। विराटता उसकी कल्पना मे अद्भुत है, जीवित कवियो मे तो सबमे अधिक है। राम का अनन्य भक्त होते हुए भी यह कवि रावण की सहृदयता पर मुग्ध हो सकता है।[1] मेघनाद वध अनूदित होने पर भी कवि की विषम एव विरोधी तत्त्वो को ग्रहण करने की क्षमता का सूचक है। निश्चय ही "इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्ही विश्वदर्शी कलाकारो मे हो सकती है, जिनके हृदय विशाल हो, जो जगत् की विभिन्नताओ को पचा सके।"[2]

(च) भाव-चित्रण में उद्देश्य : भोग अथवा उन्नयन

गुप्त जी के काव्य मे विभिन्न भावो की व्यक्ति पर विचार किया जा चुका है। किन्तु इस भाव व्यजना मे अन्तर्निहित उद्देश्य क्या है ?—भोग अथवा उन्नयन ? जहा भाव का तन्मय चित्रण मात्र होता है, किसी महत्तर लक्ष्य मे उसकी परिणति नही होती वहा उसका भोग होता है। लेकिन जब कवि भाव के चित्रण पर ही बस नही कर देता, उसका आदर्शीकरण करता है तब भाव का उन्नयन हुआ करता है। भाव का यह उन्नयन ही 'मनुष्यता की उच्च भूमि' है।—यही शिवत्व और श्रेयस् है। मनोविकारो का आदर्शीकरण निश्चय ही हमे परिमिति के क्षेत्र से, व्यक्तिगत जीवन के सकोच और सीमाओ से बाहर ला खडा करता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे—"आदर्श की स्थिति ऊजस्वित जीवन की मान्यता मे है।"[3] 'ऊजस्वित जीवन' ही तो कविता का काम्य है, उसका चरम ध्येय है। आचार्य शुक्ल ठीक ही कहते है—"कविता भावो या मनोविकारो के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है।"[4] अपने सुख-साधन की चिन्ता, व्यक्तिगत राग-द्वेष की परितुष्टि

---

१. दे० साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २९२

२ विचार और अनुभूति—प्रोफेसर नगेन्द्र, द्वितीय सस्करण, पृ० ७४

३ साहित्य शास्त्र, प्रथम सस्करण, पृ० ५५-५६

४ रस-मीमासा, प्रथम सस्करण, पृ० ७६

तो पशु भी कर लेते है। परन्तु मानव—'मनुष्यता की उच्च भूमि' पर पहुँचा हुआ मानव—वही है जिसकी भावना का प्रसार हो गया हो। जिसका व्यक्तित्व इतना विशद, विशाल एव व्यापक हो गया हो कि उसमे स्वजन-परिजन, बन्धु-बान्धव, देशवासी ही नही मनुष्य मात्र, वरन् उससे भी बढकर प्राणी-मात्र का समाहार हो जाए। जो काव्य भाव के ऐसे प्रसरण की, हृदय और दृष्टिकोण के इस व्यापकत्व की प्रेरणा देता है वही सच्चा और श्रेष्ठ काव्य है। बाकी सब तो मनोरजन अथवा वाणी का विलास मात्र है।

आलोच्य कवि सदैव शिवत्व का पक्षपाती रहा है। भाव के भोग मे नही उन्नयन मे ही उसका विश्वास रहा है। इसीलिए उसकी अधिकाश कृतियो मे उदात्त जीवन अथवा मनुष्यता की उच्च भूमि के दर्शन हो जाते है। आदर्शीकरण पर विशेष ध्यान रहने के कारण ही मैथिलीशरण जी के विपुल-परिमाण काव्य मे सयोग शृगार, जो सदैव भोग-प्रधान ही हुआ करता है, बहुत कम मिलता है। उसकी स्थिति सिन्धु मे बिन्दु के समान है। इसके विपरीत भोगवादी कवियो मे उसी का प्रामुख्य मिला करता है। किन्तु उन्होने शृगार के विप्रलभ पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है—क्योकि उसमे भाव के उन्नयन का अधिक अवकाश रहता है। विरह-विह्वल यशोधरा की रति का ऊर्ध्वायन देखिए—

जाय, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हो इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मै किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते![1]

गौतम के महाभिनिष्क्रमण पर यशोधरा दुखी है—किन्तु उनमे उस दुःख की प्रतिच्छाया देखना नही चाहती वरन् उनकी सिद्धि की ही कामना करती है। उसे तो वे आज और भी अधिक भाते है क्योकि लोक का कल्याण इसी मे है। परार्थ और परमार्थ के लिए वह सहर्ष स्वार्थ का त्याग करती है—

मेरे दुख मे भरा विश्वसुख, क्यो न भरूँ मै हामी!
बुद्ध शरण, धर्म शरण, सघ शरण गच्छामिऽ![2]

भाव का कैसा अनुकरणीय उन्नयन है। विश्वसुख के निमित्त अपने जीवनाधार के चिर अभिलषित सपर्क के त्याग से बढकर और क्या त्याग हो

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० २५
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १८७

सकता है ? सुधाशु जी तो शायद इसके मूल मे भी स्वार्थ की खोज करना चाहेगे।[१] पर विश्वबन्धुत्व का प्रतिष्ठापक यह स्वार्थ भी स्तुत्य है। नववय मे ही विश्लिष्ट उर्मिला-विरह मे भी स्वाथ-लोप का सौन्दय देखा जा सकता है—

मुझे भूल कर ही विभु-वन मे विचरे मेरे नाथ,
मुझे न भूले उनका ध्यान।[२]

यहा प्रेम की सात्विकता दशनीय है—प्रतिपादन की लेशमात्र भी आकाक्षा नही। "सच्चा प्रेमी" जैसा कि बाबू गुलाबराय कहते है, "प्रेमास्पद को पाना नही चाहता है वरन् अपने को उसमे खो देना चाहता है।"[३] उर्मिला के विषय मे भी यही सत्य है। वह स्वय तो लक्ष्मण के ध्यान मे डूब जाना चाहती है, किन्तु यह नही चाहती कि उसकी स्मृति म एक क्षण के लिए भी उनके कार्यकलाप मे बाधक बने। सात्विकता के साथ ही उर्मिला के वियोग मे 'आदर्श का गौरव' भी है। स्वप्न मे भी उसे अवधि से पूव लक्ष्मण का आगमन सह्य नही, इसकी कल्पना से ही वह अस्थिर हो उठती है—

वह नही फिरे क्या तुम्ही फिरे ?
हम गिरे अहो ! तो गिरे, गिरे।[४]

विश्वप्रेम भी उर्मिला मे विकसित हुआ है, पर यशोधरा जैसा नही। हरित-भरित, उल्लसित-आनन्दित वस्तुए प्राय विरहिणियो को रुचिकर नही होती वरन अपने जीवन से मेल न खाने के कारण वे उन्हे ईर्ष्या-दग्ध किया करती है। सूरदास की गोपियाँ इसीलिए तो मधुवन मे बरस पडी थी—

मधुवन तुम कत रहत हरे !
आदि।

किन्तु उर्मिला के विरह मे यह बात नही है। वह दूसरो के सुख को देख दुखी नही होती अपितु उन्हे ही हष विभोर रहने को कहती है—

---

१ मूल रूप मे मनुष्य स्वार्थी है, इसी कारण परार्थ और परमार्थ के अन्तर्गत कहा न कही स्वार्थ अवश्य छिपा बैठा पाया जाता है। जब तक स्वार्थ की प्रेरणा न हो तब तक जीवन में कोइ क्रिया, कोइ द्वन्द्व लक्षित नहीं होता।

—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त,
द्वितीय सस्करण, पृ० १२

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ४६८

३ सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय सस्करण, पृ० १०१

४ साकेत, सस्करण सवत् [illegible], पृ० [illegible]

हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो, हिंडोरे पर बैठ भूलो।
यथेष्ट मै रोदन के लिए हूँ,
झडी लगा दूँ इतना पिये हूँ।[1]

इतना ही नही वह तो अपने अतिरिक्त और किसी को दुखी देखना ही नही चाहती। उसका तो विश्वास है कि जब सभी सुखी होगे तो एक-न एक दिन उसके सुखी होने का भी अवसर आ ही जाएगा—

तरसू मुझ-सी मै ही, सरसे हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी बारी।[2]

उर्मिला की यह व्यापक सुख-भावना उसके विकसित व्यक्तित्व की ही सूचक है। यद्यपि जैसा कि प्रोफेसर नगेन्द्र का भी मन्तव्य है, उर्मिला का व्यक्तित्व लुप्त नही हो पाया है।[3] फिर भी उसकी दृष्टि और हृदय के व्यापकत्व से इन्कार नही किया जा सकता। प्राकृतिक पदार्थो तक विस्तीर्ण उर्मिला का यह 'हृदय-प्रसार' अभिनन्दनीय है। अस्तु!

ऊपर दाम्पत्य प्रेम के उन्नयन का दिग्दर्शन हुआ है। पर रति भाव यही तक सीमित नही उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वस्तुत व्यापक अर्थो मे सभी प्रेम सम्बन्ध उनमे समा जाते है। इनमे से देव-विषयक रति तो स्वय एक उन्नत भाव है। किन्तु गुप्त जी ने अन्यान्य प्रकारो को भी उन्नमित किया है। धमराज युधिष्ठिर को बन्धुओ के बिना स्वग भी स्वीकाय नही है। नरक से कर्ण, भीमार्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी का करुण चीत्कार सुन वे स्वय भी वही रहने का निश्चय कर लेते है। देवदूत को कह देते है—

जाओ तुम यही रहूँगा मै
इन आत्मीयो के साथ सदा
स्वर्गाधिक नरक सहूँगा मै
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे
सादर सौ धयवाद देना
कहना, मै हूँ सन्तुष्ट यही
मुझको वह स्वग नही लेना।[4]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २१६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २१२
३ दे० साकेत एक अ ययन, पचम सस्करण, पृ० ७८
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४४१

आत्मीयो के साथ सुख-दु ख भोगने के लिए योगियो और तपस्वियो के काम्य स्वग का भी तिरस्कार !—कितना विशाल हृदय चाहिए ऐसे महाघ त्याग के लिए ! परन्तु ये तो फिर भी बन्धु थे—अपने थे । युधिष्ठिर तो सहचर श्वान को भी छोडने को प्रस्तुत नही । स्वर्गारोहण-प्रसग मे मातलि ऐन्द्रिक स्यन्दन लेकर आता है, और युधिष्ठिर से उसमे बैठ बैकुण्ठ को चलने की प्राथना करता है । लेकिन जब वह साथी कुत्ते का साथ न ले चलने का परामश देता है तब युधिष्ठिर स्वय भी जाने से इन्कार कर देत है—

तुम जाओ मेरा भाग्य नही,
जो मै सुदेव-दशन पाऊँ,
शरणागत, अनुजाधिक सहचर
यह श्वान छोड क्योकर जाऊँ ![1]

व्यक्तित्व का इससे अधिक और क्या विकास होगा ?—सर्वभूतहितकामना का इससे बढकर और क्या निदशन हो सकता है ? यद्यपि वह श्वान स्वय धम ही था—किन्तु युधिष्ठिर तो इस रहस्य से अपरिचित थे । अत निर्विवाद रूप से यहाँ धर्मराज के मनोगत भाव का उन्नयन सौन्दर्य ही उद्भासित है । रग मे भग के हाडा कुभ मे यही भावना देशप्रेम बनकर आई है । बूदी के दुग की प्रतिकृति के दशन से भी वह भाव-गद्गद हो उठता है ।—अपने प्राणो का भी मोह त्याग उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है—

यदपि मेरा काल अब मेरे निकट आता चला,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला ।
जबकि एक न एक दिन मरना सभी को है यहाँ,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जसा कहाँ ![2]

यहाँ देशप्रेम की वरिष्ठ भावना के साथ-साथ वीर का उन्नयन भी दशनीय है । यदि उत्साह की उद्बोधक भावना-भूमि अथवा धन-हरण या फिर विजय-यश की लालसा होती तो वह उसका भोग होता । पर यहाँ इनमे से कोई भी बात नही है । मान-रक्षा—वह भी व्यक्तिगत नही जाति और देशगत मान की रक्षा—ही उसे इस कर्म मे प्रवृत्त करती है । बस, यही भावना का उन्नयन हो जाता है । सचमुच हाडा कुभ के इस सात्विक उत्साह मे अद्भुत आकर्षण है ।—और अब देखिए कुन्ती के स्त्री-हृदय का ऊर्जस्वित ओज—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४३६
२ रग में भग, सस्करण वत् २०१३, पृ० २६

तो एक यह भी कार्य है
यह भी उन्हे अनिवार्य है,
आशीष दो करलें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मारकर !
हो धय पुर-उपकार कर,
या कीर्त्ति ले कर सूर्य-मण्डल विद्ध वे ![1]

वक-सहार प्रसग मे वक के खाने के लिए एक मनुष्य भेजने की बारी जब पाण्डवो के आश्रयदाता ब्राह्मण परिवार की आ जाती है, तब कुन्ती उन्हे शोकाकुल देख अपना एक पुत्र भेजने की बात कहती है। ब्राह्मण उन्हे मना करता है। उसका कथन है कि तुम्हारे पुत्रो को अभी बहुत से सत्कार्य करने है। इसी का उत्तर कुन्ती उपर्युक्त पक्तियो मे दे रही है। उनका क्षत्रियत्व—लोक-रक्षक रूप—उनके मातृत्व पर हावी है। स्वार्थ को त्याग परार्थ और परमार्थ की इस कामना मे निस्सदेह भाव का औदात्त्य है। आश्रयदाता ब्राह्मण परिवार के ही नही समस्त पुरवासियो के कल्याण की इस व्यापक भावना का उदय किसी उन्नतमना उदाराशय व्यक्ति के हृदय मे ही सभव है।

करुण के मूल मे प्राय व्यक्तिगत इष्टनाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति रहा करती है। किन्तु इस भाव का उन्नयन वहा होता है जहाँ इसका आधार व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है। जयद्रथ-वध मे उत्तरा का विलाप प्रथम प्रकार का है—वहा करुण का भोग हुआ है। किन्तु भारत-भारती मे उसका उन्नयन मिलता है क्योकि उसकी मूल प्रेरणा—

हम कौन थे, क्या हो गये है और क्या होगे अभी।[2]

—देशव्यापी इष्टनाश और अनिष्टाप्ति है। उसमे कवि का शोक उन्नत और उदात्त रूप मे प्रकट हुआ है। गौतम की करुणा मे तो इससे भी अधिक व्यापकत्व है—वह देश और काल की सीमाओ मे भी बद्ध नही है—

बता जीव, क्या इसीलिए है
यह जीवन का फूल हाय !
पका और कच्चा फल इसका
तोड तोड कर काल खाय ![3]

---

१ वक सहार, सस्करण सवत् २००७, पृ० ३१
२ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ८
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १५

इस व्यापक सहानुभूति के कारण ही तो वे सर्वत्र कल्याण-केतु उडाना चाहते है।[1]

क्रोध ऐसा भाव है जिसका साधारणत भोग ही हुआ करता है। केवल पर कल्याण के निमित्त क्रोध करनेवाले बहुत कम मिला करते है। क्रोध का यह रूप निश्चय ही दैवी सम्पद् है।[2] लक्ष्मण का क्रोध ऐसा ही श्रेयस्कर क्रोध है—

भरत होकर यहाँ क्या आज करते।
× × ×
भला वे कौन है जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवे!
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।

× × ×

"रहूँ!"—सौमित्रि बोले—"चुप रहूँ मै?
तथा अन्याय चुप रह कर सहूँ मै
असम्भव है कभी होगा न ऐसा,
वही होगा कि है कुल-धर्म जैसा।"[3]

राम को वनवास और भरत को राज्य देने की बात सुनकर लक्ष्मण उबल पडे। यह क्रोध का उन्नयन है जिसमे स्वार्थ-रक्षा की नही परहित तथा मर्यादा-रक्षा की भावना अन्तर्निहित है।

साराश यह कि आलोच्य कवि भाव की व्यजना मात्र से सन्तुष्ट नही है। वह उच्चतर लक्ष्य मे उसकी परिणति का प्रयास करता है। और स्पष्ट शब्दो मे उसके काव्य मे भाव का भोग नही वरन् उन्नयन ही मिलता है।

---

१ यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृ० १९
२ दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, द्वितीय संस्करण, पृ० ६६
३ साकेत, संस्करण संवत् २००८, पृ० ५९-६०

मूल्यांकन

गुप्त जी के भाव पक्ष के सागोपाग विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हे कि उनका भाव क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। उनके काव्य मे जीवन मे सभव सभी भावनाएँ और भावनाओ के विभिन्न स्तर गृहीत हैं। प्रधान मनोविकारो का चित्रण तो साधारण कवियो मे भी मिल जाता है—किन्तु आलोच्य कवि की रचनाओ मे सभी सचारी भी सहज प्राप्य हैं।—और शास्त्र बाह्य सचारी तो मानव-जीवन मे उसकी गहरी पैठ के परिचायक है। आलम्बनो और उद्दीपनो मे भी अपार वैविध्य है तथा परि-स्थिति-योजना मे तो इस कवि को कमाल ही हासिल है। उधर आलम्बन और उद्दीपन का अकृत्रिम सामजस्य भी दर्शनीय है।

विस्तार और वैविध्य के साथ ही मैथिलीशरण जी मे अदम्य प्राबल्य है। यद्यपि सूक्ष्मता अधिक नही है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नही। नवीन अर्थात् शास्त्र मे अनुल्लिखित सचारी अन्तर्प्रवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि के ही तो प्रमाण है। फिर भी उनकी भावना को सवेद्य बनानेवाला सबसे बडा तत्त्व तीव्र प्रबलता ही है—भाव की प्रबल अनुभूति के कारण ही वे बिम्ब-ग्रहण कराने मे समर्थ हो सके हे। और मार्मिक प्रसगो को पहचानने की तो इस कवि मे अद्भुत क्षमता है।—मर्मस्थलो का सन्धान और चयन ही तो प्रबन्ध-कवि की गौरव-कसौटी है। हमने गुप्त जी की रचनाओ मे प्राप्त केवल कुछ मार्मिक स्थलो की व्याख्या की है, बडी मुश्किल से वे दशमाश ही होगे। प्रबुद्ध भावुकता के परिचय के निमित्त इतना ही पर्याप्त है। यही पर यह भी उल्लेख्य है कि उनमे भावुक क्षणो और प्रसगो के चयन की ही नही सृजन की भी प्रतिभा है जिसके आधार पर उनकी गणना स्रष्टा कलाकारो मे की जा सकती है। चयन सृजन-सक्षम इस सघन भावुकता को कल्पना ने और भी दीप्ति एव औज्ज्वल्य प्रदान किया है। यद्यपि कल्पना की विस्मयकारी उडान और रगीन विलासिता इस कवि मे नही मिलेगी पर उसकी विशदता एव निरटता निश्चित रूप से प्रशस-नीय है। इसके अतिरिक्त भाव के भोग की अपेक्षा उन्नयन के आग्रह ने उसे—उसकी भावुकता को—श्रेयस्कर, शिवत्व की महिमा से मण्डित भी कर दिया है।

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी का भाव-पक्ष काफी समृद्ध है। उनके भाव-क्षेत्र का अपरिमित विस्तार, भावना का अनियन्त्रित प्राबल्य, मार्मिक प्रसगो

क चयन ग्रोर सृजन को ग्रमोघ शक्ति, कल्पना की ग्रनुपम विराटता तथा भाव के ग्रादर्शीकरण की ग्रभिनन्दनीय पवृत्ति उन्हे विश्व के ग्रग्रणी कवियो मे स्थान दिलाती है। यदि हिन्दी के कवियो मे प्रस्तुत कवि का स्थान निर्धारित करना हो तो केवल दो—तुलसी ग्रौर प्रसाद ही उसके समक्ष रखे जा सकते है। ग्रौर यदि केवल विस्तार-वविध्य की ही दृष्टि से देखा जाए (यह भी गौरव ग्रौर महत्व की एक मान्य ग्रोर विश्वसनीय कसौटी है) तब तो शायद उक्त दोनो कवि भी पीछे रह जाएगे।

कला-पक्ष

अपने व्यापक अर्थ मे कला सम्पूर्ण कवि-व्यापार की द्योतक है—अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति तक की सारी प्रक्रियाएँ उसके अन्तगत आती है। कवि-व्यापार ही क्यो, लालित्य से सबद्ध सभी कुछ कला के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव मे उन सभी के मूल मे सहजानुभूति रहती हे—अन्तर है केवल माध्यम का। सहजानुभूति को यदि शब्दबद्ध कर दिया जाए तो वह काव्य बन जाता है, ध्वनिबद्ध किया जाए तो सगीत बन जाता है —और रग और रेखा के माध्यम से प्रकट किया जाय तो चित्र अथवा मूर्त्ति का निर्माण होता है। यह तो हुआ कला का व्यापक रूप जिसमे कि सहजानुभूति से लेकर उसकी अभिव्यजना तक का सम्पूर्ण व्यापार आ जाता हे। लेकिन कला का एक स्थूल रूप भी हे। जहा वह केवल बाह्य प्रयत्न की द्योतक हे। और स्पष्ट शब्दो मे कला का प्रयोग कौशल के अर्थ मे भी होता है। वास्तव मे कला शब्द का उच्चारण करते ही प्रकृति भिन्न किसी वस्तु का भान होता है। यहा पर हम कला शब्द का प्रयोग इसी सकुचित अथवा स्थूल अर्थ मे कर रहे हे। कुछ विद्वान कला के इस रूप को महत्वहीन मानते हे—लेकिन यह सर्वथा नगण्य अथवा एकदम सारहीन नही है। यह काव्य को प्रभावक्षम बनाने का अनिवार्य साधन है। अत इसका अध्ययन भी आवश्यक हे, ठीक उसी तरह जैसे आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूपेण हृदयगम करने के लिए शरीर का ज्ञान अनिवार्य हे।

अभी तक गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन किया गया हे। अब कला पक्ष पर विचार करेगे

(क) विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग

काव्य-प्रतिभा का कलात्मक प्रकाशन यथारुचि तथा आवश्यकतानुसार अनेक सरणियो मे होता है—इन सरणियो को ही काव्यशास्त्र मे विधा कहा गया है। स्थूलत आचार्यो ने इन सब विधाओ को प्रबन्ध, नाटय एव गीति मे विभक्त किया है। यह विभाजन आत्यन्तिक तथा सवथा निर्दोप नही है, और न कोई प्रकृत कवि इनके कठोर नियमो मे आबद्ध रहता हे। फिर भी व्यावहारिकता की दृष्टि से ऐसा विभाजन उपादेय अतएव आवश्यक है—और अतुल प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी इस बात का तो थोडा-बहुत ध्यान रखता ही है कि वह उप-युक्त विभागो मे से किस प्रकार की रचना कर रहा हे। इन स्थूल विभागो के फिर अनेक भेद-प्रभेद किए गए हे। मैथिलीशरण जी पिछले पचास वर्ष से निरन्तर साहित्य-साधना कर रहे है—उन्होने प्राय इन सभी काव्य-रूपो का कुशल प्रयोग किया है। आगे उसी पर विचार किया जाएगा।

महाकाव्य

जीवन और जगत् के जातिगत अनुभवो पर आवृत कल्पान्तरस्थायी बृहत्-काय प्रबन्ध-काव्य को महाकाव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। दृश्य काव्य के अतिरिक्त साहित्य की इस विधा का स्वदेश विदेश के आचार्यो ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवेचन विश्लेषण किया है। कारण स्पष्ट है—दृश्य काव्य अभिनेय होने से जनता की चीज हे। जन-साधारण अमूर्त्त की अपेक्षा मूर्त्त से अधिक प्रभावित होते है फलत दृश्य-काव्य का प्रभावक्षेत्र श्रव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अतएव साहित्यशास्त्रियो ने उसके महत्व के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन किया है। महत्ता एव प्रभावक्षमता की दृष्टि से श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपो मे महाकाव्य का अनन्य स्थान है। अतएव साहित्याचार्यो ने उन सब मे इसी पर सर्वाधिक ध्यान दिया है।

सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप

सर्गबन्धोमहाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि त मुखम ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम ।
चतुर्वर्गफलोपेत चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्त्तुचन्द्राकादयवर्णनै ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवै ।।

विप्रलम्भविवाहैश्च कुमारोदयवर्णनै ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलकृतमसक्षिप्त रसभावनिरन्तरम् ।
सगरनतिविस्तीर्णै श्रव्यवृत्तै सुसन्धिभि ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेत लोकरजकम् ।
काव्य कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलकृति ।।[1]

आचाय दण्डी क उपयुक्त पद्यो मे सस्कृत काव्यशास्त्र मे स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणो का सार निहित है। भारतीय आचाय के अनुसार महाकाव्य क लक्षण इस प्रकार हे—

१ महाकाव्य सगबद्ध होना चाहिए अर्थात् उसका विभाजन खण्डो अथवा अध्यायो मे होना चाहिए। आचार्यो ने प्रकथन की सुविधा के लिए ऐसा विधान किया हे। इमसे भिन्न है फारसी की मसनवी शैली जहाँ प्रबधकाव्य सर्गो मे विभक्त नही होता वरन् बीच-बीच मे मुख्य घटना के अनुसार शीपक दे दिया जाता है। ऐसी दशा मे एक दृश्य अथवा स्थान से दूसर दृश्य अथवा घटना तक पहुँचने के लिए किसी माध्यम की कल्पना करनी पडती है जो कि सर्वथा अस्वाभाविक और कई स्थानो पर हास्यास्पद होती हे जैसी कि पद्मावत मे हीरामन तोते की कथा। किन्तु सगबद्ध रचना मे एक दृश्य से दूसरे दृश्य तक किसी माध्यम अथवा अस्वाभाविक कल्पना के बिना ही पहुँचा जा सकता है। अत बृहत् कथाओ का सर्गो अथवा अध्यायो मे ही विभाजन होना चाहिए।

सग असक्षिप्त तथा अनतिविस्तीर्ण अर्थात् न अधिक बडे और न अधिक छोटे ही होन चाहिएँ। ये दोनो ही सापेक्ष शब्द है—अत कोई निश्चित पृष्ठ-सख्या आदि नही बताई जा सकती तथापि उद्देश्य स्पष्ट है—चार-चार, पाच-पाच पृष्ठ के सर्ग न हो जिससे कि सग एक मजाक ही बन जाए और बार-बार मोड आने से कथा का गाभीय ही नष्ट हो जाए।—और न ही सग दो-दो सौ ढाई ढाई सौ पृष्ठो के हो जिससे कि वे किसी महत्कथा के अश न रहकर अपने आप मे पूर्ण अतएव स्वतन्त्र बन जाए। दण्डी सर्गसख्या के बारे मे कुछ नही कहते अग्निपुराणकार भी इस विषय मे मौन हे—किन्तु आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए अष्टाधिक सग अनिवाय मानते हे।[2] मेरे विचार मे उनका अभिप्राय केवल विस्तार की ओर सकेत करने का हे—इससे अधिक और कुछ नही। यदि किसी प्रबन्धकाव्य मे 'नातिस्वल्पा नातिदीर्घा'[3] आठ सग भी नही

---

१ काव्यादर्श १।१४-१९
२ सगा अष्टाधिका इह—साहित्यदर्पण ६।३२०
३ साहित्यदर्पण ६।३२०

होग तो वह क्या महाकाव्य होगा ? उसमे बृहत् कथा के लिए आवश्यक विस्तार कैसे आएगा—और सम्पूर्ण मानव-व्यापारो का चित्रण कहा स होगा ? किन्तु यदि कोई लेखक आठ सर्गों के बिना ही ऐसा कर सकता है—आचाय विश्वनाथ के निर्दिष्ट माग का अनुसरण किए बिना ही ग तव्य स्थल तक पहुँच सकता है तो उसके लिए इस नियम का पालन अनिवायत आवश्यक नही। यदि इसका कठोरता से पालन करना चाहे तो आदिकवि बाल्मीकि और तुलसीदास क सव श्रेष्ठ एव सवमान्य महाकाव्य ही अपदस्थ हो जाते है। अतएव 'नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह' से कथा की व्यापकता ही अभिप्रेत है।

२ महाकाव्य का प्रारम्भ किसी भी प्रकार के—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक—मगलाचरण से होना चाहिए। आस्तिक आचाय विश्वनाथ ने भी इसको ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया है।[1] महाकाव्य ही क्यो अन्य विधाओ मे भी यह अपेक्षित है—किन्तु इसे महाकाव्य का अनिवाय तत्त्व नही माना जा सकता। अग्निपुराण मे महाकाव्य के सम्बन्ध मे मगलाचरण का कुछ भी उल्लेख नही है। वस्तुत लक्षणो का निर्धारण निगमन शैली पर हुआ करता है। दण्डी एव विश्वनाथ के समय तक कई काव्य महाकाव्य रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे—और उन सब मे किसी न किसी प्रकार का मगलाचरण अवश्य था। अतएव उन्होने इसे भी नियम बना डाला। परपरा का अनुसरण करनेवाले हिन्दी कवियो ने भी अपनी सभी कृतियो मे इसे स्थान दिया—वे लोग ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इसे आवश्यक समझते थे। किन्तु मूल्यो की अराजकता के इस युग मे मगलाचरण मे उतना विश्वास नही रह गया है। अतएव साहित्य की सभी विधाओ से मगलाचरण की प्रथा का लोप हो रहा है—मैथिलीशरण जी से दो-एक व्यक्तियो को छोडकर शेष कवि इसकी चिन्ता नही करते। आज का आलोचक भी इस ओर ध्यान नही देता किन्तु शास्त्रनिष्ठ पण्डित इस स्थिति से बहुत उद्विग्न है—

"माना कि किसी महाकाव्य मे मगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नही होती, पर अपनी परम्परा भी कोई वस्तु है। और नही तो परम्परा के ही नाते इसका कम से कम महाकाव्यो मे बना रहना अच्छा ही है। नाटको से हटा दीजिये, पर कही तो उसे रहने दीजिये।"[2]

सच है माया काटे नही कटती—किन्तु मिश्र जी जब स्वय स्वीकार करते

ठ—"किसी महाकाव्य मे मगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नही होती"—तब आज के कवि से केवल परपरा-पालन के नाम पर उसकी आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नही। हाँ, परपरा के पुजारी अब भी ऐसा कर ही रहे हैं।

३ महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए क्योकि उसका साधारणीकरण सहज होता है, अतएव वह अधिक प्रभावक्षम भी होती है। इसका यह तात्पर्य नही कि कवि अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग नही कर सकता वरन् उसकी कथा सर्वथा काल्पनिक अथवा उत्पादित नही होनी चाहिए। कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण, अथवा रसोद्रेक यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। प्रसिद्धि के साथ-साथ आचार्यों ने सदाश्रयत्व का भी प्रतिबन्ध लगाया अर्थात् अन्त मे सत्य की जय और असत् की पराजय का प्रदर्शन होना चाहिए। यह महाकाव्य का ही नही सभी काव्य-रूपो का काम्य है।

४ कथानक नाटक की पाँचो सन्धियो से युक्त होना चाहिए अर्थात् उसमे उतार-चढाव सम्यक् रूपेण होने चाहिए। और स्पष्ट शब्दो मे तात्पर्य यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए—इसमे तो नवीन-प्राचीन किसी भी विद्वान् का मतभेद नही हो सकता।

५ नायक उदात्त एव चतुर अर्थात् कार्यदक्ष होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे तात्पर्य आचार्य दण्डी का यह है कि नायक उदात्त एव सद्धर्म-परायण होना चाहिए। आगे चलकर विश्वनाथ ने इसे और भी स्पष्ट लिखा है—'धीरोदात्त-गुणसमन्वित ।"[1] केवल उदात्तता काम्य नही—क्योकि उदात्त तो रावण भी है। इसीलिए वीरता को भी आवश्यक ठहराया गया जो कि राम मे ही है रावण मे नही। किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने धीरोदात्तता को कुलीन व्यक्तियो तक ही सीमित कर दिया है—

तत्रको नायक सुर
सद्वश क्षत्रियो वापि ।[2]

इस प्रकार विश्वनाथ सुरत्व एव सद्वश के बिना धीरोदात्त की परिकल्पना को पूर्ण नही मानते। अग्निपुराणकार तथा दण्डी की ओर से ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही। कारण स्पष्ट है—विश्वनाथ के समय तक जातीय विचार बहुत

---

१ साहित्यदर्पण ६।३१६

२ साहित्यदर्पण ६।३१५-३१६

दृढ हो चुके थे। श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ कुल अनिवार्य माना जाता था।—और किसी हद तक यह ठीक भी है, वस्तुत —

यह विधि है विपरीत दशा मे कारण होगे अन्य

—मैथिलीशरण गुप्त

अर्थात् कुलीनता के अभाव मे भी उदात्तता रह सकती है—किन्तु यह अपवाद होगा नियम नही, तथापि कुलीनता को नियम बनाना व्यर्थ है। नायक के लिए केवल 'धीरोदात्त-गुणसमन्वित' ही काफी है—क्योकि जो धीरोदात्त होगा वह प्राय कुलीन ही होगा और यदि नही होगा तो वह अपवाद स्वरूप होगा।

विश्वनाथ ने एक ही कुल के एकाधिक प्रतापी राजाओ को भी नायक माना है।[१] रघुवश के आधार पर उन्होने ऐसा लिखा है किन्तु यह आदर्श-रूप नही। क्योकि एकाधिक नायक होने से कथा विशृंखल हो जाएगी—सकलनत्रय निश्चित रूप से भग होगा। स्वय रघुवश मे भी वास्तविक नायक राम ही है—और सबका चित्रण उन्ही के चरित्र के परिदर्शनार्थ हुआ है। महाभारत मे भी गुरुकुल का वर्णन आदि पुरुष मे प्रारभ हुआ है—किन्तु नायक तो युधिष्ठिर ही है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य मे नायक का वश-वृक्ष आ सकता है पर नायक अनेक नही हो सकते। अन्यथा किसी के भी चरित्र का पूर्ण विकास नही होगा और यह महाकाव्य मे एक दोष होगा।

६ महाकाव्य मे रस का अविरोध सचार होना चाहिए। अग्निपुराण मे सभी भावो एव रसो का समावेश अनिवार्य माना गया है।[२] किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति मे भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमे कि सबका पर्यवसान हो।[३] स्पष्ट है कि अग्निपुराणकार किसी भी एक रस को एक-सूत्रता के निमित्त मुख्यता देने को तैयार है—किन्तु किसी विशिष्ट रस को नही जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने किया है। आचार्य विश्वनाथ शृगार, वीर एव शात मे से किसी एक को अगी

१ एकवशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा—साहित्यदर्पण ६।३१६

२ सर्ववृत्तप्रवृत्त च सर्वभावप्रभावित—सर्वरीतिरसै स्पृष्ट पुष्टगुणविभूषणै।

३ One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and Published by Manmath Nath Dutt Vol II edition 1904

तथा शेष सब रसों को अग-रूप मे चाहते है ।[1] इन तीनों मे शृगार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से, वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास मे और शात का निर्वेदात्मक होने से जीवन के अन्तिम लक्ष्य से सहज सम्बन्ध है। इस प्रकार जीवन की मूलवृत्तियों एवं परम पुरुषार्थों से सम्बद्ध होने के कारण इन तीन रसों को ही आचार्य विश्वनाथ ने अंगी-पद प्रदान किया है—उनका यह निर्णय अनुभवसिद्ध अवश्य है, किन्तु सर्वथा निर्दोष नही। करुण को मुख्य रस न मानना अनुचित है। संभवतः उन्होने इसे शोकान्त अतएव अस्वस्थ मानकर छोड दिया, परन्तु करुण का स्थायी वस्तुतः शोक न होकर मानव-सुलभ सहानुभूति है। ऐसे उदात्त सामाजिक भावना सवलित करुण को भी अंगी रस के रूप में स्वीकार करना श्रेयस्कर ही होगा—आदि महाकाव्य (वाल्मीकि रामायण) का मुख्य रस भी तो करुण ही है!

७. धर्मार्थकाममोक्ष अर्थात् जीवन के पार्थिव तथा अपार्थिव फलों की प्राप्ति महाकाव्य का लक्ष्य होना चाहिए। अग्निपुराणकार ने भी 'चतुर्वर्ग-फलं'[2] इत्यादि में महाकाव्य का यही लक्ष्य माना है—किन्तु साहित्य दर्पणकार चतुर्वर्ग में से केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मानते है—

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्[3]

पता नही आचार्य फल-चतुष्टय मे से कैसे केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मान बैठे? भला केवल काम कैसे महाकाव्य का उद्देश्य हो सकता है? अथवा मात्र अर्थ को कौन महाकाव्य का ध्येय स्वीकार कर लेगा?—और फिर स्वय विश्वनाथ लिखते है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥[4]

जब काव्य मात्र का उद्देश्य 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः, है तब उसी के एक विशिष्ट रूप—महाकाव्य का 'तेष्वेकं च फलं' कैसे हो सकता है? निस्संदेह महाकाव्य-सी महार्घ विधा का लक्ष्य एकान्त न होकर लौकिक तथा अलौकिक दोनो ही होना चाहिए—इसीलिए आचार्य दण्डी ने 'चतुर्वर्गफलोपेतं' का निर्देश किया है।

---

१. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते—साहित्यदर्पण ६।३१७
२. अग्निपुराणम्—काव्यादिलक्षणकथन नाम अध्याय
३. साहित्यदर्पण ६।३१८
४. साहित्यदर्पण १।२

८ प्रत्येक सग मे भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक सग का अपना पथक् विपय होता है, अतएव उसके सम्यक निरूपणार्थ तदुपयुक्त भि न छन्द की ही आवश्यकता है—किन्तु यदि कि ही सर्गों के प्रतिपाद्य का कुशल अकन किसी एक ही विशिप्ट छन्द मे हो सके तो छ द बदलने की भी आवश्यकता नही जैसे कि रामचरितमानसकार ने केवल दोहा-चौपाई मे ही सम्पूण ग्रन्थ समाप्त कर दिया है—फिर भी उसका सौदय अनिद्य है। वस्तुत तुलसीदास बडे निपुण एव ममज्ञ कवि थे। उन्होने चौपाई की अन्तिम मात्राओ को लघु-गुरु करके ही अनेक छ दो का काम ले लिया है—यथावश्यकता अन्य को तो अपनाया ही है। हा, एक सग मे एक ही छ द का प्रयोग आवश्यक है। महाकाव्य के गाम्भीय के लिए यह नियम अनिवाय है—बार-बार छन्द-परिवर्तन चाचल्य का द्योतक है जो कि महाकाव्य के लिए त्याज्य है। छन्द-परिवतन के आग्रह ने ही रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व पर अपरिहाय आघात किया है।

विश्वनाथ ने सग के अन्तिम दो-तीन छन्द बदलने की बात भी कही है।[1] वस्तुत यह कथा के मोड का सकेत करने के लिए है अर्थात् अगले सग की कथा की सूचना देने के लिए है[2]—जिससे कि सर्गों की अन्विति और पाठक की उत्सुकता बनी रहे। किन्तु यह सब महाकाव्य के साधक तत्त्व है अनिवार्य अग नही—तात्पय यह कि साध्य के प्राप्त्यर्थ समथ कवि स्वेच्छानुसार इनमे परिवतन कर सकता है—महाकवि ऐसा करते भी रहे है। तब लक्ष्य ग्रथो को दृष्टि मे रखते हुए लक्षण ग्रथो मे भी सशोधन हो जाया करता है। प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द की ही बात लीजिए—महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध के चतुथ सग मे अनेक छन्दो का प्रयोग किया अतएव साहित्यदर्पणकार को व्यवस्था देनी पडी—

नानावृत्तमय क्वापि सर्ग कश्चन दृश्यते[3]

किन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि यह अपवाद है—नियम नही। यदि अपवाद को ही नियम बना लिया जाएगा तो जैसा कि पहिले ही निवेदन किया जा चुका है केशव कृत रामचन्द्रिका के समान वह ग्रथ खिलवाड बन जाएगा—वह कहाकाव्य न रहकर पिगल ग्रन्थ होगा।

९ महाकाव्य मे सध्या सूर्य, नगर-नदीश, सयोग-वियोग, पुत्र कलत्र, सैर

---

१ एकवृत्तमयै पद्यरवसानेऽ यवृत्तकै साहित्यदर्पण ६।३२०

२ सगान्ते भाविसगस्य कथाया सूचन भवेत्—साहित्यदर्पण ६।३२१

३ साहित्यदर्पण ६।३२१

शिकार आदि का यथास्थान सागोपाग वर्णन होना चाहिए। तात्पर्य यह कि जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—सभी अवस्थाओ एव परिस्थितियो का आलेखन आवश्यक है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दो मे—

> सध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा ।
> प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागरा ॥
> सभोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।
> रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय ।
> वर्णनीया यथायोग सागोपागा अमी इह ।[१]

१० काव्यादर्शकार ने तो नही पर साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के नाम के विषय मे लिखा है कि उसका नाम कवि के नाम पर, वृत्त के अनुसार अथवा नायक (इसके अन्तर्गत नायिका भी परिगणित है) के नाम पर रखा जाता है—किन्तु कोई और नाम भी सम्भव है।[२] स्पष्ट है कि इससे बाहर कोई नाम हो ही नही सकता। पर इसे प्रासगिक होते हुए भी महाकाव्य का तत्त्व नहीं माना जा सकता।

अब सस्कृत साहित्यशास्त्र मे स्वीकृत महाकाव्य के वास्तविक तत्त्वो का सहज ही सधान किया जा सकता है —

मुख्य

१ कथावस्तु लोक-प्रख्यात, महदाकार तथा क्रमबद्ध होनी चाहिए।
२ नायक अथवा मुख्य पात्र धीरोदात्त अर्थात् धीरता, गम्भीरता तथा ओज आदि महनीय गुणो से सम्पन्न होना चाहिए।
३ शृगार, वीर, शान्त (तथा करुण) मे से कोई एक अगी तथा शेष सभी रस अग-रूप मे आने चाहिए।
४ महाकाव्य का लक्ष्य फल-चतुष्टय—धर्मार्थकाममोक्ष होना चाहिए।
५ शैली विस्तारगर्भा, नानावर्णनक्षमा, गाम्भीर्यापूरिता तथा अलकार-सज्जिता होनी चाहिए।

गौण

१ महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए।
२ सर्गो की सख्या आठ से अधिक होनी चाहिए।

---

१ साहित्यदर्पण ६।३२२-३२४

२ कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा—साहित्यदर्पण ६।३२४

३ प्रत्येक सग मे एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए ।
४ सग के अन्तिम दो-तीन छन्द परिवर्तित और उनमे भावी कथा की ओर सकेत होना चाहिए ।
५ सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, मध्याह्न, मृगया, सग्राम, यात्रा विवाह, मुनि, स्वर्ग, नगर आदि का वर्णन होना चाहिए ।
६ महाकाव्य का आरम्भ मगलाचरण से होना चाहिए ।

विदेश मे भी अपने ढग पर काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन हुआ—वहा महाकाव्य की समानान्तर विधा को एपिक पोइट्री (Epic Poetry) के नाम से अभिहित किया गया है। अरिस्टॉटल[1] (Aristotle) के अनुसार उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार है—

1 It is narrative in form—massive and dignified
2 The plot manifestly ought to be constructed on dramatic principles
3 It is an imitation in verse of characters of a higher type
4, It should have for its subject a single action, whole and complete, with a beginning, middle and an end
5 It must be simple or complex or ethical or pathetic
6 Employs a single metre—stateliest and most massive
7 The element of wonderful has wider (than drama) scope in epic poetry

१ काव्य की यह विधा विशालकाय, शालीन—किन्तु प्रकथनात्मक होती है। तात्पय यह नही कि महाकाव्य मे सवादो की योजना नही हो सकती वरन् कथोपकथन इसका अनिवार्य तत्त्व नही है । नाटक तो वार्तालाप के बिना चल ही नही सकता परन्तु महाकाव्य मे ऐसी बात नही। हाँ, सौदय-वर्द्धन से लिए कही कही सवादो की अवतारणा उपादेय ही होगी। वस्तुत महाकाव्य नाटक की अपेक्षा प्रकथनात्मक होता है अतएव उसे (Narrative in form) कहा गया है । परवर्ती शताब्दियो मे विशालता एव गरिमा के अतिरिक्त राष्ट्रीयता के तत्त्व का भी समावेश हुआ अर्थात् महाकाव्य का कथानक राष्ट्र की

---

1 The poetics of Aristotle edited with critical notes and a Translation by S H Buthcer—Fourth edition pp 21-23 and 91-95

ऐतिहासिक,पौराणिक गाथाओ पर अवलम्बित होना चाहिए ।[१]

२ वस्तु का निर्माण नाटकीय सिद्धान्तो पर होना चाहिए—आचार्य विश्वनाथ ने भी 'सर्वे नाटकसवय'[२] मे यही बात कही है । अभिप्राय यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए। देश-विदेश के सभी आचार्यो ने प्राय नाट्यकला का विवेचन महाकाव्य से पहिले किया है । इसीलिए महाकाव्य की वस्तु का विश्लेषण करते समय पुनरुक्ति के निवारणाथ नाटकीय वस्तु के नियमो का उल्लेख कर देते हे । पौरस्त्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे इसी कारण महाकाव्यगत वस्तु के क्रमश विकास के लिए एक ही शब्दावली का प्रयोग हुआ है ।

३ इसमे श्रेष्ठ पात्रो का पद्यात्मक वर्णन होता है—अर्थात् महाकाव्य के पात्र, कम से कम विजयी पात्र, गुण सम्पन्न होते है । अपने यहाँ इसी को धीरोदात्त कहा गया है ।

४ महाकाव्य का विषय एक होना चाहिए—इसमे वैविध्य रह सकता है पर उसके तल मे एकता का सूत्र अनुस्यूत रहना चाहिए । अन्यथा कथा के विशृंखल होने की आशका है । इसीलिए अरिस्टॉटल कहते है कि कथा के आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट होने चाहिए अर्थात कथा विस्तृत होने पर भी सुशृ-खल होनी चाहिए ।

५ यह सरल (Simple), जटिल (Complex), भावप्रवण (Pathetic) अथवा नैतिक (Ethical) होगी । यहा अरिस्टॉटल ने दो बातो—कथा के प्रकार और उद्देश्य को मिला दिया है । जहाँ कथा स्पष्ट और द्विधारहित होगी वह सरल—और जहाँ पर सशय एव आकस्मिकताजन्य कुतुहल का आधिक्य

---

1 (i) The Prime material of the epic poet, then must be real and not invented

—The Epic by Abercrombie
Edition 1922, page 55

(ii) (Epic poet) is bound to the past, in one way, it is laid upon him to tell the stories of the greatmen of his own race

—Epic and Romance, W P Ker
Edition 1926, Page 25

२ साहित्यदर्पण ६।३२७

होगा वह जटिल होगी। भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार का कोई भेद नही किया।

महाकाव्य का उद्देश्य होगा नैतिक सत्यो की स्थापना अथवा भावोद्दीपन। नैतिकता तथा भावोद्दीपन विरोधी नही है—एक के भाव मे दूसरे का अत्यन्ता-भाव नही है। पर प्रश्न प्राधान्य का है। जिस महाकाव्य मे नीति पर अधिक बल दिया जाएगा वह नीति-प्रधान और जिसमे भावना पर अधिक बल दिया जाएगा वह भाव-प्रधान होगा। वसे ये दोनो ही तत्त्व एक-दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी है। पौरस्त्य काव्यशास्त्र मे दोनो का ही मणिकाचन सयोग है—आचाय दण्डी के 'रसभावनिरन्तरम्' तथा 'चतुवगफलोपेत' इसके साक्षी है।

६ आद्यत एक ही प्रबल तथा उदात्त छन्द का व्यवहार होता है। विपय की गौरव-गरिमा तथा गाम्भीय के रक्षणाथ यह अत्यन्तावश्यक है। तथापि सम्पूण काव्य मे एक ही छन्द से काम चलाना—एक ही वृत्त मे समग्र भाव-भगिमाओ की कुशल अभिव्यक्ति तुलसीदास अथवा होमर जैसे समथ कवियो के ही बूते की बात है। अतएव भारतीय आचार्य ने कई छन्दो के प्रयोग की अनुमति दे दी है, किन्तु उसके अनुसार भी कम से कम एक सग अथवा खण्ड मे तो एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। क्योकि कई वृत्तो के मिश्रण से तो वस्तु-सौदर्य ही नष्ट हो जाएगा।

७ अतिमानवी-तत्त्वो के सयोजन को भी विदेश मे महाकाव्य का अग मान लिया गया है—किन्तु यह अनिवाय नही है। इसके बिना भी महाकाव्य की रचना हो सकती है पर किसी महाकाव्यकार ने ऐसा प्रयास नही किया है।[1] इसका कारण भी स्पष्ट है—महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक होता है। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर लोकप्रसिद्ध व्यक्तियो मे अतिमानवीय शक्तियो का आरोप कर दिया जाता है—कृतज्ञ मानवता इसी प्रकार अपने उद्धारको से उऋण होती है। परिणाम स्वरूप महाकाव्यो मे अतिमानवीयता का समावेश हो जाता है। भारतीय आचार्यो के इस प्रकार का कोई तत्त्व न मानने पर भी भारतीयो के सभी महाकाव्यो मे इसका समावेश है।

तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पौरस्त्य एव पाश्चात्य दृष्टि-

---

1 Very few epic poets have ventured to do without supernatural machinery of some sort

—The Epic, Abercrombie

कोणो मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है—दोनो ने शब्द-भेद से एक ही बात कही है । दोनो का साध्य निश्चित रूप से एक ही है—यदि कुछ मत-भेद है तो केवल साधनो के विषय मे—विशेषत साधनो की वर्णन-शैली मे । सारत महाकाव्य के सर्वस्वीकृत लक्षण अधोलिखित है—

१ महाकाव्य एक बृहत्काय, विशद एव व्यापक काव्य होता है । इसकी कथावस्तु महान, ऐतिहासिक' क्रमबद्ध, सजीव तथा वैविध्यपूर्ण होनी चाहिए । और स्पष्ट शब्दो मे महाकाव्य मे व्यष्टि का जीवन न होकर समष्टि क जीवन का अन्तरग-बहिरग होना चाहिए ।

२ इसके प्रमुख पात्र धीरोदात्त अर्थात धीरता, गभीरता तथा ओजसम्पन्न होने चाहिएँ ।

३ पार्थिव तथा पारमार्थिक जीवन पुरुषार्थों की उपलब्धि महाकाव्य का उद्देश्य होता है ।

४ महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप शैली भी अत्यन्त शालीन, विभूतिमति तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए ।

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य : मूल धारणाएँ

सिद्धान्त रूप मे मैथिलीशरण जी ने कही किसी प्रसग मे भी इस काव्य-रूप के विषय मे अपने विचार प्रकट नही किए हे । किन्तु उन्होने महाकाव्यो का प्रणयन अवश्य किया हे—साकेत और जय भारत निश्चित रूप से महाकाव्य है । इन दोनो के आधार पर उनकी महाकाव्य सम्बन्धी धारणाओ की कल्पना की जा सकती है । इनमे बाह्य रूप रचना की दृष्टि से असमानता होने पर भी मूल अन्ततत्त्वो मे विशेष भेद नही है । इनकी वस्तु, चरित्र चित्रण, उद्देश्य और रस-व्यजना आदि मे सूक्ष्म मौलिक साम्य है ।

वस्तु

किसी साहित्यिक कृति के कथानक को वस्तु अथवा कथावस्तु कहा जाता । महाकाव्य अन्तत कथा काव्य है—वस्तु उसका महत्वपूर्ण अग है ।

इसीलिए स्वदेश-विदेश के आचार्यो ने काव्य की इस विधा की कथावस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण किया है । महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए । कवि को अपनी कल्पना-शक्ति के उपयोग का अधिकार अवश्य है—किन्तु उसकी कथा सर्वथा उत्पादित नही होनी चाहिए । क्योंकि कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक अपेक्षाकृत कठिन हो जाते है । अतएव मैथिलीशरण महाकाव्य के लिए सुविख्यात कथानक ही अपनाते है ।

मूल-स्रोत

राम एव युधिष्ठिर आदि के पावन चरित न जाने कब से प्रचलित है—रामायण और महाभारत भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ और समादृत महाकाव्य है । सहस्रो वर्ष उपरान्त आज भी इनका महाकाव्यत्व अक्षुण्ण है । गुप्त जी ने इन चिरपुरातन महाकाव्यो के कथानको को ही वस्तु-रूप मे ग्रहण किया है—अन्य ऐतिहासिक एव पौराणिक कथाओ को नही । कारण स्पष्ट है—ऐतिहासिक कथाओ मे कवि का अभीष्ट आदर्श नही है और पौराणिक गाथाएँ इतनी प्रतीकात्मक है कि उनमे ऐहिक जीवन की कर्मण्यता का अभाव है । दिव्य जीवन का आदर्श और ऐहिक जीवन की कर्मण्यता—इन दोनो का समन्वय उपलब्ध है रामायण तथा महाभारत मे, अतएव मैथिलीशरण केवल इन दो कथानको को महाकाव्य के उपयुक्त मानते है ।

परिमाण और प्रभाव

रामायण और महाभारत की वस्तु को ग्रहण करने का दूसरा कारण है उनका विपुल परिमाण और पुष्कल प्रभाव । महाकाव्य की कथा बृहदाकार तथा सप्रभाव होनी चाहिए । गुप्त जी के महाकाव्यो की वस्तु भी अत्यन्त विशद एव विशाल है । साकेत मे स्पष्ट रूप से लक्ष्मण-उर्मिला एव राम-सीता के दो सम्बद्ध पर भिन्न कथानको का अन्तर-आयोजन हुआ है—कवि ने इन दोनो को एक ही मे समाहित करने का प्रयास किया है । इतना जटिल कथानक स्वय वाल्मीकि एव तुलसी ने भी नही अपनाया था । जय भारत मे भी यही हुआ है—महाराज नहुष के वृत्तान्त से लेकर पाण्डवो के स्वर्गारोहण तक की एक भी बात छूटने नही पाई है । महाभारत पर आधृत—किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध—आदि जितने भी महाकाव्य आज तक लिखे गए है उन सब मे इस कथा के किसी एक अश को ही वस्तु-रूप मे अपनाया गया है । किन्तु जय-भारतकार ने उसे समग्र रूप मे ग्रहण करने का प्रयास किया है ।— और प्रभा ।-

क्षमता तो इन कथानकों की निर्विवाद ही है। भारतीय जनमानस पर साकेत के आधार रामायण का प्रभाव स्वयसिद्ध है। उधर जय भारत के मूल-स्रोत महाभारत को पचम वेद अथवा भारतीय सस्कृति का विश्वकोष तक माना जाता है। मै समझता हूँ इनके प्रभूत प्रभाव की सिद्धि के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नही। इस प्रकार मैथिलीशरण महाकाव्यो के लिए अत्यन्त लोक-प्रसिद्ध, विस्तृत तथा प्रभावक्षम वस्तु का चयन करते है।

मूलवर्ती दृष्टिकोण

पूर्वोक्त दोनो कथाएँ भारतवर्ष मे शताब्दियो से गाई जा रही है—और प्रत्येक युग अपने विश्वासो एव मान्यताओ के अनुसार उनमे परिवर्तन-परिवर्द्धन करता आया है। गुप्त जी ने भी उनमे युगधर्म की प्रतिष्ठा की है। वे जहा भी जाते है अपने युग का वातावरण लेकर जाते है। उनके महाकाव्यो मे वर्तमान युग के विचार-व्यवहार का समावेश हुआ है—साकेत मे राम वन-प्रयाण के अवसर पर अयोध्यावासी उनके रथ के आगे लेट जाते है।[1] इसी प्रकार जय भारत के नहुष पतन के समय भी मानवोत्थान के विश्वासी है।[2] भारतेन्दु युग मे आरब्ध तथा द्विवेदी-काल मे परिपुष्ट जनजागरण के प्रभाव से हमारे देश मे व्यापक राजनैतिक सजगता ही नही बौद्धिक उद्बोधन भी हुआ। श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिकता की ओर झुकाव हुआ। फलस्वरूप प्राचीन कथानको का बौद्धिक व्याख्यान किया गया। स्वाभाविक तथा विवेकसम्मत घटना-विधान की प्रवृत्ति बढी और मानवीयता एव राष्ट्रीयता का समावेश किया जाने लगा। मैथिलीशरण भी अतिप्राकृत तत्त्व का निराकरण कर वस्तु को तर्कसगत रूप प्रदान करते है। अतएव उनके महाकाव्यो मे राम और कृष्ण की अलौकिक शक्तियो का प्रयोग प्राय नही है। हरण से पूर्व साकेत की सीता अग्नि-प्रवेश नही करती, और न ही जय भारत मे पद्मनालस्थित इन्द्र के पास उपश्रुति के साथ इन्द्राणी के जाने का उल्लेख है। मानवीयता एव राष्ट्रीयता आदि की प्रतिष्ठा के लिए भी उन्होने काफी परिवर्तन किए है। जय भारत की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी काम-पीडा की दुहाई नही देती, राम पर आपत्ति का समाचार सुनते ही शत्रुघ्न सेना सकलन करते है।[3] किन्तु गुप्त जी दीप

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ८६
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १८
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०५, ३०६

परम्पराओ एव विश्वासो की अवहेलना सहज ही नही कर पाते। वे कथानक को विवेकसम्मत रूप भी देना चाहते है और परम्परागत विश्वासो की रक्षा भी। वे श्रद्धा एव नवीन दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयत्न करते है। जब भारतकार के युधिष्ठिर द्रोपदी-पचपत्नीत्व समस्या का समाधान करते है—

बोले धर्मात्मज धृतिशाली
वर पाथ वधू हे पाचाली
दो वर ज्येष्ठ का पद पावे
दो देवरत्व पर बलि जावे
भोगे यो पाँचो सुख इसका।[१]

इस प्रकार कवि का श्रद्धा-समन्वित सस्कारी हृदय युग-युगान्तरो के विश्वास की अवहेलना नही कर सकता हे। निदान व्यासकृत व्यवस्था ही स्वीकार करनी पडती है और उसकी पुष्टि मे प्रसिद्ध पौराणिक कल्पना।[२] साकेत मे हृदय और बुद्धि का, विवेक और सस्कारिता का तथा श्रद्धा और नवीन दृष्टिकोण का यह समन्वय और भी स्पष्ट है।

नूतन उद्भावनाएँ

विवेकसम्मत घटना-विधान, मानववाद की प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीयता आदि के कारण ही गुप्त जी के महाकाव्यो मे अनेक उद्भावनाएँ हुई है जिनमे से सक्षेपत कुछ इस प्रकार है—

१ अयोध्यावासियो की शस्त्र-सज्जा

हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति प्रहार से मूर्च्छित होने की बात श्रवण कर शत्रुघ्न शख बजा देते है। अयोध्या मे आशका की लहर-सी दौड जाती है, और तब सम्पूर्ण अयोध्या लका-प्रयाण को प्रस्तुत हो जाती है। यह प्रसग राम काव्य के लिए अपरिचित हे—किन्तु राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत कवि के लिए सर्वथा अनिवार्य। वाल्मीकि रामायण मे तो यह प्रश्न ही उपस्थित नही होता—वहाँ तो न हनुमान सजीवनी लाते हे और न अयोध्यावासियो को इस आपत्ति का समाचार मिलता है। किन्तु रामचरितमानस के भरत इस तथ्य से अवगत होकर भी तटस्थ है। यद्यपि उन्हे इसका शोक काफी है—

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ११०

२ कहो हे पाच वार नर था महेश का

—जय भारत, प्र० स०, पृ० ११०

अहह देव मै कत जग जायउ।
प्रभु के एकहु काज न आयउँ ॥[1]

तथापि वे है सर्वथा निश्चेष्ट। तुलसीदास हनुमान के मुख से भरत की रामभक्ति का गुणगान करते हुए उसके लका-प्रस्थान का उल्लेख कर—

भरत-बाहु-बल-सील-गुन प्रभु पद प्रीति अपार।
जात सराहत मनहि मन पुनि पुनि पवन कुमार ॥[2]

सीधे लका स्थित राम-लक्ष्मण का वर्णन करने लगते है—

उहा राम लछिमनहि निहारी।
बोले बचन मनुज अनुसारी ॥
अर्धराति गइ कपि नहि आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ।[3]

कितनी असगत बात है कि जिसका वियोग भरत तथा अन्य अयोध्या-वासियो को असह्य है उसी प्रिय राष्ट्रनायक को आपद्ग्रस्त देखकर भी वे लोग निष्क्रिय है। स्वय तुलसीदास अपनी गीतावली के इसी प्रसग मे सुमित्रा से शत्रुघ्न को लका-प्रयाण का आदेश दिलाते है और वे भी अपने को धन्य मानते है—

तात! जाहु कपि सग रिपुसूदन उठि करि जोरि खरे है।
प्रमुदित पुलकि पैत पूरे, जनु बिधिबस सुढर ढरे है ॥[4]

किन्तु इस आज्ञा का परिपालन कही दृष्टिगत नही होता (कदाचित् प्रबन्ध-काव्य न होने के कारण) लका-प्रस्थान की निष्पत्ति तो साकेत मे भी नही होती पर वहाँ तर्कसगत समाधान तो है—

शान्त, शान्त! सब सुनो कहाँ जाते हो ठहरो,
लका विजितप्राय, तनिक तुम धीरज धारो।[5]

—वसिष्ठ

इसके पश्चात् मुनि वसिष्ठ अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा लका का दृश्य दिखा सबका रोग शमन करते है। इस प्रकार कवि ने बडी योग्यता से इस असगति

---

१ रामचरितमानम—लकाकाण्ड, पृ० ८८३ (ना० प्र० स० स०)
२ ,, ,, ,, ८८३ (,, ,, ,, ,,)
३ रामचरितमानस—लकाकाण्ड, पृ० ८८४ (ना० प्र० स० स०)
४ गीतावली—लकाकाड
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३१६

का निवारण किया है।—और अयोध्यावासियो मे वाछित राष्ट्रीयता की स्थापना की है। भरत तो सीता के लका-निरोध को भारत-लक्ष्मी का बन्धन ही मानते हैं—

भारत-लक्ष्मी पडी राक्षसो के बन्धन मे।
सि धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन मे ।।[1]

यहा स्पष्ट समकालीन प्रभाव है—यह तत्कालीन भावना कदापि नही हो सकती।

२ द्रौपदी-चीरहरण

यह महाभारत का अत्यन्त लोमहर्षक प्रसग है। सभाभवन मे पचपाण्डवो की धमपत्नी पाचाली को नग्न करने का प्रयत्न क्या कोई छोटी-सी बात है ? यह जघन्य कम गुरुजनो के समक्ष होता है अत उसकी भीपणता और भी बढ जाती है। फिर द्रौपदी की लज्जा की रक्षा भी अस्वाभाविक ढग से होती है। द्रुपदसुता भगवत्-स्मरण करती है—धम कपडा बनकर बढने लगता है। धम-प्रताप और कृष्ण-कृपा से वह चीर समाप्त नही होता।[2] कपडा खीचते खीचते जब दु शासन थक जाता है तब लज्जित होकर बैठ जाता है। गुप्त जी ने इस प्रसग की भीपणता और अस्वाभाविकता को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम तो उस विकृत सभा से उन भीष्म, द्रोण और विदुर को हटाया जो क्रुद्ध भीमसेन को तो शान्त करते है—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षयम्यतामिदमित्येव सर्वं सभाव्यते त्वयि ।।[3]

—किन्तु दुष्कर्मा दु शासन को रोकने मे असमथ है। एक ओर तो इससे उन पुण्यात्माओ के आत्म सम्मान एव गौरव की रक्षा होती है और दूसरे इस घोर कम की भीपणता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। अतिप्राकृत तत्त्व का भी सप्रयत्न निराकरण हुआ है। जय भारत मे भी द्रौपदी भगवान् का स्मरण तो करती है पर उससे उनका कपडा नही बढता। वरन् वे दु शासन की प्रतारणा करती है और तब—

सहसा दु शासन ने देखा अन्धकार-सा चारो ओर
जान पडा अम्बर-सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर

---

१ साकेत, सरकरण सवत् २००५, पृ० २९७

२ महाभारत, सभाप० ६८ ४६-४८

३ महाभारत, १ भाप० ७०।१८

आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया
कर जड हुए और पद कापे- गिरता-सा वह बैठ गया ॥[1]

अपनी बात को और अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए कवि वहाँ गाधारी को भी उपस्थित करता है जिससे—

चौक सभल कर पाप-सभा ने पुन सभ्यता-सी पाई ।[2]

३ कृष्ण-दौत्य

कृष्ण पाण्डवो की ओर से सन्धि-सन्देश लेकर जाते है—किन्तु दुमति दुर्योधन किसी प्रकार भी नही मानता वरन् दूतवेपधारी कृष्ण को बन्दी बनाने का अवैध कर्म करने को उद्यत होता हे। तब वे अपना विश्वरूप प्रकट करते है। उनके शरीर से ज्योतिष्पुज तथा अगूठे के बराबर देवता निकलने लगते है। उनके मस्तक पर ब्रह्मा, वक्षस्थल पर रुद्र दृष्टिगत होते हे, यही नही युधिष्ठिर, भीमार्जुन, नकुल सहदेव और बलराम भी शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित दिखाई देने लगते है।[3] कृष्ण के नेत्रो, नासिकारन्ध्रो और कानो से सधूम अग्नि निकलने लगती है—

नेत्राभ्या नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्या च समन्तत ।
प्रादुरासन्महारौद्रा सधूमा पावकार्चिष ।[4]

उनके इस रूप के दर्शन कर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, सजय और तपस्वियो के अतिरिक्त सब डर जाते है। कृष्ण षोडश कला अवतार हे—फिर भी जब उन्होने मानवावतार लिया है तो कर्म भी मानवीय ही करने होगे। वे महा-मानव भले ही बन जाएँ—किन्तु मानवेतर नही। उक्त प्रसग को हृदयगम करने के लिए अध-विश्वास अथवा अतक्य श्रद्धा की अपेक्षा है। आज का पाठक इसे गले से उतारने मे असमर्थ है। अत जय भारतकार ने इसे विवेक-सम्मत रूप देकर प्रस्तुत किया है—

दुर्योधन की ओर न जाने देखा कैसे
परिकर समेत वह काप कर वही लडखडाता रहा
वे गये विदुर के गेह, वह बैठ बडबडाता रहा ।[5]

---

१ जय भारत, प्रथम सरकरण, पृ० १३८
२ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
३ महाभारत, उद्योगपर्व १३१।४-९
४ महाभारत, उद्योगपर्व १३१।१२
५ जय भारत, प्रथम सरकरण, पृ० ३२०

यह विवरण अत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी बुद्धि-सगत एव मनोवैज्ञानिक है।

४ चित्रकूट की सभा मे कैकेयी का सफाई पेश करना

वाल्मीकि और तुलसी दोनो ही दुष्कर्मा कैकेयी को अपनी बात कहने का पश्चात्ताप करने का अवसर नही देते। भरत द्वारा उसकी प्रतारणा अवश्य कराई जाती है—

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वय वा विश दण्डकान्।
रज्जु बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत्परायणम्॥[१]

तुलसी की कैकेयी ग्लानि-गलित भी है किन्तु उसे कुछ बोलने का मौका नही दिया जाता। वह मृत्यु का आह्वान तो करती है पर राम से प्रत्यावर्तन का आग्रह नही।[२] गुप्त जी सर्वप्रथम उसे अपनी सफाई पेश करने का सुयोग प्रदान करते है—

हा जन कर भी मैने न भरत को जाना
सब सुन लें तुमने स्वय अभी यह माना
यह सच है तो फिर चलो घर भया
अपराधिन मै हूँ तात तुम्हारी मैया॥[३]

इस प्रकार मानववादी कवि ने प्रायश्चित्त के द्वारा कैकेयी के दोष-परिहार का प्रयत्न किया है।

इनके अतिरिक्त वक-सहार, नहुष, हिडिम्बा आदि खण्डो मे सम्बद्ध उद्भावनाएँ भी उल्लेखनीय है किन्तु उनका आलेखन मै पहले ही कर चुका हूँ। ये नूतन कल्पनाए गुप्त जी के महाकाव्य को मौलिकता प्रदान करने मे सहायक है।

मौलिकता

वास्तव मे किसी भी काव्य के लिए मौलिकता अनिवायत अपेक्षित है। इसके अभाव मे रचना की सम्पूर्ण साज-सज्जा, उसका समग्र भाव-वैभव व्यर्थ है।—और फिर मैथिलीशरण के कथानक तो बहुश्रुत थे। यदि कवि नूतन रूप न दे पाता तो उन्हे बार-बार कौन पढता? यद्यपि सस्कारी कवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय मे प्राचीनता के प्रति महती श्रद्धा है तथापि उनके दोनो महा-

---

१ वाल्मीकीय रामायण—अयोध्याकाण्ड ७४।३३

२ अवनि जमहि जाचति कैकेई।
नहि न बीचु बिधि मीचु न देइ॥ रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृष्ठ १७८

काव्य मौलिक हं । सवप्रथम तो उनमे मौलिकता हे राष्ट्रीय-मानवीय दृष्टिकोण की जिसके कारण कि आदर्श एव विवेकसम्मत घटना-विधान हुआ है । दूसरे कवि मूल कथानक क रस मे परिवतन भी करता है । वाल्मीकीय रामायण का मुख्य रस करुण और रामचरितमानस का प्रधान रस शान्त है—किन्तु साकेत का अगी रस इन दोनो मे से कोई न होकर शृगार है । इसी प्रकार महाभारत का प्रधान रस शान्त माना जाता है पर गुप्त जी के जय भारत का मुख्य रस वीर है । यह रस-परिवृत्ति विशेष चमत्कार की उत्पादक एव उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति की परिचायक है । प्रबन्धवक्रता का यह श्रेष्ठ रूप है । प्रबन्धवक्रता के साथ-साथ इन काव्यो मे प्रकरणवक्रता भी विद्यमान है। गुप्त जी बडी योग्यता से नीरस का त्याग करते है लकाकाण्ड के चिर परिचित इतिवृत्त का सक्षेपण तथा जय भारत मे आदिपव की अधिकाश घटनाओ की उपेक्षा इसी कारण हुई है । इसके विपरीत वे रसपेशलता के निमित्त मूल मे अविद्यमान प्रकरणो की परिकल्पना करते है । उदाहरणत उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम परिहास, उर्मिला-विरह, भरत माण्डवी सवाद आदि रामकाव्य के लिए नूतन प्रसग है । और कुन्ती मे सहज मातृहृदय एव हिडिम्बा मे नारी स्वभाव की स्थापना आदि महाभारत के लिए सवथा अपरिचित प्रकरण है । किन्तु रस-सचार मे समर्थ होने के कारण महाकाव्यो को अपूव दीप्ति एव मौलिकता प्रदान करते हे और पूर्वोल्लिखित उद्भावनाएँ तो नूतन अतएव मौलिक है ही । इसके अतिरिक्त कवि घटनाओ के क्रम मे भी परिवतन करता है । महाभारत मे नहुष-चरित अधिकाशत उद्योगपव के अन्तगत आता है पर जय भारत मे उसे सवप्रथम स्थान मिला है । साकेत मे यह व्यतिक्रम और भी अधिक है । रामायणो के बालकाण्ड की कथा उसके दशम सग मे आती है—उर्मिला स्मृति-रूप मे सरयू को पूवकथाए सुनाती है । इस प्रकार गुप्त जी विश्वविख्यात एव परम्परागत कथानको मे भी मौलिकता के दुष्कर समावेश मे कृतकाय है । और यह कृत-कायता निश्चित रूप के उनकी सफल प्रबन्ध-कल्पना की परिचारक है ।

वस्तु-सघटना

मौलिकता के साथ ही कथानक की क्रमबद्धता भी अनिवाय है । महाकाव्य चाहे घटना-प्रधान हो और चाहे चरित्र-प्रधान उसमे वस्तु का विशेष महत्त्व है अतएव स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने उसकी सघटना की ओर विशेषत ध्यान आकृष्ट कराया है । कथानक की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसके आदि, मध्य, अवसान स्पष्ट हो । और सपूण घटनाएँ एक ही मुख्य घटना मे

पर्यवसित हो जाए। आलोच्य कवि के महाकाव्यों मे सर्वथा स्पष्ट न होने पर भी आदि, मध्य एव अवसान का सन्धान असभव नहीं। साकेत के प्रथम आठ सर्गों को आदि, नवम और दशम को मध्य तथा शेष दो को अवसान के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी तरह जय भारत मे नहुष से लेकर लक्ष-वेध तक के १३ प्रकरणों को आदि, इन्द्रप्रस्थ से बृहन्नला तक के १७ खण्डों को मध्य और शेष कथा को अवनसान मान सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि कवि सम्पूर्ण कथा की व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता हे। साथ ही वह घटना-ऐक्य को अनिवार्यत अपेक्षित मानता हे। उसके दोनो महाकाव्य मेरे इस कथन के साक्षी हे। साकेत का मुख्य कार्य हे लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन—प्राय सब घटनाएँ उसी से सम्बद्ध है। प्रथम सर्ग का प्रेमालाप बाद के विरह की तीव्रानुभूति मे सहायक हे। मथरा कैकेयी सवाद, और फिर राम वनवास तो वियोग के कारण है ही। इसके पश्चात् भरतागमन वर्णित है जिससे कि चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—उस आयोजन से एक बार आशा होती है कि शायद राम और उनके साथ ही लक्ष्मण लौट आएँ। नवम-दशम सर्गों मे उर्मिला-विरह हे जो उसकी प्रेमानुभूति व्यजक है। शेष दो सर्गों मे लकायुद्ध का कथन हे—जिसमे विजय प्राप्ति पर लक्ष्मण-उर्मिला का सयोग निश्चित है। अन्त मे दोनो के मिलन पर पुस्तक समाप्त होती है। उधर जय भारत का कार्य हे दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय। उसमे प्रथम चार प्रकरण युधिष्ठिर एव दुर्योधन की वश-परम्परा के परिचायक है। पचम खण्ड बन्धु-विद्वेष मे वर्णित कौरवो और पाण्डवो का जन्मजात वैरभाव जय भारत के कार्य का प्रवर्त्तक है ही। द्रोणाचार्य और एकलव्य प्रसगो मे दुर्योधन का द्वेष और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आगे की मुख्य घटनाओं—परीक्षा के अवसर पर अपमानित कर्ण से दुर्योधन की मित्रता, द्रोण द्वारा अनादृत द्रुपद की तपस्या से द्रोपदी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति तथा लाक्षागृह प्रसग आदि का युद्ध से सहज सम्बन्ध है। लक्ष-वेध, इन्द्रप्रस्थ-स्थापन, एव राजसूय से दुर्योधन के मन मे ईर्ष्या होती हे जिससे द्यूत ही तो कलह-मूल है। वनवास मे पाण्डव दिव्यास्त्र प्राप्त करते हे, अनेक कष्ट भोगते है—इनसे युद्ध निश्चित हो जाता हे। फिर भी दूत भेजे जाते हे, कृष्ण शान्ति-सदेश लेकर जाते है—किन्तु सब निष्फल। यह असफलता भी युद्ध से सम्बद्ध है। युद्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही बाद मे हत्या, विलाप तथा पाण्डवो मे विरक्ति की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार जय भारत का मुख्य कार्य महाभारत का युद्ध ही है, और प्राय अन्य सभी घटनाएँ उससे सम्बद्ध हे।

घटना की एकता का विशेष ध्यान रखने के कारण उक्त महाकाव्यो मे घटनाऐक्य सिद्ध तो होता है—किन्तु सर्वथा निर्दोष नही। बहुत से प्रसगो का मनोयोगपूर्वक अकन होने पर भी कार्य से सहज सम्बन्ध नही है, जैसे साकेत मे दशरथ-मरण भरत-आगमन, गुहराज-मिलन, चित्रकूटस्थ राम-सीता की गृहस्थी का वर्णन आदि प्रत्यक्षत मुख्य कार्य से सम्बद्ध नही है। जय भारत के वक सहार, द्रौपदी और सत्यभामा, सैरन्ध्री आदि खण्डो की भी यही दशा है। सर्व प्रथम अध्याय नहुष का अनपेक्षित विस्तार भी खटकता है। नहुष निस्सदेह कुरुकुल के पूर्वपुरुष है अत वश-वृक्ष-आलेखन के नाते उनका सक्षिप्त विवरण अवश्य आ सकता था—१३ पृष्ठ का आख्यान-प्रणयन नही। स्वरचित प्रबन्धो मे इन त्रुटियो की अवस्थिति मे भी गुप्त जी का प्रयास यही रहता है कि प्रत्येक घटना मुख्य कार्य मे बाधक अथवा साधक बनकर आए उससे सर्वथा असम्पृक्त नही। इसके निराकरणार्थ ही तो उन्होने रामायणो के बालकाड की कथा का प्रारम्भ मे अकन न कर उर्मिला-स्मृति रूप मे उपयोग किया है। और महाभारत के आदि पर्व के प्रारम्भिक कई प्रसगो का सर्वथा त्याग ही कर दिया है।

वस्तु-सघटना के विषय मे यह भी उल्लेख्य है कि मैथिलीशरण महाकाव्य मे स्थान-ऐक्य को अनिवार्य नही मानते। चौबीस-पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात साकेत की रचना के समय तो वे इसे भी आवश्यक समझते थे। इसीलिए साकेत मे बलात् स्थल-ऐक्य सिद्ध किया था—उसके लिए सम्पूर्ण साकेत-समाज को चित्रकूट उठा ले गए थे।[१] किन्तु अब उनकी इस धारणा मे परिवर्तन हो गया है। आज वे महाकाव्य के लिए स्थान-ऐक्य को अनिवार्यत आवश्यक नही मानते। जय भारत इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

रोचकता और औत्सुक्य

किसी भी कथाश्रित काव्य के लिए रोचकता परम अपेक्षित गुण है जिससे उसमे पाठक की उत्सुकता बनी रहे।—और रोचकता का आधार है कौतूहल। आद्यन्त कौतूहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण पर्याप्त प्रयत्न करते है। साकेत एव जय भारत के चिर-परिचित कथानको मे कौतूहल की प्रतिष्ठा दुस्साध्य थी। किन्तु हमारे कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओ एव नवीन व्याख्याओ द्वारा उसका सफल समावेश किया है लक्ष्मण उर्मिला के रुचिर सयोग, चित्रकूट सभा मे कैकेयी की सफाई, अयोध्यावासियो की रण-सज्जा

१ साकेत—अष्टम सर्ग

आदि प्रसगो ने तथा द्रौपदी-पचपत्नीत्व, द्रौपदी-चीर हरण, कृष्ण-दौत्य आदि प्रकरणो के पुनर्व्याख्यान ने वस्तु को काफी रोचक बना दिया है। इन नवीन कल्पनाओ के अतिरिक्त कौतूहल की सृष्टि के लिए कवि कई युक्तियो का प्रयोग करता है

१ तीव्र आलोकमय उपस्थिति

कवि कभी-कभी इस नाटकीय कौशल से दृश्य उपस्थित करता है कि विचार प्रवाह की दिशा ही एकदम परिवर्तित हो जाती है। इस अकस्मात् परिवृत्ति को पाठक देखता ही रह जाता है। एक उदाहरण लीजिए—शाति-सदेश लेकर दुर्योधन के पास जाने के लिए प्रस्तुत कृष्ण को युधिष्ठिर कहते है कि हम केवल पाच गॉव लेकर ही सतुष्ट हो सकते है। यह बात चल ही रही थी कि इतने मे—

सहसा सभा की भाव-गति मे एक भन्नाटा हुआ
झझागमन के पूव का-सा घोर सन्नाटा हुआ
तत्काल बिजली-सी चमक चौंकी वहाँ कृष्णा कृशा।[1]

शम्पा सदृश इस तीव्र उद्भास से अभिभूत पाठक की चेतना को एक सुखद झटका लगता है जिससे उसे एकरसता-जन्य अरुचि के स्थान पर मधुर तारल्य का अनुभव होता है।

२ सभाव्य का असभावित प्रस्ताव

इन पूवपरिचित कथाओ की जानी-बूझी घटनाओ को भी मैथिलीशरण इस प्रकार प्रस्तुत करते है मानो वे आकस्मिक हो। साकेत के द्वितीय सग मे राम-अभिषेक के समाचार से सुसज्जित साकेत-नगरी के अपरिमित उल्लास का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन-सा फूला सब ओर।[2]

पाठक मन्त्रमुग्ध हो कवि के साथ-साथ झूम रहा है पर अगली ही पक्तिया—

किन्तु हा! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गए मथरा-नेत्र।[3]

---

१ जय भारत, प्रथम संस्करण पृ० ३०४
२ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० ३२
३ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० ३२

पढकर वह चमक उठता है। यद्यपि यह बात निश्चित है—और वह इसे जानता भी है। फिर भी इसका असभावित उपस्थितिकरण सवथा नवीन अतएव कथा की रोचकता का अभिवर्द्धक है।

३ नाटकीय वैषम्य

कोतुहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण नाटकीय विषमता का भी प्रयोग करते हे। साकेत के अष्टम सग मे चित्रकूट-स्थित राम सीता दम्पत्ति आनन्द मग्न है। राम को लक्ष्य कर सीता कहती है—

हो सचमुच क्या आनन्द छिपूँ मै वन मे,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन मे।[१]

इसके काफी देर बाद हनुमान द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलने पर सीता की यह उक्ति अनायास ही याद आ जाती है जो निश्चित रूप से विस्मयकारी हे। यह तो हुई शाब्दिक विपमता। अब जय भारत से परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिए। 'परीक्षा' खण्ड मे अर्जुन की प्रशसा श्रवण कर कर्ण प्रतियोगी के रूप मे मैदान मे उतर आते है—तब युधिष्ठिर अपने मन मे सोचने लगते हे कि यह कैसा वैषम्य है—'इसमे[२] ईर्ष्या जगी है किन्तु मुझ मे क्यो ममता'[३] युधिष्ठिर की इस अप्रत्याशित ममता का भेद कुन्ती के मूर्छित होने पर कवि की निम्न उक्ति से स्पष्ट होता है—

कर्ण उसी का[४] पूत सूत के यहाँ पला था
धर्मराज से बडा भाग्य ने जिसे छला था।[५]

पाठक तो इस रहस्य से यही परिचित हो जाता है किन्तु युधिष्ठिर वर्षों अनभिज्ञ रहते ह। उन्हे तो 'अन्त' मे दाहकर्म के अवसर पर इस बात का पता चलता है। कुन्ती कहती है—'वत्स कर्ण को भी अजलि दो निज अग्रज के नाते।[६] यह सुनते ही युधिष्ठिर को तो मानो काठ मार जाता हे, किन्तु पाठक इस बात को पहले से ही जानता है। परिस्थिति की यह विषमता कितनी करुण-मधुर है।

---

१ साकेत, सस्करण, सवत् २००५ पृ० १६३
२ कर्ण मे
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ५२
४ कुन्तीका
५ जय भारत प्रथम सस्करण, पृ० ५३
६ जय भारत प्रथम सस्करण, पृ० ४१६

इस प्रकार गुप्त जी अपनी उद्भावनाओ एव युक्तियो द्वारा परम्परागत कथानक मे भी रोचकता के सृजन मे सफल हुए है । अपेक्षाकृत साकेत अधिक रोचक है । उसमे उर्मिला के अपरिचित व्यक्तित्व के सस्पर्श से मधुर तरलता आ गई है—किन्तु जय भारत मे ऐसी कोई परिकल्पना नही है । दूसरे उसकी घटना-सकुलता भी रोचकता मे बाधक हुई है ।

गति और अनुपात

रोचकता के साथ ही वस्तु की गति एव अनुपात का प्रश्न सामने आता है । यहा गति से तात्पय है कथा-प्रवाह और अनुपात से अभिप्रेत है कथानक के विभिन्न अवयवो के परिमाण मे सापेक्षिक सम्बन्ध । सफल प्रबन्धकाव्य मे गति तथा अनुपात औचित्य-सीमा मे रहने चाहिए । अर्थात् वस्तु के भिन्न भिन्न अगो की गति और अनुपात मे अतक्य वैषम्य नही होना चाहिए किन्तु ऐसा प्रतीत होता है मैथिलीशरण इनके प्रति सचेत नही है । उनके दोनो महाकाव्यो की गति मे अत्यधिक विषमता है । साकेत के आरम्भिक आठ सर्गों मे अत्यन्त मन्थरता तथा अन्तिम दो सर्गो मे अत्यधिक तीव्रता है । इसी प्रकार जय भारत के प्रथम दो खण्डो —'नहुष' तथा 'यदु और पुरु' की गति मे आकाश-पाताल का अन्तर है यद्यपि वे दोनो ही वश-परम्परा के परिदशनाथ आए है । गति के साथ ही अनुपात भी असम है । एक ओर तो सम्पूर्ण नहुष आख्यान है, दूसरी ओर मत्स्यगधा एव पराशर मुनि का वृत्तान्त एक ही पक्ति मे उल्लिखित है—

नया जन्म सा दिया पराशर मुनि ने मुझे[1] किया धन्या[2]

इसी तरह हिडिम्ब बध, बक-सहार, सैरन्ध्री-कीचक आदि प्रसगो का विस्तृत विवेचन है—किन्तु अर्जुन-उलूपी तथा चित्रागद-अर्जुन ये दो वृत्त केवल छ पक्तियो मे आबद्ध है ।[3] साकेत की भी यही दशा है—प्रथम आठ सर्गों मे केवल कुछ दिन की कथा है । और चौदह लम्बे वर्षो का वृत्तान्त कुल चार सर्गो मे समाहित है । गति और अनुपात का वैषम्य सर्वथा अकारण नही है । किन्तु इस विषमता के लिए कारणो के उत्तरदायी होने पर भी इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि गुप्त जी इस ओर से सावधान नही है और

---

१ मत्स्यगधा को

२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २०

३ ,, ,, पृ० १२४

स्पष्ट शब्दो मे वे गति एव अनुप्रास के साम्य-असाम्य की विशेष चिन्ता नही करते ।

मूल्याकन

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवि की वस्तु विषयक प्राय सभी धारणाए शास्त्र-सम्मत है । वह लोक-प्रख्यात, विस्तृत और सदाश्रित कथानक अपनाता है । किन्तु उसकी प्रकृति अतिरिक्त प्रसिद्ध कथानक की ओर है । साकेत और जय भारत की कथाए प्रसिद्ध ही नही प्रत्येक भारतीय पाठक की जिह्वा पर किंवा उसकी रग-रग मे समाई हुई है । साथ ही उनके विषय मे वाल्मीकि, तुलसी और व्यास अपने ढग पर अंतिम बात कह चुके थे । इन विषयो पर अपेक्षाकृत कम लिखा जाना मेरे इस कथन का प्रमाण है । ऐसी लब्धख्याति एव चरम विकसित कथा वस्तु मे मौलिकता तथा रोचकता का सृजन दुष्कर होता है । तथापि कवि ने इन्हे मौलिक रूप देने के लिए अतुल प्रयास किया है । कविकृत प्रबन्ध एव प्रकरण की वक्रता तथा अन्य अनेक युक्तियो का प्रयोग स्तुत्य ही है । निश्चित रूप से वह मौलिकता माइकेल मधुसूदन कृत मेघनाद वध जसी नही है—यह कवि का अपना दृष्टिकोण है । युगधर्म के अनुसार कथा का पुनर्व्याख्यान होने पर भी उनके परम्परागत रूप की क्षति नही हुई है—साथ ही रक्षा हुई है विषय की गरिमा की जिसका कि मेघनाद-वध मे अभाव है । तात्पय यह कि गुप्त जी मौलिकता अथवा नूतनता के चक्कर मे मूलभूत गरिमा की उपेक्षा नही करते ।—और रोचकता तो इनमे पूवकथाओ से किसी प्रकार भी कम नही है वरन् उर्मिला वृत्त के सश्लेषण से साकेत रामायणो की अपेक्षा अधिक कौतूहलपूर्ण अतएव रोचक बन गया है । निष्कर्षत मैथिलीशरण द्वारा स्वीकृत इन कथाओ मे महाकाव्योचित विराटता, व्यापकता एव गाम्भीर्य है ।

किन्तु गुप्त जी का वस्तु-विधान सवथा निर्दोष नही है । उदाहरण के लिए सबसे पहले तो महाकाव्या की वस्तु का अनियन्त्रित विस्तार ही खटकता है । वे अत्यन्त विशद एव विशाल घटनाचक्र का चयन करते है । साकेत की वस्तु दो महाकाव्यो के लिए पर्याप्त है—उसमे लक्ष्मण उर्मिला तथा राम-सीता की दो वृहत् कथाएँ आबद्ध है—और जय भारत के मूलस्रोत महाभारत की कथा-वस्तु से तो निर्विवादत अनेक महाकाव्यो का निर्माण हो सकता है वरन् किसी ने सम्पूर्ण कथानक को अपनी कृति का विषय बनाया हो नही । किराताजुनीय, शिशुपाल-वध आदि सभी महाकाव्यो मे इस महत् कथा से कोई एक महत्वपूर्ण

घटना गृहीत है—किन्तु मैथिलीशरण जी ने जय भारत मे उसे प्राय समग्र रूप मे अपनाया है । इस प्रकार हम देखते है कि उनकी वस्तु परिमाण-विषयक धारणा निर्भ्रान्त नही है । 'उसका (वस्तु का) परिमाण इतना होना चाहिए जितना कि स्मरणशक्ति वा मनश्चक्षु स्वीकार अथवा धारण कर सके ।'[१] परन्तु व्यापकता के अन्वेषी मैथिलीशरण इस बात का ध्यान नही रखते । इसीलिए उनके महाकाव्यो की वस्तु मे अनपेक्षित विस्तार एव जटिलता है । कथानक के इस विस्तार और जटिलता एव तज्जन्य शैथिल्य के लिए आंशिक रूप मे कवि की श्रद्धा भी उत्तरदायी है । यदि वह रामकथा-आलेखन और महाभारत के सम्पूर्ण कथा-वर्णन का लोभ सवरण कर पाता तो निश्चित रूप से अधिक व्यवस्थित, सुसघटित एव कलापूर्ण महाकाव्य दे पाता ।

महाकाव्य की वस्तु मे समुचित गति और अनुपात के प्रति उदासीनता प्रबन्ध-काव्यकार के लिए दोष है—कुछ प्रसगो मे रम जाना और कुछ को चलता कर देना अपरिहार्य त्रुटि है । किन्तु गुप्त जी इन बातो की चिन्ता नही करते । साकेत के दशरथ-मरण, गुहराज-मिलन, भरत-शत्रुघ्न-आगमन, वन-वासी राम-सीता की गृहस्थी तथा जय भारत के नहुष आख्यान, वन-वैभव, बक सहार, सैरन्ध्री कीचक आदि प्रसगो मे उनकी वृत्ति ऐसी रमी कि वे कुछ स्वतन्त्र से प्रतीत होते है—उनका अपना महत्त्व हो गया है । अन्य अनेक प्रकरण—बालि वध, अर्जुन-उलूपी प्रसग तथा अर्जुन चित्रागदा वृत्त आदि—चलते कर दिए गए है । यह असन्तुलन महाकाव्य की प्रकृत शोभा के लिए हानिकारक है । वस्तु उपर्युक्त प्रसगो मे कवि रस के प्रवाह मे ठीक उसी प्रकार बह गया है जिस प्रकार प्रेमच द जी रगभूमि के कुछ प्रासगिक स्थलो मे ।'[२] यह कवि की अपनी सीमा है—और शक्ति भी । क्यो कि यदि इन प्रसगो को छोड या सक्षिप्त कर दिया जाए तो साकेत और जय भारत का अधिकाश काव्य वैभव नि शेष हो जाए ।

अब रही कवि की स्थान ऐक्य विषयक धारणा । वह वास्तव मे आवश्यक नही है और मैथिलीशरण जी भी उसे महाकाव्य के लिए अनिवार्य नही

१ The whole, he (Aristotle) says, must be of such dimensions that the memory or mind s eye can embrace or retain it
Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, S H Butcher, ed 1932, p, 278

२ डा० नगेन्द्र—साकेत एक अध्ययन, पचम सस्करण, पृ० १६

समझने । यूरोप के आचार्यों ने भी स्थल ऐक्य का निर्देश केवल नाटको के लिए किया था —क्योकि उनके देश मे रगमच पर पट आदि की व्यवस्था न होने से दृश्य-परिवर्तन असभव था। किन्तु आज तो नाटको के लिए भी यह नियम अनिवाय नही रहा फिर महाकाव्य पर जिसका कि मच से कोई सम्बन्ध ही नही है—यह कैसे लागू किया जा सकता है। उसमे तो अनेक स्थलो से सम्बद्ध घटनाओ का प्रकथन सुगमता से हो सकता है। अभिप्राय यह कि स्थान-ऐक्य के अभाव को महाकाव्य मे दोप नही कहा जा सकता। हा, घटना-ऐक्य अनिवायत, आवश्यक हे उसका मैथिलीशरण यथाशक्ति निर्वाह करते ही हैं।

इस प्रकार गुप्त जी के कथानक उदात्त एव ऐतिहासिक तो हैं, उनमे अपेक्षित गम्भीरता और गरिमा भी है, साथ ही रोचकता भी। किन्तु उनमे वाछित अनुपात की कमी है कवि ने यद्यपि अन्विति-सूत्र को सप्रयास अक्षुण्ण रखा हे पर वस्तु के अगो मे कसावट नही है। फिर भी सब मिलाकर वाल्मीकि-तुलसी और व्यास के कथानको को लेकर इतनी सफलता भी श्लाघनीय प्रबन्ध-कौशल की द्योतक है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का महत्वपूर्ण अग है काव्य की इस विधा मे आदर्श जीवन का पूर्ण विश्लेषण होता है। उसमे महच्चरित्रो का अकन होता है। अत महाकाव्य के प्रमुख पात्र गम्भीर एव ओजस्वी होने चाहिएँ जिनका मानव-जीवन पर स्वस्थ प्रभाव पडे। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ महा काव्य के लिए 'धीरोदात्त' गुण-समन्वित नायक अनिवाय मानते है। वस्तुतः सच्चरित्र महान् पात्रो की सजना मे ही महाकाव्यकार की सफलता अ तर्निहित है। किन्तु चरित्र चित्रण मे मैथिलीशरण जी के समक्ष बडी जटिल समस्या थी। उनके सभी पात्र पूवकल्पित थे अर्थात् अपने गुण-अवगुणो के लिए चिर-काल मे प्रसिद्ध थे। यदि कवि उन्हे ज्यो का त्यो स्वीकार करता है तो मौलि-कता का प्रश्न सामने आता है—और यदि उन पात्रो को छोडता है तो ऐतिहासिकता एव लोकप्रसिद्धि पर आघात होता है। ऐसी दशा मे समाधान है केवल पुनस्सृजन एव पुनस्स्पर्श। गुप्त जी इन्ही का आश्रय ग्रहण करते हे। पुन-र्निर्माण के अतिरिक्त वे चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता, सहज मानवीयता, पूज्य पात्रो की गौरव-रक्षा एव प्रमुख पात्रो की धीरोदात्तता आदि का भी विशेप ध्यान रखते है।

पुनस्स्पर्श

परम्परागन ऐतिहासिक चरित्रो मे मैथिलीशरण परिवतन प्राय नही करत फिर भी पुनस्स्पश अवश्य करते है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुध्न, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी, दुर्योधन, कुन्ती और कर्ण आदि मैथिलीशरण के महाकाव्यो के प्रमुख पात्र है। इनमे से उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी एव दुर्योधन के अतिरिक्त शेष सभी पात्र परम्परागामुक्त है तथापि पुनस्स्पश से पर्याप्त अन्तर आ गया है। वाल्मीकि के राम महामानव है—और तुलसी के आराध्य नर होते हुए भी नारायण है। उनका अवतार ही 'विनाशाय च दुष्कृताम' हुआ था—किन्तु गुप्त जी के राम निश्चित रूप से भगवान है—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नही हो क्या ?[1]

उक्त पक्ति मे परिव्यक्त जिज्ञासा मेरे इस कथन की परिचायक है। पर वे भगवान होते हुए भी मनुष्य कर्म करते है। वे कबीर के समान साहब का सन्देश नही लाए वरन् 'इस भूतल को ही स्वग बनाने'[2] आए है। लक्ष्मण का व्यक्तित्व कुछ अधिक तीखा हो गया है यदि उनकी कुछ पक्तियो—

खडी है मॉ बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह
अभी विषदन्त इसके तोड दूगा
न रोको तुम तभी मै शान्त हूँगा।[3]

—को प्रकरण से पथक करके देखा जाए तो कदाचित उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न होगी। किन्तु ये बिषमय विषम वचन भी प्रसग प्राप्त है—और यहा पर निश्चित रूप से पाठक का लक्ष्मण से साधारणीकरण हो जाता है। भरत की साधुता मे वृद्धि हो जाती है और साकेत के शत्रुध्न भी अन्य रामायणो से अधिक क्रियाशील है। युधिष्ठिर परम्परा से श्रेष्ठ पात्र है किन्तु जय भारत मे उनका चरित्र और भी निखर आया है। भीम महाभारत के काफी उद्दण्ड पात्र है—शायद यह शारीरिक बल की अनिवाय सीमा है। जय भारत मे भी उद्दण्डता बनी हुई है पर वह अमर्यादित नही है। पाण्डवो एव द्रौपदी के चरित्रो मे सर्वाधिक परिवतन हुआ है देहपात प्रसग मे। महाभारतकार ने तो

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६७
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६१

यहाँ युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी को सदोष बताया है। उदाहरणत अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते है—

एकाह्ना निदहेय व शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्
न चतत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत्[1]

ऐसे अवसरों व्यक्तियों को भी अन्त मे दोषी बताया जाता है—उनके प्रति पाठक के मन मे जमी हुई पूज्य भावना मानो नगण्य दी जाती है। किन्तु गुप्त जी के युधिष्ठिर देह-पात के कारणों के चक्कर मे न पडकर अपने को बन्धनमुक्त देखते है, जैसे द्रौपदी के गिरने पर उनका कथन है—

तुम नही गिरी अर्जुन के प्रति वह पक्षपातिता मेरी ही[2]

—और सबके पतन पर वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते है। इसमे एक तो पाचाली तथा अनुजो के चरित्र अधिक उज्ज्वल बन जाते है, दूसरे युधिष्ठिर की उदार भावना का परिचय मिलता है। गुप्त जी के धृतराष्ट्र एक विवश पिता है—पुत्र जिनकी सुनता ही नही वरन् मनमानी करता है। महाभारत मे धृतराष्ट्र कपटी है, अनेक दुरभिसन्धियो मे उनका भी हाथ है। जय भारत मे वे मोहान्ध तो अवश्य है पर छल-कपट से सवथा शून्य है।

स्त्री पात्रो मे उर्मिला तो कवि की अपनी उवर कल्पना की ही सृष्टि है—कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता का परिहार भी तो साकेत का उद्देश्य था। सीता परम्परागत आर्या रूप मे ही प्रतिष्ठित है—किन्तु जगदम्बा होते हुए भी उनमे मानवीयता का कुछ अधिक समावेश हो गया है। देखिए कितना सहज-सात्विक पर सवथा मानवीय चित्रण है—

गोट जडाऊँ घूघट की—बिजली जलदोपम हट की,
परिधि बनी थी विधु-मुख की, सीमा थी सुषमा सुख की।[3]

—तथापि उनका आयत्व अखण्ड है। माण्डवी का सम्पूर्ण वृत्त कल्पना-प्रसूत है। पूव रामायणो मे कही भी उनका चित्रण नही—गुप्त जी ने भरत के अनुरूप ही उनकी चरित्र-सजना की है। कुन्ती मे उन्होने क्षत्रियत्व के साथ-साथ मातृ-हृदय की भी प्रतिष्ठा की है—'बक सहार' प्रसग मे मै पहले ही इसका उल्लेख कर चुका हूँ। द्रौपदी केवल भावमयी नही रही—उनके व्यक्तित्व

---

१ महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व २।११
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४ १
३ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० ७८

मे बौद्धिकता का भी समावेश हुआ है । अतएव दो-एक स्थलो पर उनके तर्क मे पर्याप्त तीक्ष्णता है ।

सगति

पात्रो के पुनर्निर्माण मे कवि की दृष्टि स्वाभाविकता एव सगति की ओर भी रही है । इस युग मे चरित्रगत अस्वाभाविकता एव असगति ही कवि को सर्वाधिक अखरती है । गुप्त जी उनका विवेक सम्मत परिहार करते है । उदाहरणत रामायणो मे लक्ष्मण को एक ओर तो अत्यन्त क्रोधी और क्रमठ तथा दूसरी ओर राम सीता के समक्ष निर्जीव एव निष्क्रिय कठपुतली-सा प्रदर्शित किया गया है—कैसी विचित्र बात है ! साकेतकार सर्वप्रथम इस असगति को पहचानता है । राम के सम्मुख नतशिर तो साकेत के लक्ष्मण भी है किन्तु वे अवसर आने पर—

प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण मे ।[१]

—की घोषणा भी कर सकते है । मै समझता हूँ यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है और उसे स्वाभाविकता प्रदान करती है । ऐसी ही एक असगति थी युधिष्ठिर के चरित्र मे । महाभारत मे वे सहगामी श्वान को तो त्याग कर स्वर्गारोहण के लिए राजी नही होते । पर स्वर्गस्थ दुर्योधन को देखते ही उबल पडते है—दुर्योधन के साथ उन्हे स्वर्ग मे रहना भी स्वीकार्य नही—

अस्ति देवा न मे काम सुयोधनमुदीक्षितुम[२]

मानव महत्व के प्रतिष्ठापक मैथिलीशरण इस त्रुटि का निराकरण करते है । और सवभूतहित कामना के विश्वासी युधिष्ठिर को वहाँ प्रसन्न ही दिखाते है, उद्विग्न नही ।[३] इस प्रकार गुप्त जी चरित्रो से अनौचित्य एव असगतियो का परिहार कर उन्हे स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करते है ।

सहज मानवीयता की खोज

मैथिलीशरण जहाँ चरित्रगत असगतियो का निराकरण कर उन्हे स्वाभाविक रूप देते है, वहा पात्र मे सहज मानवीयता की स्थापना भी करते हैं । प्रकृति-भेद से चरित्र दो प्रकार के हुआ करते है—आदर्श और सामान्य । सात्विक अथवा तामस प्रकृति के पात्र आदर्श—और राजस प्रकृति के चरित्र

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५ पृ० १७०

२ महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १।१०

३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४३७

सामान्य होते हे । इन्हे मानवीय और अतिमानवीय भी कहा जा सकता है। गुप्त जी आदर्श पात्रो मे भी मानवीय गुण दोषो का सन्धान करते हे—अति-मानवीयता के स्थान पर मानवीय शक्ति का विकास दिखाते है। सिद्धा तत वे राम मे ईश्वरत्व का आरोप करते हे, फिर भी चित्रण मानव-रूप मे ही हुआ है। राम और सीता के दाम्पत्य मे सदगृहस्थी का स्वस्थ निदशन है।[1] राम मे मानवसुलभ दुबलता भी है—पिता की मृत्यु से अवगत होते ही साधारण मनुष्य के समान उनका गला रुँध जाता है, नेत्रो मे आँसू छलछलाने लगत हे। इतना ही नही व अपने को निस्सहाय, निरवलम्ब, अनुभव करते हे—और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से पितृ-तुल्य रहने की प्रार्थना करते है।[2]

सीता भी एक कुलवधू के रूप मे उपस्थित हुई हे—साकेत के चतुथ सग की सीता मे शुद्ध मानवीय रग है। उधर जय भारत मे कृष्ण सर्वपूज्य पात्र हे।—किन्तु हे मानव ही। वे महामानव भले ही बन गए ह पर महाभारत क समान अतिमानव नही। महाभारत मे कृष्ण जब युधिष्ठिर की ओर स शान्ति-सदेश लेकर जाते हे तो दुर्योधन द्वारा उनको बाँधने का प्रयत्न होने पर उनके शरीर म ही अनेक देवता और भीमार्जुन आ जाते है।[3] किन्तु जय भारतकार के अनुसार अतिमानवीय शक्तिया नही आती। कवल कृष्ण के दृष्टि निक्षेप क प्रभाव से दुर्योधन लडखडा कर गिर पडता है।[4] यह तो हुई सात्विक आदश पात्रो की बात। रावण परम्परा से तामस आदश है। कवि न उसकी अतिमानवीय शक्तियो का भी उल्लेख नही किया है। इस प्रकार वह आदश चरित्रो मे भी सहज मानवता का समावेश करता है।

धिक्कृत पात्रो का परिष्कार

आदश चरित्रो मे मानवीयता की प्रतिष्ठा के साथ मैथिलीशरण दूषित पात्रो का उद्धार भी करते है।—व विकृत पात्रो के भी आन्तरिक सौन्दय का उद्घाटन करते है। भारतीय साहित्य के चिरकलकित पात्रो—कैकेयी और दुर्योधन की तो उन्होने काया ही पलट दी है। कैकेयी के लिए पुत्र-प्रेम अभिशाप बनकर आता है और वह सदैव को कलकित हो जाती है। किन्तु गुप्त जी ने चित्रकूट सभा मे कैकेयी को सफाई पश करने का अवसर प्रदान कर इस

---

१ साकेत, अष्टम सग

२ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० १७८

३ महाभारत—उद्योगपर्व १३०।४-६

४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३२८

कलक को धो डाला है। साकेत के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युग-युगान्तर का घनीभूत मालिन्य निशेष हो जाता है। दुर्योधन भी परम्परा से कलकित है—महाभारतकार ने उसे 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' के रूप मे चित्रित किया है। जय भारत के कवि ने भी यथास्थान उसके दुष्कृत्यो का उल्लेख किया है—किन्तु वह उस पापराशि के हृद्गत सौन्दर्य के भी दर्शन करता है। दुर्योधन का कर्मयोगी रूप देखिए—

यही तोष मुझको
अन्त तक कोई त्रुटि छोडी नही हमने।[1]

पाषाण हृदय दुर्योधन के मन मे भी दया जैसी कोमल भावना मैथिलीशरण स्थापित करते है। इसका पता उस समय चलता है जब दुर्योधन अश्वत्थामा के पाण्डवो की हत्या करने की प्रतिज्ञा कर लेने पर एक पिण्डदाता छोडने की बात कहता है।[2] वस्तुत जय भारतकार के दुर्योधन के प्रत्येक कार्य मे औदात्य है, पग-पग पर स्मरणीय शालीनता है। उसके अपने शब्दो मे—

ठाठ से मै आया और ठाठ से ही जाऊँगा।[3]

रावण, कर्ण और दु शासन के सदोष चरित्रो मे भी कवि मानव गुण का सृजन करता है। उनकी पाप-कालिमा सर्वथा प्रक्षालित नही हो पाती तथापि उसमे एक ज्योतिष्करण का उद्भास अवश्य दृष्टिगत होता है। रावण-से घोर-कठोर व्यक्ति के हृदय-गह्वर मे भी मैथिलीशरण भव्यता देखते है। कम से कम एक बार तो राम को भी उसे अपने से अधिक सहृदय मानना पडता है।[4] द्रौपदी वस्त्रहरण मे सक्रिय योगदान कर्ण के दानी-मानी एव ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए अभिशाप है—फिर भी वह महान् है। केवल एक गुण—मित्र-धर्म का निर्वाह ही कर्ण को सम्पूर्ण दोषो से मुक्त कराने मे समर्थ है। कितना विश्वसनीय और साहसी है वह व्यक्ति जो मित्र के दोषो से अभिज्ञ होने पर भी आपत्काल मे उसे त्यागने को तैयार नही—

क्या सकट मे उसे छोड दूँ जो मुझ पर अवलम्बित है।[5]

इसी प्रकार कवि ने दु शासन मे भ्रातृत्व सी भव्य भावना का सधान किया

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० [illegible]
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० [illegible]
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० [illegible]
४ साकेत, [illegible] करण [illegible] ०५, पृ० [illegible]
५ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २३३

है—वही उसके जीवन का मूलमन्त्र है। वह अपने को दुर्योधन का भाई न मानकर किंकर समझता है।[1] यह जय भारतकार की ही परिकल्पना है। वस्तुत गुप्त जी की प्रवृत्ति दोष-दर्शन की ओर न होकर तलवासिनी मानवीय प्रेरणा के उद्घाटन की ओर रहती है।

पूज्य पात्रो की गौरव-रक्षा

जब कवि दूषित पात्रो के भी आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकाशित करता है तब यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पूज्य पात्रो के चरित्रो मे मिलनेवाली एकाध त्रुटि का भी परिहार करे। अतएव मैथिलीशरण सम्मान्य पात्रो के गौरव की रक्षा के लिए उत्कट प्रयत्न करते है। वाल्मीकि रामायण मे रावण के देहावसान पर शोक-सतप्ता मन्दोदरी तो सहगमन की इच्छा करती है—

नय मामपि दु खार्ता न वर्तिष्ये त्वया विना।
कस्मात्त्व मा विहायेह कृपणा गन्तुमिच्छसि॥[2]

परन्तु दशरथ-मरण के अवसर पर उनकी अश्रुविगलित रानियो मे से कोई भी ऐसा नही करती। सती-प्रथा अपने आप मे त्याज्य होते हुए भी पति की गौरव व्यजक है। और उस युग मे तो ऐसा होता ही था। अत दशरथ-से महामहिम नृप के लिए किसी पत्नी का ऐसी बात न कहना कुछ खटकता है, किन्तु गुप्त जी ने इसकी क्षति-पूर्ति की। यद्यपि वसिष्ठ के परामर्श के कारण सती क्रिया सम्पन्न साकेत मे भी नही होती तथापि प्रस्ताव तो है—

हाय! भगवान् क्यो हमारा नाम?
अब हमे इस लोक मे क्या काम?
भूमि पर हम आज केवल भार?[3] **आदि।**

यहाँ निश्चित रूप से दशरथ के गौरव एव रानियो की गूढानुरक्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार वह द्रौपदी-चीरहरण प्रसग मे भीष्म, द्रोण और विदुर को पाप-सभा से हटाकर उन पुण्यात्माओ के आत्म-सम्मान एव मर्यादा की रक्षा करता है। साकेत मे राम-चरित की भव्यता मे बाधक छद्म से बालि-वध का प्रसग केवल एक पक्ति मे चलता कर दिया गया है।[4] और द्रौपदी चरित्र

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २०५
२ वाल्मीकि रामायण—युद्धकाण्ड, ११।६०
३ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० १६८
४ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० २५८

के औज्ज्वल्य की रक्षा के लिए तो कवि ने प्रकरण ही बदल दिया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर निमंत्रित दुर्योधन को मयकृत भवन मे जल मे थल का तथा स्थल मे जल का आभास होने पर द्रौपदी ने उसका उपहास किया था—यह कृत्य उसके परिष्कृत चरित्र के लिए अशोभनीय है, अत गुप्त जी ने प्रकरण ही बदल दिया—

> हुआ कक्ष मे घुसते उसको द्वार खुला प्रतिभात,
> लगा किन्तु उसके ललाट मे स्फटिक कपाटाघात।
> जल मे थल का, थल मे जल का देख उसे भ्रमभास,
> रोक न सके दास दासी भी आकस्मिक उपहास।[1]

—और द्रौपदी को साफ बचा लिया। इस प्रकार मैथिलीशरण पूज्य पात्रो की गौरव रक्षा के लिए अनेक युक्तियो का प्रयोग करते है।

प्रमुख पात्रो की धीरोदात्तता

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाकाव्य के मुख्य पात्र धीर, गभीर एव ओजस्वी होने चाहिए। हम देखते है कि साकेत और जय भारत के सभी प्रमुख अर्थात् विजयी पात्र धीरोदात्त है। राम, भरत, शत्रुघ्न, सीता, युधिष्ठिर अर्जुन, कृष्ण और कुन्ती आदि की धीरोदात्तता तो निर्विवाद ही है। हा, लक्ष्मण, उर्मिला और द्रौपदी के धीरोदात्त्य पर शका हो सकती है। क्या लक्ष्मण-सा क्रोधी व्यक्ति भी धीर है? क्या रुदनरता उर्मिला और द्रौपदी भी उदात्त हो सकती है? किन्तु इन प्रश्नो का समाधान कठिन नही। लक्ष्मण अवश्यमेव क्रोधी है—वे झट से क्रुद्ध हो जाते है। पर अकारण नही, उनका क्रोध साधार होता है अत वह दूषण नही माना जा सकता। वस्तुतः हम ऊपर से उन्हे कितना ही उद्धत क्यो न बताए भीतर से तो उनके इस रूप पर मुग्ध ही है।—और फिर धीरोदात्तता मे धीरता-गम्भीरता के अतिरिक्त ओज भी तो अपेक्षित है। अपेक्षाकृत राम और भरत मे धीरता तथा गम्भीरता अधिक है—लक्ष्मण मे भी उनका एकान्ताभाव नही पर ओज का प्राचुर्य है। अभिप्राय यह कि राम भरत तथा लक्ष्मण मे मात्रा का अन्तर है प्रकार का नही। उर्मिला और द्रौपदी रुदनशीला है—किन्तु उनकी करुण परिस्थितियाँ भी तो देखिए। अपरिमेय कष्ट-सहिष्णुता उनकी धीरता की ही परिचायक है।—और यदि उनके व्यक्तित्व का ओज देखना हो तो पाप-सभा ने दु शासन को

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १३४

दुत्कारती हुई द्रौपदी एव शत्रुघ्न के साथ लका प्रस्थान की इच्छुक उर्मिला के दशन कीजिए। साराश यह कि गुप्त जी महाकाव्य के प्रमुख पात्रो मे धीरोदात्तता चाहत है।

दोष

मैथिलीशरण के चरित्र चित्रण मे कुछ दोष भी है। उर्मिला को ही लीजिए। कवि उसे साकेत की नायिका बनाना चाहता है—और वह इसमे सफल भी है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसे हर जगह घुसेड दिया जाए—अवाछनीय अवसरो पर भी उपस्थित कर दिया जाय। द्वादश सग मे वह अकस्मात् सेना के समक्ष आती है और 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश देने लगती है। षष्ठ सग मे दशरथ-मरण के अवसर पर भी वही सर्वाधिक रोती है—कौशिल्या एव सुमित्रा से भी अधिक! कितनी विचित्र बात है! वास्तव मे कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के बहाने से उचित से अधिक मुखर बना दिया है।[1] इसी प्रकार दुर्योधन के चरित्र का परिष्कार करते करते आदश को भुला बैठा है। क्या दुर्योधन की स्वग-प्रतिष्ठा समीचीन है? आयुपर्यन्त दुष्कम करने पर भी यदि दुर्योधन को बैकुण्ठवास मिल गया तो नरक का निमाण किसके लिए हुआ था? महाभारत मे भी दुर्योधन स्वग-धाम-स्थित है पर वहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जिन लोगो का पाप अधिक और पुण्य थोडा होता है उनको पहले स्वग और फिर नरक मे रखा जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पुण्य अधिक और पाप थोडे करते है उन्हे पहले नरक मे और फिर स्वग मे रहना होता है। इस प्रकार महाभारतकार ने दुर्योधन के अन्तत नरक-पात का सकेत कर दिया है। किन्तु जयभारत मे ऐसा कोई निर्देश नही है। पाण्डवो के नरक-भोग का तो उल्लेख है—दुर्योधन के स्वर्ग-भ्रष्ट होने का नही। अत पाठक को भी युधिष्ठिर के साथ यही कहना पडता है—

तब सुकृती रहा सुयोधन ही[2]

क्या यह आदशवाद पर कुठाराघात नही है? मै समझता हू दशरथ से महामहिम चक्रवर्ती राजा के गौरव की रक्षा भी कवि पूणत नही कर सका। साकेत मे उन्हे निष्क्रिय विलासी राजाओ की पक्ति मे बठा दिया गया है।

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, सस्करण सन् १९४९, पृ० ४४
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४४०

प्रेमी तो 'मानस' के दशरथ भी है—

जानसि मोर सुभाऊ बरोरू
मनु तव आनन चन्द चकोरू ।[1]

—पर साकेत के समान अतिरिक्त विलासी नही । ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पात्र को प्रमुखता देते समय या किसी का परिष्कार करते समय गुप्त जी अन्य आनुषगिक बातो को विस्मृत कर देते हे ।

कई पात्रो के चरित्र उलझ भी गए है—उनमे मानवीय और अतिमानवीय गुणो का सम्मिश्रण है । परिणामत उन पात्रो के चरित्र न तो सर्वथा लौकिक है और न ही बिल्कुल अलौकिक । उदाहरण के लिए राम मानव के रूप मे चित्रित है—मानवसुलभ दुबलताए भी उनमे हे । अनेक स्थलो पर उनमे मोह का प्राचुय देखा जा सकता हे, जैसे पिता के लिए सुमन्त्र को दिये गए सन्देश मे ।[2] लक्ष्मण-शक्ति प्रसग मे उनके शोक का भी दशन किया जा सकता है । किन्तु कवि उन्हे स्पष्ट रूप मे भगवान मानता है । मैथिलीशरण राम को निर्गुण का सगुण अवतार मानते है ।[3] वे स्वय भी अपने देवत्व की घोषणा करते है—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेगे
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेगे ।[4]

सीता के चरित्र मे कवि ने कुछ अधिक मानवीय रग भरा है। पुत्र वधू के रूप मे वे कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही है ।—और 'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह-कहकर[5] आवश्यक वस्तुए लाती है । कैसा सहज पार्थिव चित्र है ! पर सीता के जिज्ञासा प्रकट करने पर गुप्त जी राम तथा सीता दोनो की दिव्यता प्रदर्शित करते है ।[6] ऐसे ही जय भारत के कृष्ण महामानव के रूप मे प्रकट हुए है, किन्तु उनकी अलौकिक शक्तियो का सवथा लोप नही हुआ है । कृष्ण शान्ति-सदेश लेकर जाते हे । दुर्योधन के उनको पकडने की कुचेष्टा करने पर अनेक कृष्ण तो नही बनते पर उनके दशनाथ जन्मान्ध धृतराष्ट्र के नेत्र अवश्य खुल जाते है—

---

१ रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १०८
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ५१२
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६७
५ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ७२
६ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० १६५

जग गये एक क्षण के लिए दृग-दीपक जो थे बुझे ।[1]

इस प्रकार कुछ पात्रो के चरित्र मे दिव्य और मानवीय गुणो की उलझन है । वस्तुत इस वैज्ञानिक और बौद्धिक युग के कवि को अमानवीयता से कोई अनुराग नही है । इसीलिए उसने यथासभव मानवीयता की रक्षा का प्रयास किया है । किन्तु उसके हृदयस्थ भक्त को राम, कृष्ण, सीता आदि मे अपार श्रद्धा है । उसी के कारण इन पात्रो मे देवत्व की स्थापना होती है । युग-चेतना और कवि-हृदय के वैषम्य के प्रभाव-स्वरूप ही राम, कृष्ण और सीता के चरित्रो मे विषमता है—उनमे लौकिकता और अलौकिकता का विचित्र सश्लेषण है ।

रस

रस काव्य की आत्मा है । अत सरसता किसी भी साहित्यिक कृति का अनिवार्य गुण है । विशेषत महाकाव्य मे तो रस का अविरोध सचार होना चाहिए—काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी का 'रसभावनिरन्तरम्' से यही अभिप्राय है ।—और महाकाव्य मे यथास्थान सभी रसो का समावेश अनिवार्य माना गया है । किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति मे भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमे कि शेष सब का पर्यवसान हो ।[2] साकेत और जय भारत का कवि जीवन की प्राय सम्पूर्ण अवस्थाओ का अकन करता है । अत उनमे न्यूनाधिक मात्रा मे सभी रस उपलब्ध हे । अपेक्षाकृत रति एव उत्साह की अधिक व्यजना है । अत गुप्त जी के महाकाव्यो मे शृगार तथा वीर का प्राधान्य है । किन्तु परिष्कृत-रुचि कवि मैथिलीशरण शृगार और वीर का सयत चित्रण ही करते हैं । साकेत के प्रथम सर्ग मे ही लक्ष्मण-उर्मिला का मधुर स्निग्ध वाग्विनोद

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३२२

२ One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and published by Manmath Nath Dutt Vol II Edition 1904

है। आलिंगन का चित्र भी उपस्थित हुआ है। पर कही भी लालसा के दाह का वीभत्स प्रदशन नही है। नवम एव दशम सर्गों मे विप्रलम्भ का उत्कृष्ट निदर्शन है। जय भारत मे भी शृगार के चार प्रसग आते है। योजनगधा, हिडिम्बा, जयद्रथ और सैरन्ध्री। शास्त्रीय दृष्टि से इनमे से 'जयद्रथ' शीर्षक प्रकरण मे जयद्रथ का द्रौपदी के प्रति प्रेम प्रदशन और सैरन्ध्री-प्रसग मे कीचक का सैरन्ध्री के प्रति प्रणय निवेदन रसाभास कहे जाएँगे। जय भारत मे विप्रलम्भ शृगार का एकान्ताभाव है।

वीर मे युद्ध-वीर का चित्रण प्राय गुप्त जी नही करते। उनके महाकाव्यो मे युद्ध का विवरण न मिलकर व्यजना अधिक मिलती है। वस्तुत दया वीरता एव धर्म-वीरता की ओर ही कवि का विशेष ध्यान रहा है। 'युद्ध' अध्याय के अतिरिक्त शेष सभी—विशेपत परीक्षा, हिडिम्बा, वक-सहार, राजसूय आदि—खण्डो मे भी यत्र-तत्र उत्साह परिव्यक्त है। साकेत के लका युद्ध प्रसग मे वीर रस व्यजित है। रौद्र के साकेत मे मुख्य दो प्रसग है १—लक्ष्मण का कैकेयी विरोध, २—लका-युद्ध, जय भारत मे तो दो-एक प्रकरणो को छोडकर रौद्र सवत्र ही विद्यमान है, किन्तु वह सदैव वीर के सहायक रूप मे ही आया है। करुण के लिए साकेत के दशरथ-मरण तथा लक्ष्मण-शक्ति प्रसग और जय भारत के सैरन्ध्री, केशो की कथा, युद्ध तथा विलाप आदि प्रकरण द्रष्टव्य है। वक सहार, स्वर्गारोहण एव भरत तपस्या प्रसगो मे शान्त रस उपलब्ध है। अद्भुत और हास्य का प्राय अभाव है। भयानक और वीभत्स का चित्रण भी बहुत कम है। युद्ध वलित काव्यो मे उनका अभाव तो असम्भव है—किन्तु प्राचीनो के समान आधिक्य नही। लका-युद्ध तथा हिडिम्बा, युद्ध, कुरुक्षेत्र आदि प्रकरणो मे वीभत्स और भयानक के उदाहरण मिल सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि गुप्त जी के महाकाव्यो मे सभी रस समाविष्ट है। उनमे शृगार और वीर की प्रधानता है। साकेत मे शृगार तथा जय भारत मे वीर रस प्रमुख है।—और शेष सभी रस उनमे पयवसित हैं। निष्कष यह है कि मैथिलीशरण शृगार और वीर को अगी तथा अन्य रसो को अग-रूप मे ग्रहण करते हे। वास्तव मे इन रसो का जीवन की मूलवृत्तियो से सहज सम्बन्ध है—शृगार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से और वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से। इसीलिए आचाय विश्वनाथ ने भी इन्हे अगी-पद प्रदान किया है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी ने शृगार को भोग-प्रधान न बनाकर भव्य त्याग से युक्त उदात्त रूप प्रदान किया है। उनका प्रेम शरीर की भूख न होकर आत्मा का गुण है—उसमे स्वाथमयी

वासना न मिल कर निस्स्वार्थ आत्म-विनय की भावना मिलती है। इसी प्रकार उनके वीर मे हिंसात्मक उत्साह नही हे वरन् व्यापक अर्थ मे धममय उत्साह है। और स्पष्ट शब्दो मे वह वैरवृत्ति से पुष्ट मानव-द्वेषी युयुत्सा नही हे वरन् मानव कल्याण की कामना से प्रेरित सात्विक उत्साह है। राम एव युधिष्ठिर का उत्सव पाठक को सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है, क्रूरता की नही।

विविध वस्तु वर्णन

महाकाव्य-सी विराट् रचना मे जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—उसमे उनकी सभी परिस्थितियो का आलेखन आवश्यक है। जीवन और जगत् के विभिन्न चित्रो की बृहत् योजना के लिए ही आचार्यों ने सध्या सूय, नगर नदीश, सयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार, युद्ध-यात्रा आदि का यथास्थान सागोपाग वर्णन महाकाव्य मे अनिवार्य माना है। स्पष्टत इसके दो भाग किए जा सकते हे

१ प्रकृति-चित्रण

२ सामाजिक जीवन का चित्रण

अभिप्राय यह कि महाकाव्य मे प्रकृति एव सामाजिक जीवन (इसके अन्तगत पारिवारिक एव राजनैतिक जीवन भी सम्मिलित है) का विशद वर्णन होना चाहिए।

प्रकृति-चित्रण

मैथिलीशरण शुद्ध प्रकृति-चित्रण बहुत कम करते है। वास्तव मे वे मानवीय सम्बन्धो के कवि है। उनकी कविता का मुख्य विषय मानव ही है—मानवेतर सृष्टि की ओर उनका ध्यान नही जाता। प्रकृति के प्रति गुप्त जी के मानस मे छायावादी कवि का-सा सहज अनुराग नही है। अतएव उनके यहाँ आलम्बन रूप मे प्रकृति वर्णन का प्राय अभाव है। वह या तो अप्रस्तुत के रूप मे गृहीत है, जैसे—

एक तरु के विविध सुमनो से खिले
पौरजन रहते परस्पर है मिले।[1]

—या फिर भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि अथवा भूमिका के रूप मे उपस्थित है।—और जहाँ आलम्बन रूप मे चित्रण होता भी हे वहाँ

---

१ साकेत, सरकरण, सवत् २००५, पृ० १५

कवि की वृत्ति नही रमती । साकेत के प्रथम सर्ग मे कवि—'सूर्य का यद्यपि नही आना हुआ[1] ।'— आदि से प्रात काल का वर्णन प्रारम्भ करता है—किन्तु थोडी देर बाद ही वह अपने प्रकृत विषय पर आ जाता है—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद मे
कौन यह बाला खडी प्रासाद मे ।[2]

इस प्रकार उषाकाल का वह सारा दृश्य उर्मिला-वर्णन का पूर्वाभास है । ठीक इसी तरह जय भारत मे अमावस्या की कालिमामयी रात्रि की घोरता का निरूपण[3] भी पाण्डव-पुत्रो की भावी हत्या की भूमिका प्रस्तुत करता है—उसका अपना स्वतन्त्र महत्त्व नही है । फिर भी प्रयास करने पर शुद्ध प्रकृति-चित्रण के दो-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल सकते है । उदाहरणत साकेत मे छाया[4] तथा चित्रकूट[5] के मानवीकरण का उल्लेख किया जा सकता है ।—और जय भारत मे नदी-नदीश का मिलन तो देखते ही बनता है—

मिलन गगा और सागर का जहाँ था,
क्षार रस भी हो उठा मधुमय वहाँ था !
एक तन मे ही न पाकर तोष गगा
बन गई शततनु, सहस्त्र-तरग भगा ।[6]

नदी अथवा समुद्र का चित्रण तो अनेक कवियो ने किया है—किन्तु दोनो के मिलन का अकन अपूव है ।

सामाजिक, राजनीतिक जीवन का चित्रण

महाकाव्य किसी भी देश के जातीय जीवन का कोष होता है— उसमे सामाजिक (पारिवारिक और राजनैतिक भी) जीवन की प्रमुखता होनी है । मैथिलीशरण भी अपने महाकाव्यो मे जीवन की नाना परिस्थितियो का आलेखन करते है । उनमे राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पुत्र-माता, पुत्र-विमाता, सास-वधू, देवर-भाभी, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के सम्बन्धो तथा विवाह, स्वयवर, सयोग-वियोग, युद्ध इत्यादि का यथायोग

---

१ साकेत, सम्करण, सवत् २००५, पृ० १७
२ साकेत, सस्करण, सवत् २००५, पृ० १९
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४०३
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृठ ११०
५ साकेत, सस्करण मवत् २००५, पृ० ११३
६ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १५९

निरूपण है। दो-एक उदाहरण लीजिए। साकेत के चतुर्थ सर्ग में सीता कौशल्या के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर रही है। सास बहू के सहज-सरल सम्बन्ध का पावन चित्र देखिए—

'मां क्या लाऊं ?' कह कह कर—पूछ रही थी रह रह कर
सास चाहती थी जब जो,—देती थीं उनको सब सो
कभी आरती, धूप कभी, सजती थी सामान सभी[1]

जय भारत से अर्जुन-द्रौपदी का वाग्विनोद उद्धृत करता हूँ—

(अर्जुन) तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं यही कामना मेरी।
(द्रौपदी) इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी।
"नहीं भूलता है यह सुख मुझको चाहे जहाँ रहूँ मैं"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ या निज दुर्भाग्य कहूँ मैं ?"
"मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"[2]

इत्यादि।

इसमें साकेत के संयोग-वर्णन जैसी सूक्ष्म-स्निग्धता नहीं है फिर भी पर्याप्त तरलता है। इनके अतिरिक्त साकेत के राम वनगमन प्रसंग तथा जय भारत के तीर्थयात्रा और स्वर्गारोहण खण्डों में यात्रा का विवरण है। वन-वैभव प्रकरण में जल विहार का मनोमोहक चित्रण है तथा राजसूय अध्याय में राजसूय यज्ञ का आयोजन उपलब्ध है। दशरथ-मरण प्रसंग में दाहकर्म का भी उल्लेख है। साकेत और जय भारत दोनों में युद्ध का विशद वर्णन तो है ही।

सारांश यह है कि मैथिलीशरण जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करते हैं। वे यथासंभव जीवन और जगत की सम्पूर्ण स्थितियों का अंकन करते हैं। प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत कम है—इसका कारण कवि की अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति है।

उद्देश्य

किसी भी सदनुष्ठान का लक्ष्य धर्मार्थकाममोक्ष हुआ करता है। अतः सामान्य रूप में काव्य मात्र का—विशेष रूप से महाकाव्य का—उद्देश्य जीवन के इन परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही है। गुप्त जी भी अपने महाकाव्यों में इनकी प्रतिष्ठा करते हैं। जय भारत का मुख्य कार्य दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय

१ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० ७२
२ जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० १७६

है जो कि पाप पर पुण्य की विजय की द्योतक है। ऐसे ही साकेत मे उर्मिला के माध्यम से भोग के ऊपर त्याग की विजय व्यजित की गयी है—वह प्रिय पथ का विघ्न न बनकर विरह-व्यथा को ही श्रेष्ठ समझती है। जिन कृतियो मे असत् पर सत् और भोग पर त्याग की विजय की स्थापना हो वे निश्चित रूप से धम की साधक है। औरअथ प्रत्यक्षत तथा काम एव मोक्ष परम्परा-सिद्ध है। इस प्रकार ये दोनो प्रबन्ध धर्मार्थकाममोक्ष के साधक है।

कि तु महाकाव्य का कुछ विशेप ध्येय भी होता है। सामान्य फल के ऐक्य की अवस्थिति मे भी काव्य और महाकाव्य के उद्देश्य मे कुछ अन्तर है। काव्य मे तो किसी रमणीय भावना की व्यक्ति होती है, और बस! पर महाकाव्य मे ऐसे महच्चरित्रो की अवतारणा होती है, जिनका देश के नैतिक, साँस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन पर पुष्कल प्रभाव होता है—जो सभ्यता और सस्कृति के इतिहास पर अमिट छाप छोड जाते है। और स्पष्ट शब्दो मे महाकाव्य किसी महान् एव उदात्त व्यक्तित्व की कल्पना को साकार करने के लिए लिखा जाता है। प्रमुख पात्र मे जीवन की महानतम सम्भावनाओ को चरिताथ किया जाता है। मैथिलीशरण अपने महाकाव्यो के लिए मुख्य पात्र के रूप मे ऐसे ही महामना चरित्रो का चयन करते है—उनके सर्वप्रमुख पात्र स्वार्थ ही नही परार्थ और परमाथ की ही साधना करते है। उर्मिला समष्टि के निमित्त व्यष्टि का त्याग करती है। युधिष्ठिर भी धम के लिए युद्ध करते है, स्वार्थ के वशीभूत हो कर नही। इस प्रकार दोनो के महार्घ जीवन-वृत्तो द्वारा स्वाथपरक मूल्यो की नही वरन परायपरक जीवन मूल्यो की—उच्चतर मानवीय भावनाओ की प्रतिष्ठा होती है। तात्पय यह कि गुप्त जी के महाकाव्यो मे असत् का तिरस्कार कर सत् की प्रतिष्ठा—स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की श्रेष्ठता का महान् सदेश है।

इसके अतिरिक्त कवि ने उनमे समग्र जाति किंवा राष्ट्र के शाश्वत जीवन का, उसकी आशाओ-आकाक्षाओ का, विचारो-विश्वासो का, नीति आदर्शो का, भव्य चित्र प्रस्तुन कर अखण्ड भारतीय जीवन का प्रतिफलन किया है। युगधर्म के अनुकूल हमारे चिर-अभीष्ट राष्ट्रीय सास्कृतिक मूल्यो की काव्यात्मक प्रतिष्ठा इन महाकाव्यो की विशेपता है। वास्तव मे युगधर्म का सन्देश जिस ज्वलन्त रूप मे यहा मिलता है वैसा न प्रिय प्रवास और कामायनी मे है न मेघनाद वध मे। तुलसी के रामचरितमानस के पश्चात् इस दृष्टि से साकेत-जय भारत का अपना विशिष्ट स्थान है।

शैली

महाकाव्य की शैली उसके महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप ही अत्यन्त शालीन, विभूतिमती तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए। जीवन और जगत् के वैविध्य-वर्णन मे सक्षम तथा विस्तारगर्भा होनी चाहिए। इसलिए अरस्तू ने महाकाव्य की शब्दावली, पद-रचना, छान्दिक सगीत आदि मे असाधारणता को अनिवार्य तत्त्व माना है। उसमे वैविध्य की अवस्थिति मे भी प्रारम्भ से अन्त तक असाधारण ओज, समृद्धि और गाम्भीर्य अपेक्षित है जो कि चित्त की स्फीति मे समर्थ हो। किन्तु मैथिलीशरण के महाकाव्यो की शैली मे अत्यधि कवैषम्य है। कही उसमे महाकाव्योचित गरिमा और गम्भीर प्रवाह है, जैसे—साकेत के पचम, एकादश, एव द्वादश सर्गो मे तथा जय भारत के 'योजनगधा' एव 'युद्ध' आदि प्रकरणो मे—और कही-कही वह सर्वथा क्षीण और हल्की हो गई है जैसे साकेत के चतुर्थ, नवम एव दशम सर्गों मे तथा जय भारत के वक सहार एव केशो की कथा आदि प्रसगो मे। कुल मिलाकर शैली मे वाछित स्थिरता का अभाव है। उसमे विविधता तो है, परन्तु वैविध्य के बीच जो गरिमा और भव्यता निरन्तर विद्यमान रहनी चाहिए—वह नही है। पर इसके कारण स्पष्ट है जय भारत के तो विभिन्न खण्डो की रचना ही समय-समय पर हुई है। अत उसकी शैली मे स्थैर्य की आशा करना दुराशा मात्र है। और साकेत मे कवि ने इतिवृत्तात्मक वर्णन न करके भावपूर्ण प्रकरणो मे अपनी भावना का रग भरकर उपस्थित किया है। इसीलिए उसमे प्रगीतात्मक मृदुल-मसृणता और आधुनिक कहानी के समान कतिपय भाव-खण्डो के अनुबन्धन का प्रयास तो है किन्तु शृखलाबद्ध महाप्रवाह नही है।

गुप्त जी के महाकाव्यो मे आद्योपान्त खडी बोली व्यवहृत है। पर पद-योजना सर्वत्र एक-सी नही है। जय भारत के आरम्भकालीन खण्डो की भाषा व्यस्त एव अभिधा-प्रधान है और उत्तरकालीन भागो मे अपेक्षाकृत समस्त एव व्यजनापूर्ण। उदाहरण के लिए 'केशो की कथा' और 'रण-निमन्त्रण' की भाषा की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार साकेत के अन्तिम दो सर्गों मे जो गुम्फित झकार और प्रबलता है, पहले दस सर्गो मे उसका अभाव है। परिणामत मैथिलीशरण के महाकाव्यो मे महानद का सा गम्भीर नाद और अव्याहत प्रवाह नही है। यद्यपि भाषा काफी प्रौढ एव परिमार्जित तथा शैली नाना-वर्णनक्षमा है, फिर भी उसमे न तो पैराडाइज लॉस्ट की गरिमा है न मेघनाद-वध का दुधर प्रवाह, न कामायनी का ऐश्वय है—और न ही प्रिय प्रवास का

हिल्लोलकारी संगीत । वस्तुत महाकाव्यकार गुप्त जी का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष शैली ही है ।

महाकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो एक नवीन पात्र की सृष्टि—चिर-उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र-परिकल्पना और वह भी नायिका के रूप मे बहुत बडी सफलता है। दूसरे वाल्मीकि एव तुलसी के पश्चात् मौलिक रामकाव्य का और भारत के पचम वेद महाभारत की सहस्रो पृष्ठो मे प्रकीर्ण प्राय सम्पूर्ण कथा को लेकर साढे चार सौ पृष्ठ के एक सफल सरस काव्य ग्र थ का निर्माण अपने आप मे महती सिद्धि है । तीसरे साकेत मे एक ओर यदि कवि को आत्मसाक्षात्कार—साहित्य-सर्जन के सुख का वास्तविक अनुभव हुआ है तो दूसरी ओर जय भारत मे उसके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन का समाहार हो गया है । इसके अतिरिक्त साकेत और जय भारत दोनो को युगधर्म—मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है ।

उधर शिल्प-विधान की दृष्टि से भी गुप्त जी के महाकाव्यो मे अनिवार्य तत्त्व ही नही महाकाव्य के शास्त्र-प्रतिपादित गौण अग भी मिल जाते है । अनेक दोष भी है पर दोष किसमे नही होते ?—और फिर साकेत तथा जय भारत की त्रुटियाँ तो सकारण है । साकेत के वस्तु-विधान तथा शैली के दोषो के लिए कथानक की अतिरिक्त ख्याति और खडी बोली की अपरिपक्वता ही उत्तर-दायी है । जय भारत की अधिकाश त्रुटियो का मूल कारण है कथा का विपुल परिमाण—महाभारत कोई छोटी-सी कथा थोडे ही है ! वस्तुत इस महदनुष्ठान को इस रूप मे सम्पूर्ण करना भी बहुत बडी उपलब्धि है । कवि की अपनी सीमाओ से भी इन्कार नही किया जा सकता—तथापि उसकी सिद्धि के समक्ष नतशिर आलोचक को मैथिलीशरण की प्रबन्ध-कल्पना का कायल होना ही पडेगा ।

गुप्त जी की खण्डकाव्य-विषयक धारणाएँ

मैथिलीशरण गुप्त ने कुल मिलाकर १९ खण्डकाव्य लिखे है । यहाँ उन्ही के आधार पर उनकी तद्विषयक धारणाओ के विवेचन का प्रयत्न किया गया

है। उन सभी का रचनाकाल एक नही है—'रग म भग' और 'युद्ध' ी र ाा मे चालीस-वयालीस वष का अन्तराल है। उनका आकार-प्रकार भी एक नही है और शिल्प-विधान मे भी काफी अन्तर है। फिर भी उन सबके तन म समानता का एक सूत्र वर्तमान है। उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास तो है, ि ा म निखार भी है किन्तु मूल तत्त्व प्राय सभी मे एक से ही है।

कथावस्तु

खण्डकाव्य की वस्तु के लिए प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि अथवा ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता आदि का कोई प्रतिबन्ध नही है। कवि कालिदास का म ा ा सवथा कल्पनाप्रसूत ही है। पर काल्पनिक कथानको म मै ि ी शरण की विशेष रुचि नही है। अतएव उनके खण्डकाव्यो की कथा उत्पादित ा ा ार प्रख्यात है—जो प्रख्यात नही है वह भी साधार तो है ही।

मूल-स्रोत

वास्तव मे प्राचीनता के प्रति गुप्त जी का अतिरिक्त माह है। इसीलिए ा इतिहास से कोई घटना लेकर उसी पर अपनी कल्पना का प्रयोग करते है। किन्तु उनका इतिहास आज का मान्य इतिहास ही नही है—व रामायण-महाभारत और पुराणो को भी उसके अन्तर्गत ही परिगणित करते है। इन्हीं से उन्होन अपन खण्ड-काव्यो के कथा-सूत्र का चयन किया है। 'शक्ति' का मूल-स्रोत पुराण तथा 'पचवटी' का उद्गम स्थल रामायण है—और 'जयद्रथ वध', 'सैरन्ध्री', 'वन वभव,' 'वक-सहार', 'नहुष', 'हिडिम्बा' तथा 'युद्ध' का आधार है महाभारत। शेष 'विकट भट' और 'सिद्धराज' राजपूत इतिहास से, 'गुरुकुल' सिक्ख इतिहास से, 'काबा और कर्बला' मुस्लिम इतिहास से तथा 'अजन और विसजन' विदेश के इतिहास से सबद्ध है। 'शाकुन्तला' का आधार महाभारत अथवा पुराण न होकर कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है। दो खण्ड-काव्य—अजित' और 'किसान' किसी लिखित एव प्रामाणिक इतिहास पर आधृत न होकर अपने देश के समसामयिक समाचारो पर अवलम्बित है। वस्तुत मैथिलीशरण को जहा भी कोई चित्ताकर्षक एव प्रभावक्षम प्रसग मिलता है वही से ग्रहण कर लेते है। महाभारत के अनेक प्रकरणो म उन्हे आधुनिक भावो का रग भरने का अवसर मिला, अतएव वहा से कई खण्डकाव्यो की सामग्री का चयन हुआ है।

ऐतिहासिक पौराणिक कथानको को गुप्त जी अपनाते अवश्य है—किन्तु उसी रूप मे नही। उनके माध्यम से युगीन समस्याओ का पुरस्करण एव समाधान करते है। साथ ही उन्होंने उनमे से अतिमानवीय तत्त्व निकालकर सहज-स्वाभाविक परिधान प्रदान करने का प्रयत्न किया है। आज के पाठक को अमानवीय अथवा अतिमानवीय शक्तियो मे उतना विश्वास नही रह गया है। अत आधुनिक कवि यथासभव कथानक को बुद्धि-सगत एव तर्क-सम्मत रूप देता है—आलोच्य कवि ने भी यही किया नहुष आख्यान मे ऋषियो द्वारा उठाई गई शिविका मे नहुष के चढकर आने का प्रस्ताव स्वय इन्द्राणी की सूझ है। महाभारत के समान वह मृत्यलोक-स्थित इन्द्र का परामर्श नही है। 'वक-सहार' मे कुन्ती मे पुत्र-हानि की आशका का क्लेश तथा 'हिडिम्बा' मे राक्षसी हिडिम्बा मे स्त्री सुलभ लज्जा का प्रदर्शन कर मानवीयता प्रदान की गई है।—और स्वाभाविकता के लिए तो गुप्त जी ने शूर्पणखा-आख्यान मे समय तक बदल दिया है। रामचरितमानस मे शूर्पणखा दिन-दहाडे आती है—किन्तु पचवटी मे उसका आगमन रात्रि के तीसरे प्रहर मे होता है। शायद उसके कुत्सित प्रस्ताव के लिए यही समय सर्वथा उपयुक्त है। और 'किसान' तथा 'अजित' जिनका कि कोई विशिष्ट आधार नही है, उनमे तो अस्वाभाविकता का अत्यन्ताभाव है ही। हा, 'जयद्रथ-वध' जैसी आरम्भकालीन रचना मे अवश्य अतिमानवीय तत्त्व को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया गया है जैसे अर्जुन द्वारा छिन्न जयद्रथ के शीश का आकाश मार्ग से उडकर तपस्यारत वृद्ध छत्र (जयद्रथ के पिता) की गोद मे जा गिरना—और तब वृद्ध छत्र का भी सिर फटना।[1] इसके अतिरिक्त जिन कथानको मे कवि ने परिवर्तन किया भी है उनमे भी परम्परा का एकान्त त्याग नही है। गुप्त जी को मधुसूदनकृत मेघनाद-वध अत्यन्त प्रिय है। फिर भी वे उसकी तरह परम्परामुक्त होने का प्रयास नही करते, न ही मनोविश्लेषण शास्त्र के इतने चक्कर मे पडते है कि भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी के समान किसी प्रतिष्ठित पात्र के प्रसिद्ध रूप मे आमूल परिवर्तन ही हो जाए। और स्पष्ट शब्दो मे मैथिलीशरण जी मे युगोचित वैज्ञानिकता तो है—किन्तु परम्परा की श्रद्धा का अभाव नही।

---

१ जयद्रथ वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० ८७

मौलिकता

परम्परा के प्रति अटूट श्रद्धा की अवस्थिति मे भी मैथिलीशरण मौलिक्ता-सपादन मे समर्थ है। राजपूत, सिक्ख और मुस्लिम इतिहासो से सबद्ध तथा अजित और किसान जैसे विशिष्टाधार रहित काव्य तो साहित्य-जगत् के लिए सर्वथा नूतन है ही—किन्तु रामायण महाभारत आदि पर आधृत रचनाएँ भी मौलिक है। मौलिकता उनमे है प्रकरण तथा प्रबन्ध की वक्रता की। प्रकरण एव प्रबन्ध गत वक्रता के कारण ही उनमे अनेक उद्भावनाएँ हुई है जिनका उल्लेख मै पहले ही कर चुका हूँ। रस और सदेश मे भी परिवर्तन हुआ है। महाभारत मे नहुष-आख्यान का रस करुण-रौद्र है तो मैथिलीशरण कृत 'नहुष' मे शृगार-वीर। महाभारतगत वक-सहार मे प्रधान रस वीर है पर 'वक-सहार' का मुख्य रस है वात्सल्य। इसी प्रकार रामचरितमानस के पचवटी प्रसग मे शृगार-रौद्र है—किन्तु गुप्त जी की 'पचवटी' मे शान्त शृगार। सदेशो मे भी पर्याप्त अन्तर है। महाभारत के नहुष वृत्त मे सत्कर्मो से इन्द्र-पद तक की प्राप्ति और दुष्कर्मो से पतन का उल्लेख, वकासुर-वध तथा हिडिम्ब-वध प्रसगो मे भीम के अतुल बल-पराक्रम का उद्देश्य है। किन्तु मैथिलीशरण विरचित 'नहुष' मे मानवोत्थान मे अडिग आस्था, 'वक-सहार' मे वात्सल्य पर कर्त्तव्य की विजय निहित है।—और 'हिडिम्बा' मे वर्गभावना का त्यागकर प्राणिमात्र से प्रेम करने का सदेश है। रामायण मे पचवटी प्रसग का कोई अपना पृथक् सदेश नही है—वहा अग्रिम कथा का बीजारोपण होता है। किन्तु गुप्त जी की पचवटी मे उनका जीवन-दशन सन्निहित है। जहाँ मौलिकता का यह उत्कृष्ट रूप नही हे वहाँ भी कम से कम प्रतिपादन शैली तो कवि की अपनी है ही। सैरेन्ध्री, वन वैभव आदि की मौलिकता शैलीगत ही है—वैसे कोई नूतन उद्भावना नही। इस प्रकार हम देखते है कि मैथिलीशरण बराबर मौलिकता का ध्यान रखते है। हाँ 'शकुन्तला' इस दृष्टि से अवश्य चिन्तनीय है। यद्यपि वह भी किसी ग्रथ का अविकल अनुवाद नही, तथापि हमारा अनुमान है कि उसकी रचना के समय कवि कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' बराबर कवि के सामने रहा है।

रोचकता और औत्सुक्य

मौलिकता, सगति एव सगठन के साथ ही किसी भी कथानक ले लिए रोचकता आवाश्यक हुआ करती है, जिससे कि पाठक के मन मे कौतूहल और तज्जन्य उत्सुकता बनी रहे। खण्डकाव्य कथाश्रित ही होता है अत रोचकता

उसका मूलगुण है। इस मूलगुण की रक्षा किंवा समावेश के लिए कवि नूतन विषय अपनाता है या फिर पूर्वपरिचित की नवीन व्याख्या करता है। और कुछ नही तो कम से कम प्रतिपादन शैली तो मौलिक होनी ही चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे से रग मे भग, सिद्धराज, किसान, विकट भट, गुरुकुल आदि तो काव्य जगत् के लिए सर्वथा अपरिचित ही है। इन काव्यो मे और चाहे कितना भी दोष क्यो न हो, रोचकता निस्सदेह अक्षुण्ण है। अपवाद है केवल गुरुकुल। इसकी रचना हृद्गत प्रेरणा का फल न होकर एक सिक्ख सज्जन के आग्रह के परिणाम स्वरूप हुई थी। ऐसी दशा मे बौद्धिक ऊहापोह-जन्य विस्मय मिल सकता है, कौतूहलजन्य रोचकता नही। शक्ति, पचवटी, वक-सहार नहुष, हिडिम्बा, शकुन्तला तथा युद्ध प्राचीन साहित्य से लिए गए है। इनमे नवदृष्टि, अभिनव जीवन सदेश तथा मौलिक उद्भावनाओ के समावेश से आशातीत रोचकता आ गई है। शकुन्तला मे कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पश्चात रस नही रहता। औत्सुक्य एव रोचकता की रक्षा के लिए गुप्त जी प्रकरणगत वक्रता और प्रसगगत उद्भावना के अतिरिक्त अन्य अनेक युक्तियो का भी सफल प्रयोग करते है। उदाहरण के लिए

१ नाटकीय आकस्मिकता

कभी-कभी कवि एक झटके के साथ नया दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई अभिनेता भम से मच पर कूद गया हो। पचवटी-स्थित पर्णकुटी के बाहर एक शिला पर प्रहरी के रूप मे लक्ष्मण बैठे है। उर्मिला के स्मरण आते ही वे एक क्षण ध्यान-मग्न हो जाते हैं, किन्तु—

फिर आँखे खोलें तो यह क्या,
अनुपम रूप अलौकिक वेष!
चकाचौंध सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सकोच खडी थी सम्मुख
एक हास्यवदनी बाला।[१]

शूर्पणखा की इस तीव्र आलोकमय उपस्थिति से पाठक चौंक उठता है और लक्ष्मण के समान ही विस्मय—विमुग्ध हो देखता रह जाता है। आकस्मिकता जनित यह विस्मय परम्परागत कथा मे भी जान डाल देता है।

---

१ पचवटी, इकत्तीसवा सस्करण, पृ० २०

२ सभाव्य की असभावित उपस्थिति

जानी-पहचानी कथाओ मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए—कौतूहल बनाए रखने के लिए कविजन नियत-निश्चित घटनाओ को भी ऐसे समय और स्थान पर रख देते है जहाँ पर कि पाठक को उनके आने की सभावना भी नही होती। जैसे मनुष्य गध पाकर हिडिम्ब अपनी बहन हिडिम्बा को पता लगाने के लिए भेजता है। वह भीम के पौरुष पर मुग्ध हो जाती है और तब कमनीय कलेवर धारण करके उनके सामने आती है। दोनो मे प्रेमालाप होता है—

प्रिय-रुचि हेतु चुना मैने यह चोला है
नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है[1]

—हिडिम्बा

भोला ? भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यो न, सीधा सीधा यह घात है।[2]

—भीम

भीम-हिडिम्बा के साथ ही पाठक भी इस मधुरालाप मे विभोर है—रस-मग्न है। इस माधुर्य-प्रवाह के बीच मे ही जब हिडिम्बा कहने लगती है—

सोदर हिडिम्ब मेरा रक्ष. कुल-दीप है,
उसने मनुष्य-गध पाके मुझे भेजा है।[3]

—तो पाठक चौक उठता है। यद्यपि वह वास्तविकता से पूवपरिचित है तथापि यहाँ उसे इस सूचना की सम्भावना भी नही थी। यह असम्भावित प्रस्ताव कितना करुण-मधुर है। एक और उदाहरण लीजिए। बन्दावीर वैरागी कुछ यवनो को आश्रय देते है किन्तु 'रचते हुए कराल कुचक्र'[4] वे लोग शीघ्र ही पकडे गए। तब—

वैरागी ने कहा क्षमा के प्रार्थी आ जावे इस ओर
यह सुन गिन गिन कर छट आए जिन जिनके भीतर था चोर।[5]

पाठक सोचता है कि ये लोग क्षमा कर दिये जाएगे पर जब वह अग्रिम

---

१ हिडिम्बा, प्रथम सरकरण, पृ० १६
२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १६
३ हिडिम्बा, प्रथम सरकरण, पृ० १६
४ गुरुकुल, सस्करण सव २०००, पृ० २३२
५ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

पक्ति मे उनके वध की बात पढता है—

अरे अभागो, तुम्हे मृत्यु ही
लाई थी मेरे घर घेर।[1]

—तो उसे एक झटका लगता है और यह झटका निश्चित रूप से रोचकता के अभिवर्द्धन मे सहायक है।

३ नाटकीय वैषम्य

जब किसी तथ्य से एक पात्र परिचित और दूसरा अपरिचित हो अथवा पाठक अभिज्ञ और पात्र अनभिज्ञ हो तो एक विस्मयकारी वैषम्य उपस्थित होता है। मैथिलीशरण गुप्त अपने महाकाव्यो के समान ही खण्डकाव्यो मे भी रोचकता के समावेश के लिए इस युक्ति का प्रयोग करते है। केवल एक उदाहरण देता हूँ। सोमनाथ को जाती हुई सिद्धराज जयसिह की माता मीलनदे के समक्ष एक माता और उसका पुत्र बन्दी के रूप मे लाए जाते है। अपनी सफाई पेश करती हुई महिला कहती है—

बोली मै, 'यहाँ भी क्या निपूता राजकर है ?'
शान्तिमूर्त्ति आप भ्रू चढावे नहीं, सोच लें,
राज का या कर का विशेषण निपूता है ?[2]

वे दोनो मुक्त कर दिए जाते है और बात यही समाप्त हो जाती है। कई वर्ष पश्चात् रानकदे जयसिह से कहती है—

तो क्या तुम चाहते हो, प्रभु से मनाऊ मै—
यौवन बिगाडने तुम्हारी किसी रानी का
आवे नही कोई शिशु-पुत्र कभी कोख मे[3]

इसके पढते ही पूर्वोक्त महिला का कथन स्मरण हो आता है। रानकदे और जयसिह उससे अनभिज्ञ है—किन्तु पाठक इनके अद्भुत साम्य पर आश्चर्य-चकित रह जाता है और पचम सर्ग मे—

एक पुत्र छोड सब पाया सिद्धराज ने[4]

—पढते ही हृदय पर एक कोमल-करुण लीक खिच जाती है। उपर्युक्त

---

१ गुरुकुल, सस्करण, सवत् २००४, पृ० २३०
२ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० १०
३ ,, ,, ,, पृ० ७५
४ ,, ,, ,, पृ० १०६

दोनो बाते अनायास ही मस्तिष्क मे घूम जाती है। शब्दो की यह विपमता अत्यन्त कौतूहलजनक है।

वस्तु-विन्यास

मौलिकता की अवस्थिति मे भी क्रमबद्धता एव सुष्ठ सगठन अनिवायत अपेक्षित है। साहित्यदपणकार आचाय विश्वनाथ खण्डकाव्य को 'एकदेशानुसारि' मानते है। तात्पय यह कि उसमे एक अग का अनुसरण होता है। आधुनिक शब्दावली मे कह सकते है कि खण्डकाव्य मे किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना का आलेखन होना चाहिए अथवा किसी महान् व्यक्तित्व के जीवन के एक ही पक्ष का विश्लेपण होना चाहिए। इस प्रकार खण्डकाव्य के समान पूर्ण जीवन का नही वरन् खण्ड-जीवन का चित्रण होता है—किन्तु वह चित्रण निबन्ध के के समान अपने सक्षिप्त आकार मे स्वत सम्पूर्ण होना चाहिए।—और इस सक्षेप की सार्थकता क्रमिकता एव अ वित म है।

गुप्त जी के अधिकाश खण्डकाव्यो मे ये सब विशेपताए मिलती है। उनमे वे जीवन के एक ही पक्ष का निरूपण करते है। नहुप मे महाराज नहुष के जीवन से केवल एक घटना—उनके स्वग-भ्रष्ट होने का, वक-सहार मे कुन्ती के मातृत्व का, वनवैभव मे युधिष्ठिर की नीति का, पचवटी मे शूर्पणखा से सम्बद्ध राम-लक्ष्मण के जीवन की एक घटना का, किसान मे भारतीय कृषक के दु खो का वणन मिलता है। अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यो मे खण्ड-जीवन का चित्रण करते है, और अपेक्षाकृत सक्षिप्त होने के कारण उनमे सगति एव सगठन बराबर बना रहता है। यद्यपि काव्य-रचना के समय गुप्त जी को इस बात का ध्यान नही रहता कि वे महाकाव्य लिख रहे है अथवा खण्डकाव्य फिर भी विषय वस्तु के सीमित होने के कारण तथा उसमे महाघता के अभाव के कारण कवि अपने महाकाव्यो के समान उनमे भावावेश के समय बहता नही। अत कथा का विकास क्रमिक एव सहज-स्वाभाविक है तथा उचित अनुपात की सवत्र रक्षा की जाती है। मै समझता हूँ कि यदि केवल वस्तुसघटना की दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत कवि के खण्डकाव्य उसके महाकाव्यो की अपेक्षा अधिक सफल है।

किन्तु कुछेक की वस्तु सदोष भी है। रग मे भग की कथा बीच मे एक बार दम तोडकर फिर उठती है। राजकुमारी के सती होने पर कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी—कवि स्वय भी ऐसा ही समझता है—

यद्यपि पूरा हो चुका यह चरित एक प्रकार से[1]

पर वह हाडा राणा कुभ के वीर-चरित के आलेखन का लोभ सवरण नही कर पाया इसलिए वह कथा भी उसमे जोड दी। यदि इन कथाओ मे अग-अगी का सम्बन्ध होता तो दोप न होता—पर ऐसा नही हो पाया। पहली कहानी राजपुत्री के घनीभूत प्रेम का पावन प्रकाश है तो दूसरी मे राणा कुभ के उज्ज्वल देश-प्रेम का उद्भास। अत दोनो का अपना स्वतन्त्र महत्व है—अपना अपना पृथक् सदेश है। त्रुटि का कारण इन दोनो के समाहार का प्रयत्न है। सिद्धराज मे भी स्पष्टत कई वृत्त है—१ सिद्धराज रानकदे, २ अर्णोराज काचनदे, ३ सिद्धराज-मदनवर्मा। इन सबको एक मे ही समाहित कर दिया गया है—किन्तु इनमे से किसी एक को भी कैन्द्रिक घटना नही माना जा सकता। सभी का अपना विशेप महत्त्व है। अत केन्द्रीभूत प्रभावशालिता का अभाव है जो कि निश्चित रूप से प्रबन्धक व्य के लिए अपरिहार्य दोप है।

परिणाम

मैने अभी निवेदन किया है कि खण्डकाव्य मे कोई एक घटना आलिखित होती है। उसमे किसी महान् व्यक्ति के खण्ड-जीवन का, जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण हुआ करता है। अतएव वह लघुकाय होना है—उसमे लघुता होनी चाहिए महाकाव्य की तुलना मे। किन्तु लाघव और बाहुल्य सापेक्षिक शब्द है। इसलिए कोइ पृष्ठ-सख्या निधारित नही की जा सकती। फिर भी खण्डकाव्य के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका परिमाण ३५-४० पृष्ठ के आस पास होना चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यो पर दृष्टिपात करे तो उनके परिमाण मे हमे काफी अन्तर मिलता है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित बहुत बडे है तो अजन और विसर्जन बहुत छोटे। वास्तव म अजन, विसजन आदि को खण्डकाव्य न कहकर कथात्मक कविता कहना अधिक सगत होगा। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित को भी खण्डकाव्य नही मानना चाहिए—क्योकि गुरुकुल मे एक की नही अनेक व्यक्तियो की जीवन-घटनाएँ वर्णित ह और सिद्धराज एव अजित मे नायक से सम्बद्ध एक घटना का नही अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ का चित्रण है। इन तीनो को आचार्य विश्वनाथ द्वारा सकेतित एकार्थ काव्य माना जा सकता है जो कि महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच का काव्य-रूप है। उक्त रचनाओ के अतिरिक्त

१ रग में भग, सस्करण, सवत् २००३, पृ० २२

गुप्त जी के प्राय सभी खण्डकाव्यो का परिमाण प्रचलित धारणाओ के अनुकूल ही है। मेरे विचार मे परिमाण प्रचलित धारणाओ के अनुकूल ही है। मेरे विचार मे परिमाण की दृष्टि से मैथिलिशरण कृत नहुष, वन वैभव, वक-सहार, सैरन्ध्री, शक्ति और विकट भट आदि आदर्श खण्ड काव्य है।

मूल्याकन

गुप्त जी के खण्डकाव्यो की वस्तु के पयवेक्षरण स हमने देखा कि वे प्राय शास्त्रानुमार किसी सदाशय महापुरुप के जीवन की एक घटना को ही अपनात है। किन्तु उनकी प्रवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध कथानको की ओर है। प्रसग एव प्रकरण-गत वक्रता द्वारा वे उन्हे भी मौलिकता एव रोचकता प्रदान कर देते हे। किसी-किसी मे तो मूल अथवा पूवरूप से भी अधिक रोचकता हे। उदाहरणत मैथिलीशरण कृत नहुप, हिडिम्बा, वक-सहार, पचवटी आदि रचनाए तद्विषयक प्राचीन काव्यो से भी अधिक रोचक है। गपवाद हे केवल शकु तल। रोचकता के साथ ही ये कथाएँ यथेष्ट प्रभाव-क्षम है—इनमे वाछित सदश के वाहन की सामथ्य हे।—और मैथिलीशरण से सफल कथाकार की कृतियो मे वस्तु विन्याम का दोप तो कठिनता से ही उपलब्ध होता हे, केवल रग म भग और सिद्धराज मे कथा का विकास सवथा निर्दाप नही हे। इनमे केन्द्रीकरण का अभाव हे—एक साथ कई वृत्त जोड दिए गए है। वास्तव मे रग म भग की वस्तु दो और सिद्धराज की कथा कम से कम तीन खण्डकाव्यो के लिए पर्याप्त थी। किन्तु मै पहले ही कह चुका हूँ कि गुप्त जी रचना करते समय काव्य-रूप की चिता नही करते—उनका ध्यान केवल विषय पर केन्द्रित रहता हे। इसीलिए उक्त कृतियो मे यह दोप आ गया हे—अन्यथा कवि का प्रबन्ध-कौशल निर्विवाद है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित का विपुल परिमाण भी खटक सकता हे। किन्तु मे समझता हूँ कि 'एकार्थ काव्य' जैसी कोई विधा प्रचलित-प्रतिष्ठित न होने के कारण हम विवशतावश ही इन्हे खण्डकाव्य कह देते है। नही तो इनकी चित्रपटी की विशालता को देखते हुए इन्हे खण्डकाव्य मानना ही असगत है।

अन्तत निष्कष यह कि गुप्त जी के खण्डकाव्यो की वस्तु प्रख्यात—किन्तु मौलिक एव रोचक होती है। उनका विकास और सघटना भी प्राय ठीक ही है। कुछ दोप भी हे जो सवथा अकारण नही हे।

चरित्र-चित्रण

किसी भी घटना का कर्ता अथवा भोक्ता चरित्र कहलाता है। यदि चरित्र

है तो वह कुछ न कुछ करेगा ही और यदि कोई घटना है तो निश्चित रूप से उसके करने या भोगने वाला कोई पात्र होगा। इस प्रकार वस्तु और चरित्र अन्योन्याश्रित हुआ करते है। हा, यह बात अवश्य है कि खण्डकाव्य मे चरित्र के एक अश का ही प्रतिपादन होता है। उसमे कहानी एव एकाकी के समान ही व्यक्तित्व की केवल एक झलक दिखाई जाती है फिर चरित्र चित्रण खण्डकाव्य का अनिवार्य तत्त्व है।—और साथ ही आवश्यक है उस चित्रण मे मौलिकता। गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे कतिपय पात्र तो सवथा कल्पित, कुछ काव्य-जगत् के लिए अपरिचित कि-तु कुछ चिर परिचित है। इन पूवपरिचित चरित्रो के चित्रण की बडी कठिन समस्या कवि के सामने रही होगी। पर हम देखते है कि पूवनिर्मित पात्रो का उसने बडे कौशल से पुर्निर्माण किया है। और इस पुन-र्निमिति मे मैथिलीशरण ने अनेक बातो का ध्यान रखा है।

पुनस्सृजन

मथिलीशरण कृत खण्डकाव्यो के अधिकाश पात्र चिर-प्रसिद्ध है। वास्तव मे काल्पनिक कथानको एव पात्रो की ओर गुप्त जी की रुचि नही है। प्राचीनता के प्रति उनके मन मे अपार श्रद्धा है। अपनी बात भी, आज के युग की बात भी, वे उसी के माध्यम से कहना अधिक पसद करते है। किन्तु वे अन्धानुकरण नही करते—चिर-परिचित चरित्रो का भी पुनस्स्पश एव पुर्निर्माण करते है। पुराने कवि ने उनका सृजन किया था अपने ढग से, आज का कवि उनका पुनस्सृजन करता है अपने दृष्टिकोण से। पर इस पुनस्सजना की प्रक्रिया मे कवि उनमे आमूलचूल परिवतन नही करता। तात्पय यह कि वह चरित्रो के प्रतिष्ठित रूप को वैसा ही रखते हुए उनका पुर्निर्माण करता है, नवनिर्माण नही। हिडिम्बा, भीम, नहुष, सीता आदि के चरित्र मेरे इस कथन के साक्षी है। हिडिम्बा पर नारी-सुलभ कोमलता एव व्रीडा का आरोप करने पर भी वह राक्षसी ही है। नहुष को मानव की दुदम शक्ति का प्रतीक बनाकर भी कवि ने विपयी के रूप मे ही प्रस्तुत किया है। सीता पर आधुनिक भाभी का रग चढ जाने पर भी वे पूज्या है, आर्या है। महाभारत-वर्णित डीग मारने एव नारी के समक्ष भुजदण्डो के अशोभन प्रदशन आदि के प्रसगो को बचा लेने पर भी हिडिम्बा के भीम दृप्त साहसिक है।

स्वाभाविकता की रक्षा

इस पुनस्स्पश एव पुनस्सृजन मे मूल स्वर रहा है स्वाभाविकता। किसान,

सिद्धराज, त्रिकट भट, रा मे भग आदि के पात्र तो वैसे ही मानव थे—किन्तु नहुप, वक सहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री, हिडिम्बा और पचवटी के प्राय सभी पात्र—कम से कम मुख्य पात्र तो अवश्य—अमानव अथवा अतिमानव थे। आज के पाठक और कवि को यही सर्वाधिक अखरता है। वे अतिमानवीयता मे विश्वास नही करते। गुप्त जी भी उक्त रचनाओ के पात्रो से यथासम्भव अतिप्राकृत तत्त्व के निराकरण का, उनमे सहज मानवीयता की प्रतिष्ठा का प्रयास करते दृष्टिगत होते है। कुन्ती वकासुर के लिए भीम को भेजने की प्रतिज्ञा तो कर लेती है—किन्तु बाद मे कर्त्तव्य की भीषणता से अभिज्ञ उनका सहज मातृ हृदय रो उठता है। राक्षसी होन पर भी हिडिम्बा भीम की ओर आते हुए अपन भाई हिडिम्ब के विपय मे महाभारत के समान अपशब्दो की झडी नही लगा देती। और पचवटी के लक्ष्मण-सीता की विनोद-वार्ता, हास्य व्यग्य आदि मे तो शुद्ध मानवीय पर सात्विक रोमास का तारल्य है ही। इस प्रकार मैथिलीशरण जी पात्रो के प्रथित रूप की रक्षा करते हुए भी उनमे यथासभव अकृत्रिम मानवीयता का समावेश करते है।

मुख्य पात्रो की श्रेष्ठता

वास्तव मे मानवीय पात्र ही मनुष्य पर कुछ प्रभाव डाल सकते है। अलौकिक शक्तिसम्पन्न चरित्र पाठक को विस्मित भले ही कर दे—किन्तु वे उसे प्रभावित एव प्रेरित नही कर सकते।—और मै समझता हूँ यह प्रेरणा ही किसी कृति का लक्ष्य हुआ करती है। इसीलिए कविगण प्रमुख पात्र किसी विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति को ही बनाते है। किन्तु खण्डकाव्य के लिए यह आवश्यक नही है कि नायक अथवा प्रमुख पात्र धीरोदात्त ही हो। और स्पष्ट शब्दो मे खण्डकाव्य का प्रधान चरित्र द्वितीय श्रेणी का हुआ करता है—महाकाव्य के समान उदात्त नही। आलोच्य कवि के खण्डकाव्यो के मुख्य पात्र लक्ष्मण, द्रौपदी, सिद्धराज, जयसिंह, सिक्ख गुरु, बालक सवाईसिंह, दुष्यत आदि है। ये सब अपने-अपने कृत्यो के कारण प्रख्यात और इनके पावन चरित्र सदभावना के उद्भवन मे समर्थ है। अजित और किसान के पात्र अख्यात-नामा—बल्कि काल्पनिक होने पर भी उक्त कर्त्तव्य का सफल सम्पादन करते है। इस प्रकार गुप्त जी अपने खण्डकाव्यो मे मुख्य पात्र के रूप मे श्रेष्ठ चरित्रो का ही चयन करते है। कभी-कभी नहुप और हिडिम्बा जैसे परम्परा से अभिशसित व्यक्तियो को भी प्रमुखता दे देते है—किन्तु उनके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को ही प्रस्तुत करते है, कलुषित को नही। अभिप्राय यह कि वे

भी रचना-विशेप मे तो श्रेष्ठ ही होते है ।

विचित्र उलझन

किन्तु गुप्त जी के खण्डकाव्यो का चरित्र-चित्रण सवथा निर्दोप नही है । उन्होने पात्रो मे से अमानवीयता एव अस्वाभाविकना के निराकरण का प्रयत्न किया है—लेकिन इस प्रयास मे ही बहुत से चरित्र उलझ गए है । पचवटी के लक्ष्मरण एक ओर तो मातृ-तुल्य सीता के चरण स्पर्श करते हे और दूसरी ओर भाभी पर व्यग्य करने वाले आधुनिक दवर बन जाते है—

पचायत करने आई थी
अब प्रपच मे क्यो न पडो[१]

तन्वगी शर्पणखा भी अपना प्रस्ताव अास्वीकृत होने पर 'विकट विकराल' रूप धारण कर लेती है । हिडिम्बा को मानवी के रूप मे[२] प्रस्तुत करके भी कवि उसमे अलौकिक शक्ति की प्रतिष्ठा करता है—

भार नही हूगी मै तुम्हारे भीम के लिए
विचरूँगी व्योम मे भी उनको लिये-लिये ।[३]

इस असगति के निराकरण के लिए यद्यपि कवि ने स्वय हिडिम्बा से कहलाया है—

यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का ।[४]

फिर भी पाठक का परितोप नही होता । सैरन्ध्री मे सुदेष्णा का चरित्र भी ऐसे ही उलझा हुआ है । कीचक के द्रोपदी के लिए प्रस्ताव करने पर वह उसे धिक्कारती है—किन्तु अगले ही दिन स्वय द्रौपदी को कीचक के निवास-स्थान पर चित्र पहुँचाने के लिए बाध्य करती है ।—गौर फिर भाई के लिए बहन का ऐसा आशोभन कृत्य वैसे भी चिन्तनीय है ।

इनके अतिरिक्त सिद्धराज के चरित्र-चित्रण मे एक ओर ही दोश आ गया है । वह यह कि सिद्धराज जयसिंह के व्यक्तित्व का अतिम प्रभाव असिश्रित नही है—अस्पष्ट और धूमिल है । यद्यपि वे नायक है और कवि की—साथ ही पाठक की भी—सहानुभूति उनके प्रति बराबर बनी रहती है । फिर भी राणा

---

१ पचवटी, इकत्तीसवा सस्करण, पृ० ५३
२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १२
३ ,, ,, ,, पृ० ४३
४ ,, ,, ,, पृ० १५

खगार, जगद्देव, अर्णोराज और महाराज मदनवमा के चरित्र उनसे कही अधिक उज्ज्वल है। परिणामत पुस्तक की समाप्ति पर पाठक को पश्चात्ताप होता है अपनी भ्रान्ति पर। हमारी सम्मति मे यह चरित्र-चित्रण का एक बहुत बडा दोष है।

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी चरित्र चित्रण मे स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखते हे। किन्तु उनके अधिकाश पात्र अमानवीय अथवा अतिमानवीय रूप मे प्रसिद्ध हे, अत उनको मानवीय रग देने मे वे कही-कही उलझ भी जाते है।

रस-सचार

सरसता काव्य की अनिवार्य आवश्यकता है। सौरस्य का ही दूसरा नाम काव्यानन्द है। आनन्द प्राप्ति के लिए मनुष्य ने आज तक जितने भी प्रयत्न किए हैं, काव्य उनमे सर्वाधिक मधुर और सूक्ष्म है। उसका सदेश चाहे कुछ हो—किन्तु विधि आनन्दमयी अथवा रसपूर्ण होनी चाहिए। वास्तव मे औदात्य भी आनन्द-रूप रस से भिन्न नही है। दो-एक को छोडकर गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य रस-दीप्त हैं। आकार मे सक्षिप्त होने के कारण उनमे कही भी उनके महाकाव्यो के समान आवेग मे परिक्षीणता अनएव नीरसता नही आने पाई हे। साहित्याचार्यों ने नवरस माने है। मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यो मे उनमे से वीर को प्राधान्य देते है।—और वह वीर प्राय युद्धवीर ही है। उसमे रिपुदमन का उत्साह है, घोर गर्जनाएँ तथा गर्वोक्तिया है और है शस्त्रो की खनखनाहट। 'शक्ति' से एक उदाहरण लीजिए—

गरजी अट्टाहास कर अम्बा देख ठट्ट के ठट्ट,
दहल उठे जल थल अम्बरतल घटा विकट सघट्ट।[1]

यह वीर स्थान-स्थान पर अन्य रसो से पुष्ट है—शृगार, करुण और शान्त भी यथावसर आते है। कतिपय रचनाओ मे तो शृगार एव करुण मुख्य रस रूप मे भी गृहीत हैं। भयानक तथा रौद्र को भी वीर के सहायक रूप मे अपना लिया जाया है—किन्तु वीभत्स चित्रण की ओर हमारे कवि की रुचि नही है। हास्य भी बहुत कम है पर हे अवश्य—पचवटी और हिडिम्बा मे शिष्ट हास्य के उदाहरण मिल सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि गुप्त जी अपने खण्डकाव्यो मे सभी रसो को ग्रहण करते हे—किन्तु मुख्यता वीर, शृगार अथवा करुण को ही देते है। उत्तरकालीन रचनाओ मे शान्त को भी प्रामुख्य मिला है। वास्तव मे जीवन की अधिक उपयोगी एव उदात्त वृत्तियो से सबद्ध भी यही रस है।

---

१ शक्ति, नरकरण सवत् १९८५, पृ० १०

विविध विषय-वर्णन

सम्पूरग मानव जीवन के विश्लेपक महाकाव्य के लिए अनेक नियम बनाए गए है। उसमे मानव जीवन और वस्तु-जगत् का विशद चित्रण अनिवाय माना गया हे। किन्तु खण्डकाव्य 'एक देशानुसार' होता है। अत उसमे जीवन और जगत् का सीमित विवरण, वरन उसके एक ही अश का अकन हो सकता है। मैथिलीशरण मानवीय सम्बन्धो के प्रख्यात कवि है। फलत उनके काव्य मे जीवन का कुशल वरगन हुआ है। पर मानव और मानवीय मे अटल विश्वास होने पर भी वे वस्तु जगत मे रम नही पाए है। और स्पष्ट शब्दो मे गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे मानव और मानवीय सम्बन्धो—मानव के पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक जीवन का चित्रण तो है किन्तु मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति का वरगन अपेक्षाकृत कम है—क्योकि प्रकृति सौन्दय मे उनके लिए कोई आकषरग नही है। अत प्रकृति-चित्रण अधिकाशत अलकरण सामग्री के रूप मे या फिर परिस्थिति-द्योतन के लिए हुआ है। हिडिम्बा से एक उदाहरण लीजिए तमावृत सायकाल का दृश्य है—

> **साँझ को ही रात हुई उनको गहन मे**
> **धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके[१]**

किन्तु अगली पक्ति मे ही हिडिम्बा के आने की सूचना दे दी जाती है—

> **चमके वे नूपुरो की रुनझुन सुन के**
> **सुन पडी राग की नई सी टेक उनको**
> **दीख पडी सुन्दरी समक्ष एक उनको[२]**

अत सध्या का उक्त दृश्य केवल भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए आता है। इस प्रकार हम देखते है कि कवि के मन मे प्रकृति के लिए अनुराग नही है। फिर भी प्रयास करने पर दो चार अच्छे प्राकृत चित्र मिल सकते है—विशेषत पचवटी और वन वैभव मे। पचवटी के तो पहले ही छन्द मे प्रकृति का मधुर-कोमल एव रस-दीप्त चित्र है—

> **चारु चन्द्र की चचल किरणे खेल रही है जल थल मे**
> **स्वच्छ चादनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल मे।**

---

१ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १२

२ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १२

पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणो की नोको से,
मानो झूम रहे हे तरु भी मन्द पवन के झोको से ।।[1]

यद्यपि यह भी वर्णनीय घटना का पूर्वाभास ही है तो भी इसमे अदभुत भास्वरता है। मे समझता हूँ कि इन पक्तियो के प्रणयन के समय कवि कथा को भूलकर वृक्षो के समान ही स्वय भी झूम उठा होगा। इसीलिए अग्रिम घटना की पृष्ठभूमि के रूप मे गृहीत होने पर भी इनका स्वतन्त्र महत्त्व हो गया है। क्योकि यहा पर चन्द्रिका स्नात शुभ्र रात्रि के उज्ज्वल चित्र के स्पश से उत्थित कवि-हृदय की सौन्दर्यानुभूति की सहजाभिव्यक्ति हुई है। अस्तु !

मानव जीवन के सभी—पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक पक्षो का अकन किसी एक ही खण्डकाव्य मे मिलना कठिन हे। क्योकि उसके सक्षिप्त-सीमित कलेवर मे यह सभव नही है। फिर भी कवि की अपेक्षाकृत बडी रचनाओ मे यत्किचित् ऐसा हुआ है। सिद्धराज मे महाराज जयसिह के पारिवारिक एव राजनैतिक जीवन का वर्णन है। गुरुकुल मे सिक्ख गुरुओ के पारिवारिक जीवन का तो नही पर उस समय की सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियो का सफल अकन हुआ है। अजित मे भी पारिवारिक, सामाजिक एव राजनैतिक सभी दशाएँ प्रदर्शित है—किन्तु उनमे महाकाव्य जैसी विराट्ता और भव्यता का अभाव है। काराबद्ध अजित के स्मृति-रूप मे गार्हस्थ्य का सुख-सरल चित्र देखिए—

कढी-भात के साथ दाल रोटी वह घर की,
वह बघार की सधौं, कौंधती टिकुली-तरकी।
वह कासे का थाल, फूल के भरे कटोरे,
आगे धरते हुए हाथ वे गोरे गोरे।
खीर खॉड पर शुद्ध सद् घृत धार बरसना,
'बस बस बस' पर कान न धर कुछ और परसना[2]

कितना सहज और अनुभूतिगम्य विवरण है।

लघुतर रचनाओ मे भी कवि यथावसर मानव जीवन के विभिन्न पक्षो का आलेखन करता है। रग मे भग मे उद्वाह, सज्जा और युद्ध है, जयद्रथ वध मे वीर कृत्यो के साथ-साथ सती-विलाप और पुत्र-शोक वर्णित है। पचवटी मे देवर-

---

१ पचवटी, इकत्तीसवा सस्करण, पृ० ५
२ अजित, प्रथम सस्करण, पृ० १२

भाभी का हास्य-विनोद है तो सैरन्ध्री मे परदारिक के छल छन्द । वक-सहार म ब्राह्मण परिवार की सुख-शान्ति-मयी सदगृहस्थी चित्रित है तो वन वैभव मे ईर्ष्यादग्ध दुर्योधन की कपट-यात्रा का उल्लेख है । शक्ति मे देवासुर सग्राम है और विकट भट मे राजपूतो का वृथा युद्ध । हिडिम्बा मे प्रख्यात पाण्डु पुत्रो का वन भ्रमण है तो किसान मे अख्यात कृपक दम्पत्ति का देश निगमन । अन्यान्य कृतियो मे भी जीवन के किसी न किसी पार्श्व का निर्देशन है । सब मिलाकर गुप्त जी के खण्डकाव्यो मे हमे मानव जीवन के विभिन्न पक्षो का चित्रण मिलेगा । उनका दृष्टिपथ विस्तृत और ग्रहण-क्षमता सदा ही उदार रही है ।

सर्जना का लक्ष्य

मने एक स्थान पर आनन्द की बात कही है, पर कोरा आनन्द अथवा सन्प्रेरणा विहीन आनन्द काव्य का उद्देश्य नही है। वस्तुत आनन्द तो विधि है—उपलक्ष्य मात्र है । लक्ष्य हुआ करता है किसी महत् सदेश की परिव्यक्ति । गुप्तजी के सभी खण्डकाव्य सोद्देश्य है । शकुन्तला को छोडकर शेष सभी का काम्य किसी न किसी प्रकार के—नैतिक, साँस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय आदश की स्थापना है । शकुन्तला का 'निर्वेवण' तो 'प्रीनि' मात्र के लिए हुआ है—किन्तु शेप रचनाओ मे कोई न कोई शिक्षा सन्निहित है । रग मे भग मे अतिरिक्त मानापमान भावना का दोप, जयद्रथ-वध मे पापकर्मा का भीषण अन्त, पचवटी मे अतृप्त वासना एव स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम, सरन्ध्री मे परदारित्व का दुष्परिणाम प्रदर्शित है । जिसमे कि पाठक के मन मे उक्त कृत्यो के प्रति घृणा उद्भूत हो । शक्ति मे 'सघे शक्ति कलौ युगे' वन वैभव मे 'पचशता वयम्' का महत्त्व और वक-सहार मे प्रेम पर कत्तव्य की तथा विकट भट मे जीवन लालसा पर मर्यादा-रक्षण की श्रेष्ठता की व्यजना हुई है । गुरुकुल और सिद्धराज मे पारस्परिक कलह तथा अजित मे हिसात्मक प्रवृत्तियाँ अभिशसित है । किसान एव काबा और कबला का कारुण्य मनुष्य की परुप वृत्तियो को कोमल बनाता है । अजन और विसजन मे से 'अजन' मे अधम द्वारा अर्जित वैभव के दूषण का प्रदशन है तो 'विसजन' मे पराधीनता का अभिशाप लाने वाली विभूति के नाश का परामश दिया गया है । हिडिम्बा का साध्य है वग-चेतना के परित्याग की भावना जागृत करना ।—और नहुष का प्रतिपाद्य मानव की अदम्य शक्ति—पतन मे भी उत्थान का विश्वास है । यह काव्य निश्चित रूप से चिर पतितो को भी उन्नयन के लिए उत्प्रेरित करता है । इस प्रकार इन रचनाओ मे नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना हुई है ।

मैथिलीशरण जी परम्परा से अविच्छिन्न सस्कृति की धारा को अपने खण्ड-काव्यो मे प्रवाहित करते रहे है। किन्तु उसकी आत्मा की रक्षा करते हुए भी वे उसमे युगानुरूप सशोधन प्रस्तुत कर देते हे।

निष्कष यह कि गुप्त जी निरुद्देश्य रचना मे विश्वास नही करते। और यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो मे समझता हूँ कि उक्त सभी रचनाओ का 'फल' धम है।

शैली

खण्डकाव्य की शैली के विषय मे कोई स्थिर सिद्धान्त अथवा निश्चित नियम नही है। किन्तु किसी भी कृति के वाछित प्रभाव के लिए यह आव यक है कि उसकी शैली शील के अनुरूप ही हो। क्योकि उपयुक्त माध्यम के बिना महिमामण्डित प्रतिपाद्य भी पगु रह जाता है। पर यह कवि शैली की विशेप चिन्ता नही करता। इसीलिए उसकी बडी रचनाओ—साकेत और जय भारत— मे शैली-वैपम्य हे। किन्तु खण्डकाव्य अपेक्षाकृत छोटा होता है। फलत गुप्त जी सरीखे शैली-निरपेक्ष कवि की रचनाओ मे भी आद्य त वेग की स्थिरता है—शैली मे साम्य है। यद्यपि आरम्भ-कालीन कृतियो म अभिधा प्रधान व्यस्त और परिवर्ती मे व्यजनापूर्ण समस्त शैली प्रयुक्त है, फिर भी रचना विशेप मे प्रारम्भ से अन्त तक शैली का एक ही स्तर है—वैषम्य नही।

गुप्त जी की शैली अनेक स्थलो पर—विशेपत आरम्भिक खण्डकाव्यो मे कातिहीन और अनगढ हे। और इस दिशा मे वे अपने युग के भी अनेक कवियो से पीछे है—किन्तु यह उनकी अनिवाय त्रुटि है। क्योकि वे प्राय ऐतिहासिक पौराणिक विपय अपनाते है। अतएव उसका वाहन भी अपेक्षाकृत प्राचीन ही है। वास्तव मे मैथिलीशरण प्राचीन और अर्वाचीन के बीच का सेतुमाग है। यही बात उनकी शैली के विषय मे भी सत्य हे। उसमे प्राचीन इतिवृत्तमयी शैली और नवीन नाटकीयता दोनो का सम्मिश्रण है। काव्य का कलवर सक्षिप्त होने के कारण उसमे माहाकाव्यो की शैली का शैथिल्य नही आने पाया।—परवर्ती काव्यो मे लघुकथा के नवीन चमत्कार भी यथास्थान प्रयुक्त हुए है।

खण्डकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सवप्रथम तो १९ खण्डकाव्यो का प्रणयन ही अपने आप मे बहुत वडी सिद्धि है। सस्कृत-हिन्दी के किसी भी कवि ने आज तक इतने खण्डकाव्यो

का निर्माण नही किया है। दूसरे उ होने इनमे एक-एक करके भारतीय जीवन के सभी पक्षो का निरूपण कर दिया है। मैथिलीशरण के अतिरिक्त जीवन को प्राय समग्र रूप मे उपस्थित करने वाला कोई भी खण्डकाव्यकार आपको हिन्दी मे नही मिलेगा। दो एक को छोडकर शेप की शैली अवश्य 'ए वन' नही है। फिर भी वे अपने अखण्डित मानव-तत्व, धारा-प्रवाह वर्णना शक्ति एव सुख-सरल शैली के मणि काचन सयोग के बल पर गौरवास्पद पद के अधिकारी है। वास्तव मे गुप्त जी मूलत कथाकार-कवि है—यह उनका सिद्ध विषय है।

प्रगीतकार मैथिलीशरण गुप्त

गीतिकाव्य का स्वरूप और परिभाषा

काव्य की वह विधा जिसमे विपय की अपेक्षा विषयी की प्रमुखता होती है प्रगीत अथवा गीति-काव्य के नाम से अभिहित की जाती है। जो कवि स्वनिरपेक्ष क्रियाकलाप एव अनुभवो को छन्दोबद्ध करता है, उसकी कविता वस्तुगत और जो अपने ही विचारो, भावनाओ और कल्पनाओ को वाणी प्रदान करता है उसकी कविता व्यक्तिपरक कहलाती है। इस व्यक्तिपरक कविता का ही नामा तर प्रगीत है। अभिप्राय यह कि प्रगीत प्रबन्ध की भाति वस्तुपरक न होकर व्यक्तिगत होता है। उसमे वैयक्तिकता का—व्यक्ति के, विषयी के अपने सुख दु ख, हृष-विषाद, प्रेम-कलह, क्षोभ-क्रोध आदि की परिव्यक्ति होती है। उदाहरणत शेक्सपियर और मिल्टन के सॉनेट तथा सूर, तुलसी और मीरा के पद प्रगीत हे क्योकि उनमे रचियता के अपने हृदय का स्पन्दन है—अपने मन का गायन और क्रदन है। इसके विपरीत होमर का इलियड, च दरवरदाई का पृथ्वीराज रासो और तुलसी कृत रामचरितमानस वस्तुगत है—क्योकि उनमे ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक व्यक्तियो तथा घटनाओ का वर्णन हुआ है और लेखक की अपनी आत्मा का अभिव्यजन बहुत कम है अथवा प्रत्यक्ष नही है।

आत्माभिव्यजन अथवा निजी रागात्मकता प्रगीत का अनिवार्य गुण है, और यह रागात्मकता अत्यन्त तीव्र होनी चाहिए। इसीलिए ससार के अधिकाश

प्रगीत आकार मे सक्षिप्त है। कारण स्पष्ट है—आवेश कुछ क्षण के लिए केवल ठहरता है। लम्बे प्रगीतो मे प्रणेता को काल्पनिक आवेश की सृष्टि करनी पडती है—यह एक अपरिहाय दोष है। वास्तव मे प्रगीत जीवन के उन उद्दीप्त क्षणो की रचना होते है जबकि घनीभूत भावना के वेग को उद्वेलित जलौघ के समान प्रतिबद्ध नही किया जा सकता।—और वह सगीत लहरी मे स्वत फूट उठता है। प्रगीत अथवा गीतिकाव्य की परिभाषा सुश्री महादेवी के शव्दो मै इस प्रकार की जा सकती है—"साधारणत गीतिकाव्य व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुखदु खात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्व या-त्मकता मे गेय हो सके।"[१]

मुक्तक और प्रगीत

पूर्वापर सम्बन्ध-विहीन पद्यो को मुक्तक कहते है। प्राय गेय मुक्तक को प्रगीत कह दिया जाता हे। किन्तु यह विचार भ्रामक है। यदि गेयता को ही कसौटी माने तो प्रत्येक मुक्तक प्रगीत हो जाएगा। क्योकि मुक्तक छ दोबद्ध होता है।—और प्रत्येक छन्द मे न्यूनाधिक मात्रा मे गेयता का आग्रह रहता ही है। हम प्राय देखते है कि लोग नीति, शृगार आदि विषयो के मुक्तको को सस्वर गाते है। मुक्तको मे ही नही प्रबन्धो मे भी गेयता है, बाल्मीकीय रामायण का तो गेय होना प्रसिद्ध ही हे। लव-कुश ने राम के समक्ष उसे गाया था। तुलसी के रामचरितमानस की चौपाइयो को भी लोग बडे माधुय से गाते हे। कहने का तात्पर्य यह कि गेयता को मुक्तक और प्रगीन के भेदी-करण का आधार नही माना जा सकता। वास्तव मे अन्तर इन दोनो मे यह है कि मुक्तक मे विषय की और प्रगति मे विषयी की प्रमुखता होती है। दूसरे मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र है किन्तु प्रगीत मे आद्यन्त एक ही अनुभूति के अनुस्यूत रहने के कारण उसके विभिन्न खण्ड सम्बद्ध अथवा अन्वित रहते है। तीसरे मुक्तक का प्रणयन स्थिर-शान्त दशा मे किन्तु प्रगीत की रचना भावाविष्ट स्थिति मे होती है। अतएव पहले मे तर्क-सम्मत बात होती है पर दूसरे मे तर्क-वितक की गुजाइश नही होती। इसी कारण मुक्तक मे छन्द का सयत्न निर्वाह किया जा सकता है—और किया जाता है। पर प्रगीत इस बन्धन से मुक्त है, उस पर प्रतिबन्ध है केवल लय का। अभिप्राय यह कि प्रगीत की सगीतात्मकता मुक्तक के समान छन्द-व्यवस्था से आरोपित नही वरन् स्वत उद्भूत है—प्रगीत-रचना की प्रक्रिया मे ही अन्तर्निहित है।

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ० १४७

गीत और प्रगीत

सामान्यत गीत और प्रगीत को पर्यायवाची माना जाता है, पर इनमे सूक्ष्म भेद है। गीत मे सगीत का, स्वर-ताल के सगीत का विशेष ध्यान रखा जाता है किन्तु प्रगीत का स्वय उसकी पदावली से ही समुदभून होना चाहिए। और स्पष्ट शब्दो मे प्रगीत का सगीत आन्तरिक होता है। किन्तु गीत पद का पर्याय है जो मूलत गेय होना है—उसका सगीत आन्तरिक भी होता है और वाह्य भी। मूलभावना का अ नर दोनो मे नही है।

मूल तत्त्व

प्रत्येक विधा के अपने विशेष गुण होते हे। उन्ही के अनुसार उनके तत्त्व भी हुआ करते हे। प्रगीत काव्य की भी कुछ अपनी विशेपताएँ है, जिनका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ पर सक्षेप मे, उसके मूल तत्त्वो का निरूपण करता हूँ

१ वैयक्तिकता

सर्वप्रथम तो प्रगीत काव्य मे व्यक्तितत्त्व का प्राधान्य होना चाहिए। उसमे प्रणेता की अपनी आशा-निराशा, क्षोभ-उत्साह, लज्जा-ग्लानि आदि का आलेखन होना चाहिए। अपने का अभिप्राय कोई अप्रेपणीय वैचित्र्य नही है वरन् उसमे स्वानुभूति का प्रामुख्य होना चाहिए। वास्तव मे मानव हृदय के मूलतत्त्व एक ही होने हे—कवि और अध्येता का हर्ष-विषाद भिन्न नही हो सकते। अत वैयक्तिकता का तात्पय यहाँ निजी रागात्मकता है।

२ आवेग-दीप्ति

प्रगीत किसी विशिष्ट मनोदशा का उच्छलन हुआ करता है। वह जीवन के उन महत्त्वपूण क्षणो की रचना होता है जब किसी तीव्र मनोवेश से कवि की चेतना अन्तमुखी हो जाती है। उस समय का भावाविष्ट आवेग ही प्रगीत म लेखनी-बद्ध होना चाहिए।

३ हार्दिकता

प्रगनि काव्य मे आवेश होता है—किन्तु यह आवश वास्तविक होना चाहिए, काल्पनिक नही। उसके पीछे सहज अन्त प्रेरणा आवश्यक है। इसके विपरीत यदि वास्तविक आवेश के अभाव मे कवि कल्पना से उसकी सृष्टि

करके प्रगीत-रचना करेगा तो वही कृत्रिमता आ जाएगी ।—और यह प्रगीत मे एक दोष होगा । इसलिए प्रगीत काव्य मे हार्दिक अनुभूति की, निश्छल भावना की अभिव्यक्ति होनी चाहिए ।

४ रागात्मक अन्विति

वह एक ही मूलभाव से अनुप्राणित होना चाहिए । उसकी विभिन्न पक्तियाँ मूलत एक ही भाव से सबद्ध होनी चाहिएँ । प्रगीत मे 'विविधता रहती है किन्तु वह प्राय एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है ।' अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण प्रगीत मे, उसके विभिन्न खण्डो मे एक ही वृत्ति एकतार अनुस्यूत रहनी चाहिए ।

५ सगीतात्मकता

प्रगीत काव्य का सगीतात्मक होना भी आवश्यक है । सगीतात्मकता के स्वर-ताल का सगीत अभिप्रेत नही है—वह तो साधारण गेय मुक्तको मे भी मिल जाएगा । किन्तु प्रगीत मे कोमल-कान्त पदावली, सुचारु शब्द सगुम्फन, अक्षर-मैत्री, वर्ण-मैत्री आदि द्वारा साध्य शब्द सगीत अपेक्षित है ।

६ प्रवाह

प्रगीत की शैली प्रवाहमयी एव तरल होनी चाहिए जो कि आवेश के ग्रहण और चित्त की द्रुति मे समर्थ हो ।

प्रगीतो के प्रकार

प्रेरक भावना अथवा विषय एव अभिव्यजन-प्रणाली के अनुसार प्रगीत काव्य के अनेक भेद किए जा सकते है । किन्तु इस सम्बन्ध मे यह निवेदन करना आवश्यक है कि साहित्य के क्षेत्र मे कोई भी वर्गीकरण अन्तिम एव आत्यन्तिक नही हुआ करता । प्रगीत काव्य के भी किन्ही दो प्रकारो के बीच ऐकान्तिक सीमा रेखा खीचना सभव नही । वास्तव मे एक के तत्त्व दूसरे मे घुले-मिले रहते है । फिर भी वर्गीकरण की अपनी उपादेयता है—अध्ययन की सुविधा के लिए वह आवश्यक है, अस्तु !

विषय की दृष्टि से प्रगीतो के निम्नलिखित प्रकार हो सकते है—

१ रहस्यवादी २ भक्तिपरक ३ राष्ट्रीय

---

१ काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, तृतीय सस्करण, पृ० १२१

४ प्रेम-सम्बन्धी   ५ शोक सम्बन्धी   ६ विचारात्मक
७ व्यंग्यात्मक   ८ नीतिपरक अथवा उपदेशात्मक

रूप की दृष्टि से प्रगीत काव्य के सबोधन-प्रगीत और चतुर्दशपदी आदि भेद किए जा सकते है। अंग्रेजी साहित्य मे पिछले दोनो प्रकार क्रमश ओड (Ode) और सॉनेट (Sonnet) के नाम से बहुत प्रचलित है।

गुप्त जी के प्रगीत

मैथिलीशरण जी ने प्राय सभी प्रकार के प्रगीत लिखे है। यद्यपि वे मूलत प्रबन्ध कवि है या मुख्यत प्रबधकार है फिर भी उन्होने प्रचुर मात्रा मे प्रगीत काव्य का प्रणयन किया है। उनके प्रबन्धो तक मे प्रगीत मिल सकते है—साकेत और यशोधरा मे वे मणियो के समान जडे हुए है। कुणाल गीत प्रबन्ध रचना है और अनघ नाटक है पर दोनो ही प्रगीतो से परिपूर्ण है। इसी प्रकार भारत-भारती, हिन्दू तथा स्वदेश सगीत मुक्तको के अन्तर्गत आते है फिर भी उनमे अनेक प्रगीत मिल जाएँगे। वैतालिक, झकार, विश्व-वेदना तथा अजलि और अर्घ्य स्पष्टत प्रगीत काव्य है ही।

मै पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि गुप्त जी ने प्राय सभी प्रकार के प्रगीतो की रचना की है। झकार मे रहस्यवादी और भक्तिपरक प्रगीत सकलित है तो भारत भारती, स्वदेश-सगीत और साकेत मे राष्ट्रीय प्रगीत मिल सकते है। प्रेम-सम्बन्धी प्रगीत साकेत और यशोधरा मे है तो शोक सम्बन्धी अजलि और अर्घ्य मे। हिन्दू, भारत भारती, विश्व-वेदना, कुणाल गीत और यशोधरा आदि मे विचारात्मक प्रगीत पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध है। और उपदेशात्मक अथवा नीतिपरक तो सभी रचनाओ मे प्रकीर्ण है। हा, व्यंग्यात्मक प्रगीत गुप्त जी ने कम लिखे है। प्रयास करने पर भारत-भारती, हिन्दू और विश्व-वेदना मे दो-चार मिल सकते है। रूप की दृष्टि से किए गए प्रगीतकाव्य के प्रकारो मे से हमारे कवि ने सबोधन-प्रगीत ही लिखे है। भारत भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत और यशोधरा मे वे पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध है। वैसे लिखी तो चतुर्दश-पदियाँ भी है पर उनकी सख्या नगण्य है।

नवीन रूप-प्रकार

'वैतालिक' को पूर्वोक्त किसी भी प्रकार के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। उसमे २६ पृष्ठ का एक ही लम्बा प्रगीत है, और वह अपनी तरह का अकेला ही है। उसमे सबोधन-प्रगीत का आभास है—किन्तु वह सबोधन-प्रगीत नही

है। वह किसी को भी सम्बोधित करके नही लिखा गया। वैतालिक की प्रारम्भिक पक्तियाँ देखिए—

श्रीरवि-कुल-मणि रघुनायक,
तुमको रहे दीप्तिदायक।
श्रीसीता, धन धान्य भरें,
उवर कर्म क्षेत्र करें॥
नई पौ फटी, रात कटी,
तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनोद्वार खोलो॥[१]

यहाँ सम्बोधन के स्थान पर आशीर्वादात्मक मगलाचरण के पश्चात् जागरण की प्रेरणा दी जा रही है। वैतालिक मे नीतिपरता भी है—

त्याग, त्याग पर वह किसका?
प्रथम प्राप्त तो हो जिसका
प्राप्त करो तब त्याग करो,
समुचित कम-विभाग करो॥[२]

किन्तु आगे चलकर कवि अपना स्वर बदल लेता है—

पुरुषोत्तम के अशज हो,
उन ऋषियो के वशज हो—
प्रकट हुई जिनके द्वारा
विश्व-धम की ध्रुव धारा॥[३]

इस प्रकार वैतालिक न सम्बोधनात्मक है और न शुद्ध उपदेशात्मक। सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर उसमे सुपुप्तो को जागरण का सन्देश दिया गया है—उनके उद्बोधन का प्रयत्न है। मै समझता हूँ कि पुस्तक का नाम—'वतालिक' भी मेरे मत की पुष्टि करता है। वैतालिक वे लोग होते थे जो स्तुतिपाठ करके प्रात काल राजाओ को जगाया करते थे। उनका कर्त्तव्य न तो सम्बोधनात्मक गान था—और न ही उपदेश-दान। वे जागरण का सन्देश देते थे या फिर कर्म की प्रेरणा। और स्पष्ट शब्दो मे वे उन्हे उद्बुद्ध करते थे। यही

१ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृ० ५
२ ” ” ” पृ० १७
३ ” ” ” ” पृ० २४

मैथिलीशरणकृत वैतालिक मे हुआ है। अत मेरी विनम्र सम्मति मे वैतालिक को प्रगीत काव्य के पूर्वनिर्दिष्ट किसी भी प्रकार के अन्तगत न रखकर उद्बोधानात्मक प्रगीत कहना चाहिए।

गुप्त जी के प्रगीत काव्य का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अब आगे प्रत्येक वग के प्रगीतो का विवेचन किया जाएगा।

राष्ट्रीय प्रगीत

अपन देश और देशवासियो के प्रति मानव मात्र मे अनुराग होता है। इसीलिए वह उन्हे बन्धनयुक्त नही देख सकता—उनके दारुण दु ख को सोत्साह दूर करने का प्रयत्न करता है। यही राष्ट्रीयता है—उसके मूल मे मातृभूमि का अनुराग और दु खनाश का उत्साह है। योद्धाओ की राष्ट्रीयता शस्त्रो द्वारा प्रकट होती है—किन्तु कवियो की प्रगीतो द्वारा। सभी देशो के कवियो ने राष्ट्रीय प्रगीत लिखे है। मैथिलीशरण की तो प्रसिद्धि का कारण ही उनकी राष्ट्रीयता है। आज वे अपने राष्ट्रीय प्रगीतो के बल पर ही राष्ट्रकवि की पदवी से अलकृत है। गुप्त जी की भारत-भारती, स्वदेश-सगीत तथा पद्य-प्रबन्ध राष्ट्रीय प्रगीतो से परिपूर्ण है। भारत-भारती के तीनो—अतीत, वतमान और भविष्यत खण्डो मे देश की ही दशा आलिखित है। उसमे अपने देश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, पूर्वजो का गौरव गान तथा प्राचीनो की उदात्त वीरता का बखान बडी श्रद्धा, भक्ति और त मयता स हुआ है। कितने विश्वास के साथ मैथिली शरण आत्मगौरव का वणन करते है—

> **भू लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ ?**
> **फैला मनोहर गिरि हिमालय और गगाजल जहाँ।**
> **सम्पूण देशो से अधिक किस देश का उत्कष है ?**
> **उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भरातवष है।।[1]**

यहाँ व्यक्तित्व के अभाव की शका हो सकती है—किन्तु ये पक्तिया कवि के हृदय-रस से सिक्त है, उसकी अपनी दृष्टि से दृष्ट है और अपने अनुराग से सराबोर है। यह उद्धरण तो अतीत खण्ड का है। वतमान खण्ड मे भी राष्ट्रीय भावना के ही दशन होते है। वहा कवि की करुणा उमड पडी है।—और भविष्यत् खण्ड मे एक आदश एव मनोरम भारत की कल्पना एव कामना की गई है। अन्तिम 'विनय' की प्रेरक भी भक्ति न होकर राष्ट्रीयता ही है—

---

१ भारत भारती पच्चीसवा सस्करण, पृ० ४

इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइए,
भगवान् ! भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइए।
जड तुल्य जीवन आज इसका विघ्न बाधा पूर्ण है,
हेरम्ब ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए।।[1]

देश प्रेमी देश के प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु से प्रेम करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे—'यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सब से प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश मे आँसू बहाएगा।'[2] गुप्त जी को वस्तुत स्वदेश से अपार प्रेम है। राष्ट्रीयता का आधारभूत यह प्रेम उनकी शिराओ मे सचरित है। 'पद्य-प्रबन्ध' के निम्नोद्धृत छन्द से प्रतीत होता है कि कवि को देश के जाज्वल्यमान उपकरणो से ही नही, धूलि से भी अपरिमित अनुराग है—

जिसकी रज मे लोट लोट कर बडे हुए हैं
घुटनो के बल सरक सरक कर खडे हुए हैं
परमहस-सम बाल्यकाल मे सब सुख पाए
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद मे
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यो न हो मोद मे[3]

यह एक मात्रिक छन्द 'छप्पय' है—रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नही है। फिर भी उसके सारे अ ततत्त्व इसमे विद्यमान है। यहा लक्ष्य करने की बात कवि की तन्मयता है। इसकी रचना के समय कवि निश्चय ही 'मोद मे मग्न' रहा होगा। इतना ही नही कवि देश की इस धूलि को परम पावना 'माथे का शृगार' मानता है—

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार
रज भी है इस पुण्यभूमि की सबके माथे का शृगार[4]

मै समझता हूँ यह रागात्मकता की पराकाष्ठा है। अस्तु !

भारत-भारती, पद्य प्रबन्ध और स्वदेश-सगीत के अतिरिक्त साकेत मे भी दो-एक राष्ट्रीय प्रगीत है। यद्यपि वह प्रबन्ध-काव्य है फिर भी यथाप्रसग गगा

---

१ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृ० १८१
२ चिन्तामणि भाग १, लोभ और प्रीति (निबन्ध)
३ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० ३०
४ स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृ० ७८

आदि का वर्णन बडे मनोयोग से हुआ है। यह भी राष्ट्रीयता का ही एक रूप है—कवि के देश-प्रेम का द्योतक है। जनकसुता के माध्यम से कवि की अपनी आत्मा गगा स्तवन कर रही है—

> जय गगे आनन्द तरगे कलरवे,
> अमल अचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे!
> सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,
> हम सब की तुम एक चलाचल सम्पदा।[१]

इस प्रकार हम देखते है कि मैथिलीशरण जी ने प्रचुर मात्रा मे राष्ट्रीय प्रगीतो का प्रणयन किया है।—और इन प्रगीतो मे प्रधानता अनुराग की ही है। नव-निर्माण का उत्साह अथवा आवेश उनमे अपेक्षाकृत न्यून है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव नही है। भारत-भारती के भविष्यत् खण्ड मे नव-निर्माण का ही जोश है। अभिप्राय यह कि कवि सर्वथा निराश नही है। उदाहरणत निम्नाकित पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

> **सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ मूल है—**
> **इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।**
> **अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायँगे,**
> **वे दिन यहा फिर आयँगे, फिर आयँगे, फिर आयँगे॥[२]**

ध्यान देने की बात यह है कि इस आशा और विश्वास के पीछे प्रभु की शक्ति है। श्रद्धा-निरपेक्ष प्रगीत की तो मैथिलीशरण कल्पना भी नही कर सकते।

इन प्रगीतो मे अव्याहत प्रवाह और सगीतात्मक शब्दावली नही है। फिर भी मातृभूमि के कण-कण के प्रति जो सहज और सघन अनुराग यहा है वही गुप्त जी के राष्ट्रीय प्रगीतो की शक्ति है।

विचारात्मक प्रगीत

विचार प्रगीत की प्रकृति के अनुकूल नही है। अभिप्राय इसका यह हुआ कि प्रगीत मे विचार की अथवा बौद्धिकता की प्रधानता नही होनी चाहिए। किन्तु विचार का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नही है क्योकि विचारहीन तो विक्षिप्त का प्रलाप ही हो सकता है, कवि का वक्तव्य नही। हाँ, यह आवश्यक है विचार

---

१ साकेत, सस्करण, सवत् २००५, पृ० १००

२ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० १७६

का जितना भी अश हो वह अनुभूति का अग बनकर आना चाहिए। अन्यथा वह विजातीय द्रव्य होगा—प्रगीत के लिए भार-स्वरूप होगा।

मैथिलीशरण गुप्त सच्चे अर्थ मे हमारे राष्ट्रकवि है—वे लगभग अर्द्ध शताब्दा से अनवरत साहित्य-सजन द्वारा उत्तर भारत की जनता का माग-प्रदशन कर रहे हे। अत उनकी रचनाओ मे विचार का समावेश अवश्यम्भावी है। एक उदाहरण लीजिए—

आज की उन्नति से अभिशप्त,
नहीं है कौन कहाँ सतप्त ?
रहे कोई कितना भी दृप्त,
हो सकेगा यो क्यो कर तृप्त ?
हमे निज उपवन मे सविवेक,
तपोवन रखना होगा एक।[1]

अन्तिम दो पक्तियो मे स्पष्टत विचार परिव्यक्त है—किन्तु यहाँ शुद्ध विचार नही है। युद्ध की विभीषिकाओ से त्रस्त कवि का हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोल रहा है। इसी से इसमे सवेदनात्मक द्रव है।

मैथिलीशरण विरचित कुणाल-गीत तो अनेक मधुर-स्निग्ध प्रगीतो की मजूषा है। उससे एक विचारात्मक प्रगीत उद्धृत किया जाता है—

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज धन अपने ही हाथो से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही ककश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के बस होना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?[2]

यहाँ कुणाल अपनी पत्नी को समझा रहे है। किन्तु वे दोनो तो प्रतीक मात्र रह जाते है। कवि अपने ही उद्विग्न मन को सान्त्वना देता हुआ प्रतीत होता है। यह वैयक्तिकता ही तो प्रगीत काव्य का प्राण है। वास्तव मे यहाँ विचार और अनुभूति का एकीकरण हो गया है—या फिर यह कहिए कि यह विचार ही अनुभूति है। इसीलिए ऐसी रचनाएँ प्रगीत काव्य के अन्तगत आती है। यदि यह विचार अनुभूति का अश न होता तो इस पद को प्रगीत न कह-

१ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० ४५
२ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० ५६

कर सूक्ति कहते । यशोधरा का प्रबन्धत्व कुणाल-गीत की अपेक्षा काफी पुष्ट है—फिर भी उसमे अनेक सु दर प्रगीत है । उसके विचारात्मक प्रगीत भी प्राय दशन-गरिष्ठ न होकर अनुभूति वरिष्ठ है । निम्नोद्धृत पद मे यशोधरा के माध्यम से कवि स्वय बोल रहा है—

यदि हममे अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहे स्वस्थता सम है ।
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ सयम है,
नवजीवन-दाता मरण कहाँ निमम है ?
भव भावे मुझको और उसे मै भाऊँ ।
कह, मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मै पाऊँ ?[१]

अभिव्यक्ति इतनी ओजपूण और सप्रभाव है कि इसके विपर्यीगत होने मे सशय नही रह जाता ।—और आवेग-दीप्ति विचार को गौण बना देती है । किन्तु यशोधरा मे ऐसा सब जगह नही हो सका है । 'महाभिनिष्क्रमण' के अन्तगत आलिखित तथागत के विचारो मे कही कही प्रगीत तत्त्व परिक्षीण हो हो गया है । मुख्य कारण इसका यह है कि उन विचारो मे कवि की आस्था नही है । दिनकर जिस प्रकार भीष्म और युधिष्ठिर दोनो से तादात्म्य कर सके है मैथिलीशरण उसी तरह गौतम और यशोधरा दोनो मे नही रम पाए हे । इसीलिए एक की वाणी मे व्यक्तित्व है, दूसरे की मे नही है । अत बुद्ध के विचार विचार ही है अनुभूनि नही वन सके । हिन्दू के विचारात्मक प्रगीतो मे यह अनुभूतिहीनता और भी अखरती है । उसके अधिकाश भाग मे कवि वाद-विवाद करता हुआ दृष्टिगत होता है । एक उदाहरण लीजिए—

क्यो अछूत हे आज अछूत ?
वे हैं हिन्दूकुल-सम्भूत !
गाते हैं श्री हरि का नाम !
आते हम हैं सबके काम !
बने विधर्मी वे अनजान,
मुसलमान किंवा क्रिस्तान
तो हो जाते हैं सुस्पृश्य !
हाय देव, क्या दारुण दृश्य ![२]

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १०७
२ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृ० २००

ऐसी पक्तियो मे न रागात्मकना है, न आवेश है और न अनुभूति का गहरापन । यहाँ तर्क वितर्क ने कवि की चेतना को वर दबाया है ।—और मै समझता हूँ कि यह तक भी कोई नवीन नही है—कवि का अपना नही है । आयसमाज द्वारा प्रस्तुत युक्तियो की पुनरावृत्ति मात्र है । ऐसे स्थलो पर प्रगीत के तत्त्वो का एकदम अभाव हे ।

वैसे गुप्त जी के इन प्रगीतो का काफी प्रभाव रहा है । वे राजनैतिक नेता नही, मच के व्याख्यान दाता नही, धार्मिक उपदेष्टा भी नही है । फिर भी अपने विचारात्मक प्रगीनो के द्वारा उन्होन एक बृहत्तर जनसमुदाय को नैतिक प्रेरणा दी है ।

नीतिपरक प्रगीत

विचारात्मक के साथ ही नीतिपरक प्रगीतो पर भी विचार कर लेना चाहिए । जब सासारिक विषमताओ और विसदृशताओ से विक्षुब्ध कवि-हृदय उपदेशावली मे फूट उठता है उस समय नीतिपरक प्रगीतो का प्रणयन होता है। इस विषय मे डा० भगीरथ मिश्र कहते है—"कवि की स्वानुभूति सम्ब धी वे कथन भी गीति के क्षेत्र के बाहर है जो नीति, उपदेश या वर्णन के रूप मे हे ।"[1] कि तु मै उनके इस कथन से सहमत नही हूँ । जिस नीति-परक अथवा उपदेशात्मक पद के पीछे स्वानुभूति है उसे प्रगीत क्यो न माना जाए ? हाँ, यदि कवि के अपने मन की खीझ या रीझ उसमे समाविष्ट न हो, उसकी रचना का आधार न हो तो निश्चय ही वह प्रगीत काव्य नही है । क्योकि रागात्मकता-विहीन नीति उपदेश छन्दोबद्ध होने पर भी नीतिशास्त्र के क्षेत्र मे आएगा, काव्य के नही ।

हिन्दी मे नीतिपरक प्रगीत प्रचुर मात्रा मे लिखे गए है—कबीर, सूर, तुलसी, सभी ने लिखे है । मैथिलीशरण के भी अनेक प्रगीत नीनिसवलित है । भारत-भारती से एक उदाहरण लीजिए—

> **जड दीप तो देकर हमे आलोक जलता आप है,**
> **पर एक हममे दूसरे को दे रहा सन्ताप हे ।**
> **क्या हम जडो से भी जगत् मे हे गये बीते नही ?**
> **हे भाइयो ! इस भाति तो तुम थे कभी जीते नही ।।[2]**

१ किंजल्क (पत्रिका)—सम्पादक डा० कमरीनारायण शुक्ल, सवत २००७ पृ० ४०
२ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृ० १५६

यह कोरा उपदेश नही है। कवि के अपने हृदय की करुणा, हार्दिक वेदना इसके पीछे है। ऐसी पक्तियो के निर्माण की मूलभावना है—

हा ! दीनबन्धो क्या हमारा नाम ही मिट जाएगा ?[१]

—और मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त पक्ति मे कवि के हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है। हाँ, काव्यत्व की भी रक्षा करते हुए रचना हुई है निम्न प्रगीत की—

बहु कलकण्ठ खगो के आश्रय,
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव भूतल को भेद गगन मे,
उठने वाले शाल, प्रणाम।।

× × ×

खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले, तुम्हे प्रणाम,
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले, तुम्हें प्रणाम।[२]

शाल के दृष्टान्त से कवि कुछ उपदेश दे रहा है—किन्तु शैली उपदेशात्मक नही है। अत नीति और उपदेश का प्रगीत के क्षेत्र से बहिष्कार करने वाले आलोचको को भी ऐसे पदो को प्रगीत मानने मे आपत्ति नही होगी। इस उदाहरण की निर्वैयक्तिकता खटक सकती है—किन्तु यह कवि का अपना जीवन-दर्शन है। अत निश्चित रूप से वैयक्तिक है।—और है गेयता जो कि अधिकाश नीतिपरक छन्दो मे नही हुआ करती। इसी प्रकार अनघ मे भी नीति तत्त्व कलात्मकता मे आवेष्टित है—

कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।
हम सब तो है बस अहम्मन्य।
जीवन है कितना अल्प हाय !
उसमे भी तू उत्फुल्ल काय,
कर जाती है इतना उपाय
गुण गाता है अलि सम्प्रदाय।

---

१ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृ० ८५२

२ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ३०-३२

तुझसा उदार है कौन अन्य ?
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।[1]

मगध की महारानी का यह गान नीतिपरक प्रगीत का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

किन्तु प्रस्तुत कवि के सभी नीतिपरक प्रगीतो मे ऐसा नही हुआ है। अनेक स्थलो पर मैथिलीशरण का उपदेशक उनके कवि पर हावी हो गया है। हिन्दू से निम्नोद्धृत अवतरण देखिए—

करके शिक्षा-कार्य समाप्त,
विद्यालय की पदवी प्राप्त।
फिर तुम ग्रामो मे कर वास
ग्रामीणो का करो विकास।
शुद्ध सरल जीवन के साथ
रक्खो उन पर अपना हाथ[2]॥

ऐसी नीरस तुकबन्दी मे प्रगीतत्व क्या काव्यत्व ही नही है। ये पक्तियाँ लिखते समय कवि का हृदय उसके साथ नही है—बुद्धि ही मुखरित है। मेरे विचार मे कही से सुनी हुई (शायद किसी दीक्षान्त भाषण से) यह बात लेखक ने आगे सुना दी। इसमे उसका अपना कुछ नही है। इसीलिए ये पक्तियाँ नीरस और प्रभावहीन है। भारत-भारती मे भी इस प्रकार के कई पद्य मिल जाएँगे— फिर भी उनके तल मे युवक हृदय का ओज है, आवेग है। किन्तु हिन्दू की रचना हृद्गत जोश के अभाव मे ही हुई है—आवेश के क्षणो मे नही। झकार और अनघ के नीतिपरक प्रगीत साधारणत अच्छे है।

प्रेम-प्रगीत

प्रेम मानव हृदय की तीव्रतम भावना है। स्त्री पुरुष मे एक दूसरे के लिए सहज आकर्षण है। यह आकर्षण ससार के अन्य सभी प्रलोभनो से अधिक शक्तिशाली है। इस आकर्षण की दुर्दम शक्ति के कारण ही भक्तो ने—तुलसीदास ने भी—भगवान् मे ऐसी गूढानुरक्ति की कामना की है जैसी कि किसी कामी को कामिनी के प्रति होती है। अभिप्राय यह कि सभी ने स्त्री-पुरुष के प्रेम की तीव्रता का अनुभव किया है। प्रेम-प्रगीतो मे यह तीव्र-तीक्ष्ण भावधारा ही आबद्ध होती है। जीवन की मूलभावना मे सम्बद्ध होने के कारण प्रेम-प्रगीत

---

१ अनघ, षष्ठावृत्ति, पृ० ७२

२ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृ० १५०

सभी देशो और जातियो के साहित्य मे पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध है। मैथिली-शरण हमारे राष्ट्रकवि है, उन्होने राष्ट्रीय प्रगीत ही अधिक लिखे है। फिर भी जीवन को समग्र रूप मे ग्रहण करने वाला कवि प्रेम को नही छोड सकता। उनके साकेत और यशोधरा मे अनेक प्रेम-प्रगीत सग्रथित है। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि उन्होने सयोग का वर्णन अधिक नही किया है– वह उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नही है। अत उनके ये प्रगीत विरह के ही है।—और विरह-वह्नि मे वासना भस्म हो गई है। शेष है शुद्ध प्रेम—प्रेमी के लिए त्याग और तपस्या का भाव। देखिए उर्मिला कितने बडे बलिदान के लिए तत्पर है—

अब जो प्रियतम को पाऊँ!
तो इच्छा है उन चरणो की रज मै आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कही तो क्या कुछ देर लगाऊँ!
मै अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ![1]

वह प्रियतम के सुख-साधन के लिए स्वय मिटने को तैयार है। इससे बढकर प्रेम की सघनता और क्या होगी?—मै समझता हूँ कि यह प्रणय-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा है। यशोधरा भी तथागत के चले जाने पर दुखी है—किन्तु उसका दुख सयोग के सुख के अभाव के कारण नही है। उसका कारण है अपने नारीत्व का, सम्पूर्ण नारी जाति का अपमान—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते?[2]

पर जीवन के एकान्त क्षणो मे उसका अधीर हृदय पुकार उठता है—

आओ हो बनवासी!
अब गृह-भार नहीं सह सकती
देव, तुम्हारी दासी।[3]

आदि।

इस प्रगीत मे यद्यपि प्रेम का तीव्र उच्छ्वास नही है तथापि रागात्मकता और तन्मयता अपूर्व है। तीव्रता के अभाव का कारण है स्वकीया-प्रेम। मैथिलीशरण की नायिकाएँ परकीया नही है। इसलिए उनके प्रेम मे पर्वतीय नदी का आवेग न मिलकर समतल भूमि मे विस्तीर्ण मैदानी नदी का मन्द-

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३५
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० २४
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ११८

मन्थर प्रवाह है । वियोग के कारण कुछ कराह अवश्य है पर वह भी असीम और अबाध नही है । क्योकि स्वकीया प्रेम मे घोर उद्दामता भी नियमित-नियन्त्रित हो जाती है । एक बात और ! बाबू गुलाबराय ने प्रसाद जी के नाटकगत प्रेम-प्रगीतो के विषय मे लिखा है—"प्रसाद जी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष सदर्भ से बधे हुए है और इस कारण वैयक्तिक भी है तथापि वे ऐसे हैं कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय प्रतिस्पदित होने लगता है । गीतो मे वैयक्तिकता बाधक नही साधक ही होती है और एक विशेष तीव्रता प्रदान करती है ।"[१] ठीक उसी तरह यशोधरा और उर्मिला के प्रेम-प्रगीत वैयक्तिक हैं, फिर भी प्रत्येक सहृदय के लिए सवेद्य है। और उपर्युक्त वैयक्तिकता उन्हे प्रगीतोपयुक्त तीव्रता तथा दीप्ति प्रदान करती है ।

स्वय प्रेम के विषय मे लिखित प्रगीत की गणना भी प्रेम-प्रगीतो के अन्तगत ही होनी चाहिए । डा० भगीरथ मिश्र तो प्रेम को सम्बोधित करके लिखे गए पदो को भी प्रेम-प्रगीत ही मानते हे ।[२] किन्तु वे रूप वभिन्य के कारण सम्बोधन-प्रगीतो मे आने चाहिएँ । गुप्त जी ने दो-एक प्रगीत प्रेम के विषय मे भी लिखे हैं । साकेत से निम्नोद्धत पक्तिया देखिए—

दोनो ओर प्रेम पलता है ।
सखि, पतग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है !
सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यो कहता ?
पर पतग पड कर ही रहता ! कितनी विह्वलता है।
दोनो ओर प्रेम पलता है ।[३]

कुछ प्रेम-प्रगीत साधारण वरन् सवथा कलाहीन भी है। नीचे की पक्तियो की अनगढ शब्दावली कितनी अरुचिकर है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि पहन लू ला, सब करूँ,
जिऊ मै जैसे हो, यह अवधि का अणव तरूँ ।[४]

आदि ।

घनीभूत प्रेम की करुण विवशता आकुल विह्वलता उक्त उद्धरण मे है

---

१ काव्य के रूप, तृतीय सस्करण, पृ० १५५

२ किजल्क (पत्रिका), सवत् २००७, सम्पादक डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ४८

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २०४

४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६७

फिर भी उसमे प्रगीतत्व नही है, सगीतात्मकता के अभाव से इसका द्रवणशील प्रभाव ही नष्ट हो गया। यदि इसमे सगीत का योग हो जाता तो निश्चित रूप से यह पाठक के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव छोड जाता। किन्तु ऐसे प्रगीतत्वहीन स्थल बहुत कम है।

समग्रत मैथिलीशरण ने अन्य आधुनिक कवियो के समान अधिक प्रेम-प्रगीत नही लिखे। और जो लिखे भी है उनमे वासना का पक नही है, वे त्याग और बलिदान की साधना से उद्भासित है।

शोक प्रगीत

किन्ही व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अभावो एव दाहो से प्रताडित कवि-हृदय का करुण उद्गीथ ही शोक-प्रगीत है। इसमे व्यजित शोक निरपवाद रूप से हार्दिक होना चाहिए। इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति, जैसा कि हडसन का मत है, एकान्तत निष्कपट होनी चाहिए।[1] क्योकि कृत्रिमता के किंचित आभास से ही शोक-प्रगीत का सारा सौदर्य और प्रभाव नष्ट हो जाता है। अग्रेजी मे शोक प्रगीत का पर्याय 'एलेजी' है। यह शब्द ग्रीक से गृहीत है। ग्रीक मे छन्द-विशेष के व्यवहार के कारण शोक-प्रगीत को एलेजी के नाम से अभिहित किया जाता था।[2] अग्रेजी साहित्य मे बहुत से उत्कृष्ट शोक-प्रगीत उपलब्ध है। मिल्टन, शैली और ग्रे के शोक-प्रगीत विशेषतः प्रसिद्ध है। हमारे यहाँ भी शोकपरक साहित्य कम नही लिखा गया। कारुण्य का प्राधान्य देखकर ही तो भवभूति ने करुण को रसराज मान लिया था। आदि कवि बाल्मीकि के मुख से भी सवप्रथम शोक-सतप्त वाणी ही फूटी थी। आधुनिक कवियो मे भारतेन्दु, जयशकर प्रसाद, निराला आदि ने शोक-प्रगीत लिखे है। हमारे कवि की अजलि और अर्घ्य एक लम्बा शोक-प्रगीत ही है। उसमे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी की मृत्यु से उद्भूत कवि-हृदय के शोक की अभिव्यक्ति है। पुस्तक की प्राथमिक कुछ पक्तिया उद्धृत करता हूँ—

> **अरे राम ! कैसे हम झेले**
> **अपनी लज्जा उसका शोक ?**
> **गया हमारे ही पापो से**
> **अपना राष्ट्रपिता परलोक।**

---

१ दे० An Introduction to the Study of Literature, ed 1955, page 100

२ दे० गीति-काव्य, रामखेलावन पाण्डेय, सस्करण सवत २००४, पृ० २३१

हे भगवान, उदित होते है
क्या अब भी तेरे रवि-सोम ?
आँखें रहते देख रहे है
हम क्यो केवल तम का तोम ।[1]

इस उद्धरण मे प्रकटित वेदना कवि के अपने हृदय की वेदना है । वह उससे इतना अभिभूत है कि सनेत्र होने पर भी उसे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है । इसी प्रकार पुस्तक के अन्त मे भी कवि आँसू-आसू है । वास्तव मे वह अपने अश्रुओ द्वारा ही अजलि और अर्घ्य दे रहा है—

बापू, आज सभी आशाएँ
दृष्टि शून्य कर जाती हैं,
अजलि और अर्घ्य देने को
आँखें भर-भर आती हैं ।[2]

पर सम्पूर्ण कविता इसी तरह भाव-दीप्त नही है । बीच-बीच मे वह विचारो से भाराक्रान्त अथवा तर्क-प्रधान हो गई है ।—और अनेक स्थलो पर व्यक्ति-तत्त्व को दबाकर वस्तु तत्त्व उभर आया है, जैसे निम्नोद्धृत अवतरण मे—

अल्प वयस मे ही अम्बा को
दिए वचन तूने पाले,
बने वासनाओ के वन मे
वे भी तेरे रखवाले ।[3]

ऐसे स्थानो पर प्रगीतत्व का अभाव है । प्रगीतत्व की क्षीणता का कारण है कवि की दीर्घता । इस अतिरिक्त विस्तार से भावना का आवेश दुर्बल पड गया है । दूसरी बात जो प्रगीतत्व मे बाधक हुई वह यह है कि इसकी रचना महात्मा गाँधी की मृत्यु के लगभग एक वर्ष पश्चात् हुई है । निश्चित रूप से उस समय तक हृदय की शोक-विह्वलता सयत और शान्त हो गई होगी । फिर भी कवि को हार्दिक दु ख हुआ था । इसीलिए यह पुस्तिका पाठक के मन पर एक करुण-मधुर लीक छोड जाती है । भारत-भारती मे भी अनेक शोक-प्रगीत है । उसका वर्तमान खण्ड तो शोक-प्रगीतो से ही आपूर्ण है । वैसे उसमे वस्तु की

१ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ७
२ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ४३
३ अॅजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति पृ० १६

प्रधानता है—कि तु उस वस्तु-तत्त्व से उत्थित आत्मस्थ भावनाओ का भी अभाव नही है।

गुप्त जी ने आचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी, मुन्शी अजमेरी तथा अपने पुत्रो की मृत्यु पर भी शोक-प्रगीत लिखे है। आचाय द्विवेदी तथा मु शी अजमेरी सम्बन्धी शोक प्रगीत पत्र-पत्रिकाओ मे छप चुके है। किन्तु बच्चो के निधन पर लिखी गई करुण-गीतियाँ 'सात्वना' नामक अप्रकाशित पुस्तिका मे सगृहीत है। उसकी सामग्री हमे उपलब्ध नही हो सकी। आचार्य द्विवेदी तथा मुन्शी अजमेरी के साकेतवास पर लिखित एक-एक शोक-प्रगीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

सरस्वती के हार-पद्म मे आज उसी मुख की उनहार।
मरण वस्तुत परिवतन है, जीवन गतिमय अमर उदार।
लुप्त हुई क्या आर्य, तुम्हारे चिर निर्मल जीवन की धार ?
या हिन्दी की हरियाली मे लहराती है एकाकार !
सीचा तुमने क्षेत्र हमारा आसू नही पसीना गार,
फूले-फले अन्त मे अब वह पाकर उस शरीर का सार !
किसके रस मे उमड रहा यह मानस बनकर पारावार ?
भरे हृदय की ही श्रद्धाजलि उन चरणो मे हो स्वीकार।[1]

(आचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति)

ओ मेरे अभिमानी !
रहा अन्त मे याचक ही तू होकर भी चिरदानी।
देश काल का मेल मिलाकर
आप मृत्यु तक अमृत पिलाकर
मागा भी क्या, होठ हिलाकर
हा ! यह खारा पानी
ओ मेरे अभिमानी !
आँखें नया सि धु रच डालें
तुझ सा एक रत्न यदि पालें
पर हम कितना ही रो गालें
तूने लम्बी तानी
ओ मेरे अभिमानी !

---

१ सरस्वती (पत्रिका), फरवरी १९३९

सो, तू सुखपूर्वक सो, भाई
मृग ने मरीचिका तो पाई
पर जाने वह मेरा न्यायी
उसने कैसी ठानी
ओ मेरे अभिमानी ![1]

(मुन्शी अजमेरी के प्रति)

उपर्युक्त दोनो कविताओ मे कवि के अनुभूत शोक की व्यजना है। द्विवेदी जी तथा मुन्शी अजमेरी दोनो से गुप्त जी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अत उनके निधन पर उनको हार्दिक दु ख है। वह आत्मस्थ दु ख ही यहाँ परि-व्यक्त हुआ है। ऐसी रचनाओ को शोक-प्रगीत के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

इस प्रकार मैथिलीशरण जी ने शोक-प्रगीत भी लिखे है—और वे निश्चित रूप से हृदयरस से आप्लावित है। उनमे प्रकटित शोक और प्रवहमान अश्रु अकृत्रिम है, फिर भी आवेश की न्यूनता है—उतने ही अश मे वे सदोष है।

रहस्यवादी प्रगीत

"रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप मे देखता है और उससे मिलन के लिए व्याकुल रहता है।"[2] अत जिन प्रगीतो मे रचयिता की वियुक्त आत्मा की अकुलाहट और छटपटाहट व्यक्त होती है वे रहस्यवादी प्रगीत कह-लाते है। लेकिन आज का युग साधना का नही है। इस बीसवी शताब्दी मे कबीर और जायसी के समान धार्मिक साधना सम्भव नही है। फिर भी आज के कवि ने—विशेषत छायावादियो ने—आध्यात्मिक विरह के गीत गाए है। मैथिलीशरण जी ने युगचेतना से प्रभावित होकर कुछ रहस्यवादी प्रगीतो का प्रणयन किया है। कवि की आत्मा को अपनी और प्रियतम की नित्यता पर अटूट विश्वास है—

थे, हो और रहोगे जब तुम
थी, हूँ और रहूँगी (मै)[3]

—और निश्चय है मिलन का अनेक कठिनाइयो की अवस्थिति मे भी—

---

१ कवि के अनुज श्री चारुशीलाचरण गुप्त की कृपा से चिरगाँव से प्राप्त

२ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, सस्करण सन् १९५५, पृ० २७२

३ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० १५५

माग-वक्रता और विषमता
आगे बढती हुई सहूँगी (मै)
पाकर तुम्हे कभी न कभी तो
अपने मन की बात कहूँगी (मै)[१]

प्रिय-मिलन के लिए आत्मा व्याकुल है, आतुर है, निम्न पक्तियो मे उसकी तीव्र उत्कण्ठा देखिए—

दूती बैठी हूँ सजकर मै।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से,
धाम धरा धन सब तजकर मै।।[२]

मिलन की उत्कण्ठा ही नही तादात्म्य की अधीर अभिलाषा भी है—

बस अब उनके अक लगूगी,
उनकी वीणा-सी बजकर मै।[३]

अन्तिम पक्ति मे आत्म-समपरा की पराकाष्ठा हो गई है। अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को एकदम नगण्य मान लिया गया है। अपनी तुच्छता और प्रिय के महत्त्व मे ही सच्ची भक्ति और रहस्यवादिता है। पूर्वोद्धृत उदाहरणो के अतिरिक्त और भी, जैसे झकार, इकतारा, आमन्त्रण, अनुभूति, इन्द्रजाल आदि अनेक रहस्यवादी प्रगीत 'झकार' मे सकलित है। किन्तु ये सब कवि के व्यक्तित्व से सवथा असम्पृक्त हे। क्योकि वह दशरथसुत अवतारी राम का भक्त है—किसी अव्यक्त का साधक नही। अत इन प्रगीतो मे प्रगीत-काव्य की प्राण-स्वरूप वैयक्तिकता का ही अभाव है। अधिकाशत कल्पना की ही उडान है। एक उदाहरण लीजिए—

चातक खडा चोच खोले है,
सम्पुट खोले सीप खडी,
मै अपना घट लिये खडा हूँ,
अपनी अपनी हमे पडी।[४]

ससार-व्यापी प्रतीक्षा का अकन इन पक्तियो मे हुआ है। पर "मैं अपना घट लिये खडा हूँ" मैं हार्दिकता दृष्टिगत नही होती। इस हृद्गत प्रेरणा के

---

१ झकार, द्वितीयवत्ति, पृ० १५५
२ ,, ,, , पृ० १५६
३ ,, ,, , पृ० १५६
४ ,, ,, , पृ० ११२

अभाव के ही कारण अनेक रचनाएँ सफल प्रगीत नही बन पाई। वास्तव मे ये रहस्यवादी प्रगीत व्यक्तिगत चेतना से अनुप्राणित नही है। वरन् इनके पीछे युग की प्रवृत्ति का आग्रह है।—और यदि कोई एकाध प्रगीत अच्छा है भी तो उसे भावमयी जिज्ञासा मात्र समझना चाहिए अनुभूति-प्रेरित नही।

भक्तिपरक प्रगीत

रहस्यवाद मे अव्यक्त प्रियतम के प्रति विरह निवेदन होता है। वह प्रियतम निर्गुण, निराकार और निरुपाधि होता है किन्तु भक्त लोग ऐसे प्रिय की कल्पना करते हैं जो सगुणसाकार हो। वे अपने इष्टदेव से वैयक्तिक सबन्ध स्थापित करते है। इस व्यक्तिगत सम्बन्ध की स्थापना के निमित्त ही अवतारो की परिकल्पना की गई है। क्योकि अवतार के अभाव मे—किसी रूप आकार के अभाव मे—व्यक्तिगत सम्बन्ध सम्भव नही। मैथिलीशरण गुप्त मूलत भक्त है—उन्हे राम की भक्ति रिक्थ स्वरूप मिली है। अत उन्होने अनेक भक्तिपरक प्रगीत लिखे है। झकार के पहले ही प्रगीत मे राम के दीनबन्धुत्व और उनके प्रति निजी रागात्मकता का अकन हुआ है—

निबल का बल राम है।
हृदय! भय का क्या काम है॥

× × ×

तन-बल, मन-बल और किसी को
धन बल से विश्राम है,
हमे जानकी जीवन का बल
निशिदिन आठो याम है।[1]

अन्तिम पक्ति मे 'तुलसी के मतै इतनो जग जीवन को फलु है' जैसी अनन्य और एकान्त श्रद्धा एव भक्ति है।—और भगवदवतारो, भगवान् की विभिन्न लीलाओ के अनुशीलन मे मैथिलीशरण को भी रसखान-सा रस मिलता है—

वे अवतार चरित नव नाना,
चित्त हुआ चिर चेरा।[2]

यह कोई वाग्जाल नही है—मिथ्यालाप नही है। सचमुच कवि का चित्त अवतारो के चरित-गान मे रस मग्न हो जाता है। इस स्वार्थी और अवसरवादी

---

१ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ७
२ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० १५

युग मे भी मैथिलीशरण को भगवद्भजन मे ही आनन्द मिलता है। जिन लोगो को कभी उस सौम्य मूर्ति के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे मेरे इस कथन से सहमत होगे। वास्तव मे भौतिकताप्रधान सासारिक जीवन से तो वे पराङ्मुख है। सघर्षो के 'दीरघ दाघ निदाघ' से उनका मन-कुसुम झुलस जाता है, बुद्धि चकरा जाती है। तब वे भगवत्कृपा की स्निग्ध ज्योत्सना की ही आकाक्षा करते है। कवि के अपने शब्दो मे—

जीवन-यात्रा के आतप से
मूर्च्छित है मति मेरी।
"कविर्मनीषी—!' 'कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी ?[१]

प्रगीत-काव्य के अनिवार्य तत्त्व वैयक्तिकता और भाव-सकुलता दोनो ही इन पक्तियो मे देखे जा सकते है। कभी-कभी तो भावाविष्ट कवि चेतना को ही भार अथवा बाधा मान बैठता है और अचेतना की कामना करता है—

चाटें चतुर चेतना लेकर
कर दो मुझे अचेत,
बस सचालित करे तुम्हारा
इगित का सकेत।[२]

मैथिलीशरण जी की पुस्तको के मगलाचरण भी भक्ति-परक प्रगीत ही हैं। उन सबमे प्राय राम के प्रति भक्ति-निवेदन है। उदाहरणस्वरूप दो पुस्तको के मगलाचरण प्रस्तुत करते है—

राम तुम्हारे इसी धाम मे
नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ,
इसी देश मे हमे जन्म दो
लो प्रणाम हे नीरजनाभ।[३]

× × ×

वहाँ पन्थ-भय क्या भला, मेरे ग्रन्थ प्रबन्ध
जहाँ खींचता है तुझे, रामचरण रजगन्ध।[४]

---

१ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ४४
२ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ११६
३ यशोधरा, मगलाचरण
४ कुणाल गीत, मगलाचरण

उपयु क्त दोनो उद्धरणो मे छ द का उल्वन स्पष्ट है जो प्रगीत के अनुपयुक्त है, फिर भी यहाँ कवि के हृद्‌गत भक्ति भाव की निश्छल अभिव्यक्ति है। इन पद्यो मे परिव्यक्त रामभक्ति निर्विवाद रूप से हार्दिक है। अत बाह्य कलेवर प्रगीत के अनुकूल न होने पर भी ये निश्चित रूप से प्रगीत है—इनमे प्रगीत की आत्मा सुरक्षित है। अन्यान्य पुस्तको के मगलाचरण के विषय मे भी यही कहा जा सकता है।

दो-चार प्रगीत गुप्त जी ने कृष्ण-भक्ति के भी लिखे है। किन्तु वे राम के अनन्य उपासक है। अत कृष्ण भक्ति-मूलक प्रगीतो मे परम्परा-पिष्ट विचार ही अधिक है, स्वानुभूति अथच वैयक्तिकता अल्पाश मे ही मिल सकेगी, जैसे—

रथ-सूत हुए अपने भट के
कि फँसे युग छोर कहीं पटके।[1]

—इसीलिए यहा काव्यत्व का भी अभाव है। क्योंकि कवित्व का सम्बन्ध अनुभूतिजन्य भावना से है—परम्परा प्राप्त ज्ञान से नही। फिर भी कृष्ण के ललित जीवन के सम्पर्क से कहीं-कहीं अपूर्व माधुर्य का सचार हो सका है। उदाहरण के लिए निम्नोद्धृत पक्तिया देखिए—

फिर याद पड़े टटके टटके,
ब्रज-गोप-वधू दधि के मटके,
उनका कहना-हटके! हटके!
उलझी-सुलझी लटके लटके।
नटनागर, आज कहाँ अटके?[2]

मेरे विचार मे ऐसे मधुर स्निग्ध चित्र प्रगीत-काव्य की आत्मा के प्रतिकूल नही है। सब मिलाकर मैथिलीशरण के भक्तिपरक प्रगीत काफी अच्छे है। न ये नीति-शुष्क है, न राष्ट्रीयता से भाराक्रान्त वरन् इनमे कवि हृदय के सहज उद्‌गार है।

व्यग्य-प्रगीत

अन्याय अत्याचारो और विषमताओ से विक्षुब्ध कवि-हृदय का आवेश जब व्यग्य-बाणो मे प्रस्फुटित होता है तब व्यग्य-प्रगीतो का प्रणयन हुआ

---

१ झकार द्वितीयावृत्ति, पृ० ४७
२ ,, ,, पृ० ४७

करता है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि व्यग्य का उद्देश्य होना चाहिए विसदृशताओ का निराकरण—अन्यथा कितना ही कलात्मक होने पर भी, प्रगीत-तत्त्वो से युक्त होने पर भी उसका परिगणन साधु काव्य मे नही हो सकता। अभिप्राय यह कि व्यग्य-प्रगीत मे कवि हृदय-उत्थित आवेश एव क्षोभ की व्यक्ति तो होगी। किन्तु उसके पीछे व्यष्टिगत द्वेष न होकर समष्टिगत कल्याण की भावना रहनी चाहिए। हिन्दी मे व्यग्यात्मक साहित्य बहुत कम लिखा गया। भारतेन्दु-मण्डल के कुछ 'जिन्दादिल' लोगो ने व्यग्यात्मक कविताए लिखी है—किन्तु वे इतनी वस्तुपरक है कि उन्हे प्रगीत नही माना जा सकता। हा, निराला ने अवश्य कुकुरमुत्ता, वन वेला आदि कुछ अच्छे व्यग्य-प्रगीत लिखे है। मैथिलीशरण की प्रवृत्ति व्यग्य की ओर नही है, फिर भी उनका राष्ट्रकवि अत्याचारी विदेशी सत्ता पर—और उनका आस्तिक हृदय धूत पाखण्डियो पर व्यग्य-बाण सधान किए बिना नही रह सका। भारत-भारती मे कृष्ण के माध्यम से हृदय की कुत्सित वासनाओ का वीभत्स प्रदशन करने वाले कवियो पर करारा व्यग्य देखिए—

सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—
श्रीकृष्ण की हम आड लेकर हानि करते लोक की।
भगवान को साक्षी बना कर यह अनगोपासना,
है धन्य ऐसे कविवरो को, धन्य उनकी वासना॥[१]

व्यग्य की तीक्ष्णता मे समाविष्ट कवि के स्वानुभूत सताप ने इसे प्रगीतता प्रदान की है। यहा लक्ष्य करने की विशेष बात यह है किसी कवि-विशेष के प्रति दुर्भावना नही है, द्वेष का दश नही है। वरन् काव्य के सस्कार का उच्च आदर्श कवि के समक्ष रहा है। व्यग्य की उग्रता देखनी हो तो विश्व-वेदना की निम्न पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

अहा! उन्नत मानव है आप?
आप के लिए रहा क्या पाप?
आपका अद्भुत यश - प्रताप,
एक आतक, एक अभिशाप!
बने कितनो को आप बिगाड?
बसे हैं कितने बास उजाड?[२]

---

१ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृ० १२१

२ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० १७

कितना तीखा व्यग्य है—किन्तु इस उद्धरण मे प्रगीतत्व क्षीण है क्योकि इसमे भारत-भारती के पूर्वोद्धृत अवतरण के समान अनुभूति की गहराई न मिलकर बौद्धिक आवेश का प्राधान्य है। और देखा जाए तो ससार के अधिकाश व्यग्य-प्रगीतो मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता ही मिलेगी—हृदय के रस से सिक्त तो अल्प ही है। आलोच्य कवि ने व्यग्य प्रगीत बहुत कम लिखे है। सच्चे अर्थो मे प्रगीत तो और भी कम है। हाँ, एक बात सवत्र विद्यमान है, वह यह कि उनमे समाज-कल्याण का औज्ज्वल्य है, व्यक्तिगत द्वेप का मालिन्य नही।

सम्बोधन प्रगीत

ऊपर विपय की दृष्टि से किए गए प्रगीत काव्य के प्रकारो का विवेचन किया गया है। अब रूप पर आधृत भेदो—चतुर्दशपदियो (Sonnets) और सम्बोधन-प्रगीतो पर विचार किया जाएगा। चतुदशपदियो की तो हिन्दी मे प्राय कमी ही है।—और हमारे कवि ने तो केवल दो लिखी है। हा, अग्रेजी के अनुकरण पर आधुनिक काल मे सम्बोधन प्रगीत अवश्य लिखे गए हे। किसी को सम्बोधित करके लिखा गया प्रगीत सम्बोधन प्रगीत कहलाता है। इस सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि सबोध्य का सजीव होना आवश्यक नही है। 'किसी प्राकृतिक या साधारण वस्तु, दृश्य, भाव और विचार, युग को भी सम्बोधित किया जा सकता है।'[१] अग्रेजी मे शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन आदि न श्रेष्ठ सम्बोधन-प्रगीत लिखे है। हिन्दी मे निराला विरचित 'यमुना के प्रति', पन्त जी की छाया' तथा दिनकरकृत 'समाधि के प्रदीप से' आदि प्रगीत इसक अच्छे उदाहरण हे। गुप्त जी ने भी कई सम्बोधन-प्रगीत लिखे है। उनकी भारत-भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत आदि पुस्तको मे अनेक सम्बोधनात्मक प्रगीत उपलब्ध हे। भारत-भारती क भविष्यत् खण्ड मे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्रो, साधु-सन्तो तीथगुरुओ, नेताओ, कवियो, धनियो और नवयुवको आदि को सम्बोधित करके प्रगीत लिखे गए है। इन प्रगीतो मे स्पष्टत उपदेश की ग ध है, सुधार की प्रवृत्ति है। फिर भी विपयी की मनसा का सवथा अभाव नही है। कवियो को सम्बोधित करके लिखी गई पक्तियाँ देखिए—

करते रहोगे पिष्ट-पेषण और कब तक कविवरो।
कच, कुच, कटाक्षो पर अहो! अब तो न जीते जी मरो।

---

१ गीति-का य, रामखेलावन पाण्डेय, पृ० २४८

ज्ञान-ददात्री-शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी
है जन्म से ही वह यहाँ श्रीराम की अनुगामिनी।
पर अब तुम्हारे हाथ से वह कामिनी ही रह गई,
ज्योत्स्ना गई देखो अंधेरी यामिनी ही रह गई॥[१]

यहाँ कवि के अपने भग्न हृदय का क्षोभ भी समाविष्ट है। यद्यपि इस उद्धरण मे वाछित आवेग एव आवेश नही है, फिर भी इसमे प्रगीत क अनिवाय तत्त्व सहानुभूति की ही परिव्यक्ति हुई है। हिन्दू मे 'अग्रेजो के प्रति' और 'मुसलमानो के प्रति' काफी लम्बे सम्बोधनात्मक प्रगीत सकलित है। उनमे 'पारसियो के प्रति', 'ईसाइयो के प्रति' तथा 'युवको के प्रति' आदि कुछ छोटे-छोटे और भी सम्बोधन प्रगीत है। उन सबमे गुप्त जी का उपदेशक अथवा सुधारक उनके कवि को दबा बैठा है। अतएव पूर्वोल्लिखित रचनाएँ रूप की दृष्टि से ही सम्बोधन प्रगीत है। उनमे और कोई विशेष बात नही है। 'मुसलमानो के प्रति' से कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत करता हूँ—

मुसलमान भाई, हो शान्त,
सोचो तुम्ही तनिक एकान्त।
तुम निज हेतु करो सब कर्म,
और छोड दे हम निज धर्म?
रहे तुम्हारा कुछ भी बोध,
हमको तुमसे नही विरोध।
मातृभूमि का नाता मान,
है दोनो के स्वार्थ समान।[२]

इस अवतरण मे कवि का मस्तिष्क ही बोल रहा है। बौद्धिक आख्यान ही है, हृदय का रस नही। मै समझता हूँ ऐसी पक्तियो मे कवि का अपना कुछ नही है—यह तक भी शायद मौलिक नही है। हाँ कुणाल गीत मे निश्चय ही कुछ अच्छे सम्बोधन प्रगीत है। एक उदाहरण लीजिए—

मेरे शुद्ध समीर रे।
लेकर तुझमे श्वास आज भी स्वस्थ कुणाल-शरीर रे।
मेरा देश स्वच्छ सुरभित है,

---

१ भारत-भारती, पच्चीसवा सस्करण, पृ० १७०-१७१
२ हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृ० ३४६-३४७

शुचि रुचि-शाली रग-रहित है।
उसमे निज पर-हित समुचित है,
साक्षी तू ध्रुव धीर रे!
मेरे शुद्ध समीर रे।[१]

पहले दो चरणो मे समीर और कुणाल पर ध्यान अटका रह सकता है—उनमे कवि-हृदय की झाँकी नही है। किन्तु तीसरी पक्ति—'मेरा देश स्वच्छ सुरभित है'—से देश की 'शीतल-मन्द सुगन्ध समीरण' के स्पर्श से उद्भूत कवि-हृदय की राष्ट्रीयता ही परिव्यक्त है। यही सच्चे प्रगीत की विशेषता होती है। ऐसे ही दो-चार प्रगीत और भी कुणाल-गीत मे मिल सकते है। फिर भी अच्छे सम्बोधन-प्रगीत गुप्त जी ने कम ही लिखे है। अधिकाशत किसी को सम्बोधित करके वे उपदेश ही देने लगते है—उपदेष्टा बन बैठते है, कवि नही रहते।

उद्बोधन-प्रगीत

यह प्रगीत का कोई प्रसिद्ध-प्रतिष्ठित रूप नही है। वास्तव मे यह मैथिलीशरण द्वारा प्रयुक्त नवीन रूप-प्रकार है। कल्याण कामना से अभिभूत कवि जब जागरण का सन्देश देता है, पाठक की उद्बुद्धि का प्रयत्न करता है तब उद्बोधन प्रगीत का जन्म होता है। वैतालिक गुप्त जी का एक लम्बा उद्बोधन-प्रगीत है। वसे तो यह भी कवि की राष्ट्रीयता का ही एक अग है। किन्तु राष्ट्रीय प्रगीतो और इन उद्बोधनात्मक प्रगीतो के स्वर मे अन्तर है। राष्ट्रीय मे ओज एव आदर्श रहता है पर उद्बोधनात्मक मे उत्साह और माधुर्य। वैतालिक मे एक उदाहरण लीजिए—

तम की सब कालिमा धुली,
आख तुम्हारी क्यो न खुली?
निरालस्य सब हो जाओ,
इस श्रेयश्री को पाओ।[२]

यहा कवि उदबोधन की बात कर रहा है, जागरण के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि यह राष्ट्रीय प्रगीत होता तो कवि आलस्य पर नेत्र न खुलने पर झुझला उठता। किन्तु इस पुस्तिका मे कवि राष्ट्रकवि के रूप मे नही देश के

---

१ कुणाल-गीत, सस्करण सवत २००२, पृ० ११८
२ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृ० ६

देश के वैतालिक के रूप मे आया है। उपर्युक्त पक्तियो मे उसका वैतालिक रूप ही उद्भासित है। वह देश की, देश के वासियो की स्तुति करके उन्हे उद्बोधित करने का प्रयत्न करता है—

भारत माता के बच्चे
विश्व बन्धु तुम हो सच्चे।
फिर तुमको किसका भय है,
उद्यत हो जय ही जय है।[1]

प्रगीत-तत्वो की दृष्टि से देखा जाए तो वैतालिक काव्य आवेग-दीप्त नही है, फिर भी कवि का सद्भाव उसमे व्याप्त है।

मूल्याकन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मैथिलीशरण जी ने सभी प्रकार के प्रगीतो का प्रणयन किया है। स्वतन्त्र प्रगीतो के साथ-साथ उनके प्रबन्धो मे भी पर्याप्त प्रगीत अनुस्यूत है। मै समझता हूँ कि गुप्त जी ने रहस्यवादी को छोड-कर शेष सभी प्रकार के अच्छे प्रगीत लिखे है। मैथिलीशरण रहस्यवादी नही है, परिणामत रहस्यपरक प्रगीत भी उनके व्यक्तित्व से सस्पृष्ट नही है। उनके सर्वोत्कृष्ट प्रगीत है राष्ट्रीय। राष्ट्रीयता कवि का स्वानुभूत विषय है—राष्ट्रीयता उसमे कूट कूटकर भरी हुई है। हृदय-सप्रेरित होने के कारण राष्ट्रीय प्रगीत आवेश और आक्रोशमय है। हॉ इतना जरूर है कि वह आवेश भी अन्यान्य कवियो के समान निर्बाध और निर्बन्ध न होकर सयत और नियन्त्रित है। प्रस्तुत कवि का आवेग और आवेश उद्दाम नही हो जाता। वैसे सब मिलाकर गुप्तजी के प्रगीत-काव्य मे भावदीप्ति प्राय क्षीण-सी ही है। इस दृष्टि से प्रबन्धान्तगत प्रगीत कही अधिक सफल हुए है।

सर्वाधिक सदोष है इस कवि के प्रगीतो का कलापक्ष। पहली बात तो यह कि वे प्राय रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नही है—पिंगल की लौह शृखला मे निगडित है। दूसरे भाषा भी प्रगीतो के उपयुक्त नही है—उसमे अपेक्षित दीप्ति, मादव और मसृणता नही है। मैथिलीशरण जी की भाषा वर्णनात्मक अधिक है, भावाभिव्यजक कम। और स्पष्ट शब्दो मे उसमे प्रबन्धोचित वर्णन और विवरण की शक्ति है, प्रगीतोपयुक्त अभिव्यजन की नही। सगीतात्मकता का भी प्राय अभाव ही है—शब्दो मे ध्वनन की क्षमता नही।

---

१ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृ० ३०

कुल मिलाकर गुप्त जी के प्रगीत काव्य का कलापक्ष भावपक्ष की ही अपेक्षा दुर्बल है। उसमे कल्पना की रगीनी और शिल्प का औज्ज्वल्य नही है, भापा मे भी अपेक्षित परिमाजन नही।—और अधिकाश प्रगीतो मे व्यक्ति-तत्त्व के होते हुए भी वाछित आवेश का अभाव है। वस्तुत मैथिलीशरण जी मूलत और मुख्यत प्रबन्ध कवि है—प्रगीतकार नही। ये प्रगीत तो उन्होने युगरुचि से प्रभावित होकर लिख डाले या यो कहिए कि वे युग-प्रतिनिधित्व का लोभ सवरण नही कर पाए। फिर भी उन्होने पुष्कल परिमाण मे प्रगीत-रचना की है। प्रबन्ध कवि द्वारा प्रणीत यह प्रगीत-राशि अनेक दोषो की अवस्थिति मे भी उसकी बहुमुखी प्रतिभा और व्यापक शक्ति की परिचायक हे। और कम से कम हमारे कवि के राष्ट्रीय प्रगीतो का तो बहुत प्रचार और प्रभाव रहा है। सभी गण्यमान्य विद्वान नेताओ ने इसे स्वीकार किया है—मुक्तकण्ठ से उन प्रगीतो की सराहना की है।

मुक्तककार मैथिलीशरण गुप्त

मुक्तक का स्वरूप

स्व-अर्थ की परिव्यक्ति मे स्वत समर्थ रचना को मुक्त कहा जाता है। अग्नि-पुराणकार ने भी यही बात कही है—

मुक्तक श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षम सताम

दूसरे शब्दो मे यह कह सकते हे कि स्वतन्त्र रूप से रस-सचार मे सक्षम अथवा पूर्व और पर की सहायता के बिना ही रसोद्रेक मे समर्थ रचना ही मुक्तक है। अभिनवगुप्ताचार्य ने निम्न उद्धरण मे इसी का निरूपण किया है—

पूर्वापर निरपेक्षाति येन
रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्।

इसका यह तात्पर्य नही कि मुक्तक मे सदैव एक ही छन्द होता है। कभी-कभी उसमे एकाधिक—दो, तीन या चार पाच छ द भी हो सकते है। आचार्य विश्वनाथ ने तो दो, तीन, चार, पॉच और पॉच से अधिक छन्दो मे पूर्ण होने वाले मुक्तको के युग्मक, सदानितक आदि पृथक्-पृथक् नामो का भी निर्देश

किया है।[1] अभिप्राय केवल इतना है कि उसका आकार सीमित होना चाहिए।

इस प्रकार मुक्तक की दो मूल विशेषताएं हुई—एक संक्षिप्तता और दूसरी सरसता। संक्षेप के लिए कोई नियत-निश्चित नियम नहीं है—स्थिर-सिद्धान्त नहीं है। लेकिन इतना तो सर्वमान्य ही है कि मुक्तक अन्य काव्य रूपों की अपेक्षा संक्षिप्त होता है यद्यपि साहित्य दर्पणकार दो तीन, चार-पाच छन्दों की ही नहीं, पचाधिक छन्दों मे विस्तीर्ण रचना को भी मुक्तक ही मानते है। फिर भी सामान्यत एक छद मे सीमित रचना को ही मुक्तक कहा जाता है। इस संक्षेप के कारण ही इसमे प्रबन्ध के समान जीवन का सम्पूर्ण एव विशद चित्र न मिलकर एक ही स्थिति अथवा भाव का सघन चित्रण उपलब्ध होता है। यह चित्र प्रणेता को केवल एक छद मे समाहृत करना होता है। अतएव वह बडे कौशल से काम लेता है। आप देखेगे कि मुक्तककार छोटी कहानी के लेखक के समान एक भी व्यर्थ बात अथवा शब्द नही आने देता। उत्कृष्ट मुक्तकों मे आवश्यक का चयन और अनावश्यक का त्याग बडी सफाई से होता है।

दूसरी विशेषता है सौरस्य। प्रबन्ध मे तो नीरस पक्तियाँ भी चल सकती है। वहाँ विभिन्न मार्मिक स्थलों को जोडने वाले नीरस स्थल भी प्रसग की सरसता मे रस पूर्ण बन रहते है या यो कहिए कि प्रबन्ध के प्रवाह मे मग्न पाठक को नीरसता का भान नही हो पाता। किन्तु मुक्तक तो पूर्वापर-निरपेक्ष होता है। अत वह स्वय ही, अपने आप मे ही, रस-पूर्ण अथवा रसोद्रेक मे समर्थ होना चाहिए। प्रत्येक मुक्तक के स्वतन्त्रत रस-व्यजक होने के कारण ही अनेक आचार्यो ने मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशसा की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—'यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक काव्य का एक चुना हुआ गुलदस्ता है।'—उसमे व्यापकता एव औदात्य भले ही न हो, स्वत-सम्पूर्णता और रसोद्रेक निश्चय ही रहता है।—और पडित पद्मसिंह शर्मा तो मुक्तक को गुणखानि ही मानते है। उनके अनुसार मुक्तक के सभी अवयव मधुर होते है— 'मुक्तक-रचना एक मीठी रोटी के समान है, जिसे जहा से चाहे काटे, वही से मीठी निकलगी।' आचार्य आनन्दवर्धन अमरुशतक के मुक्तको पर ऐसे रीझे कि उसके एक एक मुक्तक को सैकडो प्रबन्धो से अधिक मान गे —

---

[1] दे० साहित्यदर्पण—षृ० परिच्छेद

अमरुकवेरेक श्लोक प्रबन्धशतायते

ये सब आचार्य मुक्तक की समाहार शक्ति और सौरस्य पर मुग्ध है।

लेकिन मुक्तक प्रबन्ध से उच्चतर कदापि नही हो सकता। इसका सबसे सबल प्रमाण मेरे पास यह है कि विश्व साहित्य मे महाकवि कहलाने वाले व्यक्ति प्राय प्रबन्धकार है—केवल मुक्तक-रचना के बल पर यह पद प्राप्त करनेवाले कवि दो-एक ही मिलेगे। कुछ लोगो को विश्वास है कि मुक्तक-रचना अपेक्षाकृत अधिक श्रम-साध्य होती है। परन्तु छोटे-छोटे मुक्तक रच लेना एक बात है और सैकडो पृष्ठो मे विस्तृत प्रबन्ध का प्रणयन दूसरी बात है। मुक्तक मे जीवन के खण्ड, खण्ड भी नही, उसके भी अश का अकन होता है। किन्तु प्रबन्ध मे किसी महच्चरित्र की कल्पना साकार हुआ करती है। परिणामत मुक्तक का प्रभाव क्षणिक होता है—इसके विपरीत प्रबन्ध चिरप्रभावक्षम होता है—वह मानव-मन के सस्कार-परिष्कार एव उदात्तीकरण मे समर्थ होता है। इसीलिए पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते है—'मुक्तको को काव्य का चरम लक्ष्य नही माना जा सकता।'[1] मै उनके इस कथन से पूर्णत सहमत हूँ कि प्रबन्ध ही काव्य की व्यापक उद्देश्य-पूर्ति मे सहायक एव सफल है। फिर भी मुक्तक की अपनी उपयोगिता है। थोडे मे ही रसानुभूति करा देना मुक्तक की ही सामर्थ्य है। अतिरिक्त व्यस्त आधुनिक व्यक्ति के लिए मुक्तक ही अधिक उपयोगी है। राजदरबारो मे भी उसी का बोलबाला रहा है—क्योकि उसके माध्यम से सम्पूर्ण सभा को एक क्षण मे ही चमत्कृत किया जा सकता था। वहा प्रबन्ध के श्रवण का वय किसको था? इस प्रकार मुक्तक भी हेय नहीं है—उसका जीवन मे अपना स्थान है।

अब प्रश्न रह जाता है रसहीन पद्यो का। क्या वे पद्य भी जो नीरस है, मुक्तक कहलाएँगे? ये पद्य दो प्रकार के होते है। एक तो वे जिनमे नीति का व्याख्यान होता है। उन्हे तो काव्य की परिधि मे रखना ही भूल है। नहीं तो वद्यक और ज्योतिष व पद्य बद्ध ग्रन्थो को भी काव्य मानना होगा। किन्तु कुछ पद्य ऐसे भी होते है जो रस व्यजना मे तो नही पर चमत्कार उत्पन्न करने मे समर्थ होते है और स्पष्ट शब्दो मे उनमे सरसता तो नही लेकिन वक्रता होती है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। ऐसी रचनाओ को भी यदि निम्नतर कोटि का काव्य मान लिया जाए तो शायद कोई हर्ज नही। वस्तुत इन वक्रतापूर्ण उक्तियो को ही सूक्ति कहा जाता है—और इनमे निश्चित रूप से कुछ काव्य-तत्त्व—कम से कम वक्रता तो अवश्य—विद्यमान रहते है।

---

[1] बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय सस्करण, पृ० ३०

गुप्त जी का मुक्तक काव्य

मैथिलीशरण मूलत और मुख्यत प्रबन्धकार है। किन्तु प्रबन्धो के साथ अन्यान्य प्रकार की रचना भी वे करते रहते है। और फिर मुक्तक तो सभी कवियो ने लिखे हे—शायद अभ्यास के लिए मुक्तक का प्रणयन ही सुगम रहता है। गुप्त जी ने भी मुक्तक लिखे हैं। प्रारम्भ मे तो वे मुक्तककार ही थे—सरस्वती आदि पत्रिकाओ मे बराबर उनकी कविताएँ छपती रहती थी। मैथिलीशरण की अधिकाश, करीब-करीब सभी मुक्तक कविताओ के सग्रह प्रकाशित हो चुके हे जिनके नाम ये हे—पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश सगीत और मगल-घट। ये पुस्तके निश्चय ही मुक्तक-सग्रह हैं। इनमे सकलित कविताओ का एक दूसरी से कोई सम्बन्ध नही। किन्ही दो कविताओ के विषय मे आपको समानता नही मिलेगी, और उनके रचनाकाल मे भी वर्षा का अन्तराल है। प्रत्येक कविता का अपना उद्देश्य भी पृथक है—क्योकि इनमे भिन्न भिन्न समयो पर विभिन्न मनोदशाओ के प्रभाव मे की गई रचनाएँ सकलित हे। मैने अभी कहा कि इन तीनो पुस्तको मे मुक्तक सगृहीत है ('विकट भट' और 'नकली किला' को छोडकर जो कि अब विकट भट और रग मे भग के नाम से, स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित हो चुकी हैं)। लेकिन आपको इनमे 'निन्यानवे का फेर', 'बाजी प्रभु देशपाडे' आदि कुछ आख्यान भी मिलेगे। यद्यपि ये आख्यान काफी सक्षिप्त है, फिर भी निश्चय ही इन्हे मुक्तक नही कहा जा सकता। कुछ रचनाओ मे ऋतु-वर्णन हुआ है—और कुछ ऐसी भी हे जिनमे किसी एक ही विषय का प्रतिपादन कर दिया गया हे। उदाहरणत 'स्वर्ग सहोदर' मे भारत की श्रेष्ठता का व्याख्यान दो-तीन पृष्ठो मे हुआ है। इस प्रकार की रचनाओ को प्रबन्ध या मुक्तक किसी के भी अन्तर्गत नही रखा जा सकता। 'निन्यानवे का फेर' आदि आख्यानो को प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा उल्लिखित काव्य निबन्ध माना जा सकता है। उनका कथन है--"हिन्दी मे कुछ कथात्मक कविताएँ भी लिखी जाने लगी है प्रबन्धकाव्य की भाति इनमे वस्तु वर्णन एव कथा विस्तार नही होता अर्थात् इनमे बन्ध तो होता है पर प्रबन्ध नही।"[1] गुप्त जी के ये सक्षिप्त आख्यान ऐसे ही है। लेकिन 'काव्य-निबन्ध' मे निबन्ध शब्द भ्रमात्मक है वरन् अनुपयुक्त है क्योकि आज निबन्ध का सम्बन्ध विचार से है, इतिवृत्त से नही। इसलिए मेरा विचार है कि यदि इन छोटे-छोटे आख्यानो को काव्य-निबन्ध की बजाए पद्य-कथा कहा जाए तो अधिक सगत होगा।—और मै समझता हूँ कि

---

१ वाङ्गमय विमर्श, प्रथम सस्करण, पृ० ४६

जिन कविताओ मे ऋतु वर्णन हुआ है या जिन लम्बी कविताओ मे एक ही विषय का प्रतिपादन हुआ है उन्हे ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योग) मे निर्दिष्ट पर्याय बन्ध मान लेना चाहिए। ध्वन्यालोक के अनुसार 'वसन्तादि किसी एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य विशेष को पर्यायबन्ध कहते है।'[१] गुप्त जी की इन कविताओ मे भी किसी ऋतु का वर्णन अथवा देश की श्रेष्ठता या नागरी लिपि की उपयोगिता आदि का आलेखन हुआ है। इसीलिए मैं इन्हे पर्यायबन्ध के अन्तर्गत रखता हूँ। इन पद्यबद्ध लघुकथाओ और पर्याय-बन्धो की अवस्थिति मे भी पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश सगीत और मगल घट ये तीनो पुस्तके मुक्तक सग्रह ही है—क्योकि पर्यायबन्ध आदि के अन्तर्गत आने वाली रचनाएँ तो बहुत कम, केवल आठ दस ही है।

उक्त सग्रहो मे मुक्तक कही जाने वाली रचनाएँ भी थोडी बडी है। आज हम केवल एक छन्द की रचना को मुक्तक समझने के आदि हो गए है। इस दृष्टि से गुप्त जी द्वारा लिखित मुक्तक दो-एक ही मिलेगे। उनके अधिकाश मुक्तक चार पाँच अथवा अधिक छन्दो मे प्रसारित है। अत वे सामान्य धारणा से बडे है। यह बात नही कि उन्होने किसी छोटे छन्द का प्रयोग किया हो अथवा एक-वृत्ताश्रित मुक्तको मे बहुधा प्रयुक्त छन्दो का प्रयोग न किया हो। पर वे भी इकटठे चार-चार, पाँच-पाँच आते है, कम नही। गुप्त जी का बहु-उद्धृत छप्पय—

जिसकी रज मे लोट-लोट कर बड हुए है
घुटनो के बल सरक सरक कर खडे हुए हैं[२]
आदि।

—भी एक लम्बी कविता का अश है, स्वत पूर्ण नही। अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण के मुक्तको मे तत्सम्बन्धी प्रचलित दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया आपको नही मिलेगी—यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से वे मुक्तक ही है, उनका परि-गणन निबन्ध काव्य के अन्तर्गत ही होता है।

भारत-भारती और हिन्दू को भी कुछ लोग मुक्तक मानते है। उदाहरणत श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' इन दोनो पुस्तको को स्फुट काव्य कहते है।[३]

---

१ हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर प्रसाद, सम्पादक डा० नगेन्द्र, प्रथम सस्करण, पृ० २५०

२ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० ३०

३ दे० गुप्त जी की काव्यधारा, सस्करण सन् १९४९, पृ० ९८

पर यह ठीक नही है क्योकि इनके प्रकृत सौन्दय की क्षति के बिना पद्यो के क्रम मे परिवतन नही किया जा सकता। यही बात कवितावली के विषय मे कही जा सकती है—फिर भी प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आग्रह है कि उसे मुक्तक ही माना जाए।[१] किन्तु मै इस विचार से सहमत नही हूँ—जहा क्रम परिवतन की स्वतन्त्रता नही है वहा मै मुक्तक की स्थिति मानने को तयार नही हूँ। अत मेरे विचार मे भारत भारती और हिन्दू भी मुक्तक नही है। क्योकि इनके भी पद्यो को, पद्यो ही क्या उपशीपको को भी, स्थानान्तरित नही कर सकते। कुछ लोग इन्हे शिक्षात्मक काव्य कहकर सन्तुष्ट हो जाते है। लेकिन यह तो काव्य-रूप नही हुआ। और फिर शिक्षात्मक तो मूलत सभी काव्य होते है। शिक्षारहित काव्य शायद काव्य ही नही रह जाएगा। एक अग्रेज विद्वान ने ठीक ही कहा है—"In a sense most good poetry teaches (is, in Arnold's words, a 'criticism of life')"[२] अभिप्राय यह कि भारत भारती और हिन्दू शिक्षात्मक काव्य तो है पर मुक्तक नही। किन्तु इन्हे प्रबन्ध भी नहीं कह सकते—क्योकि यहा कथा-सूत्र का एकदम अभाव है। वास्तव मे इनमे एकता है विचार की—हिन्दू और भारत भारती के तल मे आरम्भ से अन्त तक विचार का सूत्र एक तार अनुस्यूत है। बस, इन दोनो काव्यो मे यही सम्बद्धता है, यही बन्ध है। अग्रेजी मे भी चतुर्दशपदी-बन्ध (Sonnet Sequence) मिलते है जिनमे कि विचार की, या फिर भाव की एकता मिलती है। किन्तु हिन्दी मे इस प्रकार का कोई काव्य-रूप प्रचलित एव प्रसिद्ध नही है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि भारत-भारती और हिन्दू का ऐक्य सानट सीक्वस से भी प्रगाढ है, उससे भी अधिक व्यापक है। यही चीज यदि गद्य मे लिखी जाती तो निबन्ध कहलाती—यहा 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग मै साहित्यिक निबन्ध के लिए कर रहा हूँ जिसमे कि छन्दमय माध्यम के अतिरिक्त काव्य के प्राय सभी तत्त्व विद्यमान रहते है। अत मेरा निवेदन है कि हिन्दू और भारत-भारती को काव्य-निबन्ध कहना चाहिए। अस्तु!

अब इन पद्यात्मक काव्य-निबन्धो और मुक्तको पर काव्य की दृष्टि से भी थोडा विचार कर लेना चाहिए। मैथिलीशरण अधिकाशत राष्ट्रीय भावनाओ से परिपूर्ण मुक्तक लिखते है। काव्य-निबन्धो—भारत-भारती और हिन्दू मे

---

[१] दे० बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय सस्करण, पृ० ७५-७६

[२] An Introduction to Poetry by Raymond Macdonald Alden, Edition September, 19?7, Page 37

भी यही भावना काम कर रही है। इन सब मे भारत के प्राचीन गौरव, वर्तमान अधोगति और स्वातन्त्र्य की प्रेरणा आदि का आलेखन मिलता है। इस प्रकार अधिकतर विषाद और उत्साह की व्यजना हुई है। अत्याचारियो के प्रति रोष और मुक्तको मे तो भक्तिपरक शृगार कही-कही मिल जाता है। अभिप्राय यह कि गुप्त जी इनमे करुण, वीर, रौद्र और शृगार को भी स्थान देते है। भारत-भारती मे विशेषत उसके वर्तमान खण्ड मे शोक की व्यजना हुई है। हिन्दू मे अत्याचारियो—प्रमुखत अग्रेजो के प्रति क्रोध मे रौद्र के दर्शन किए जा सकते है। स्वदेश-सगीत से वीर का भी एक सुख-सरल उदाहरण लीजिए—

यह न समझो तुम कि हम डर जायँगे
प्राप्य अपना छोडकर घर जायँगे
चित्त मे यह ठान हमने है लिया—
मोद पाकर मान पर मर जायँगे।[1]

इन पक्तियो मे शीश-दान के नाम का उत्साह का गान है। अहिंसात्मक वीरत्व का व्याख्यान है। भक्तिपरक शृगार का चित्रण भी निम्नाकित आशीर्वादात्मक छन्द मे देखिए—

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियो के सग सुन्दर लता सी उसे,
मुग्ध गिरधारी हुए चचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीडा का,
व्रीडावश बन्द किए लोचन विशाल से।
ऐसे घनश्याम का पवित्र स्वेद नीर जाल,
त्राण करे सर्वदा कराल काल ज्वाल से॥[2]

यहा पर राधा और कृष्ण आलम्बन तथा आश्रय है। राधा की मराल-सी चाल तथा शारीरिक सौन्दर्य उद्दीपन है। कृष्ण का कम्प एव स्वेद अनुभाव है। चाचल्य आदि सचारी है। इस प्रकार शास्त्राभ्यासियो के लिए पूर्ण रस-सामग्री उपस्थित है।

वीभत्स, अद्भुत और हास्य का मैथिलीशरण के मुक्तको मे अभाव ही मिलेगा।

---

१ स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृ० ११५
२ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० २८

या तो एकाध स्थान पर वीभत्स का स्पर्श भी मिल जाता है—किन्तु वह रौद्र अथवा करुण का सहायक ही है—स्वतन्त्र नही।

कुल मिलाकर इन सग्रहो मे कवित्वपूर्ण स्थल बहुत कम है। इन सब मे हिन्दू तो विशेष रूप स नीरस है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'गुप्त जी की काव्यधारा' मे हिन्दू मे सकलित 'विधवा' कविता की तुलना मोलाना हाली की इसी विषय की कविता स काफी लम्बे उद्धरण देकर की है।[1] मै उन्हे यहा उद्धृत करने की आवश्यकता नही समझता। किन्तु हिन्दू मे 'अकड कर बैठी हुई नीरसता' से इन्कार नही किया जा सकता। अन्य सग्रहो मे भी रस की अविरल धारा नही है। कई खण्ड तो सर्वथा नीरस और अरोचक हो गए है। वास्तव मे आदर्शवादिता और उपदेशकवृत्ति, गुप्त जी का पीछा नही छोडती। हा उनकी पद्य कथाएँ फिर भी काफी रोचक है। यद्यपि रस का प्रवाह तो वहा भी क्षीण है, किन्तु वहा 'केवल कथाश का वर्णन (मुख्य) होने से रस-बन्ध का विशेष आग्रह नही होता।'

इस विषय मे इतना और वक्तव्य है कि मैथिलीशरण मे भावुकता की कमी नही है—किन्तु उनमे कोरी भावुकता भी नही है। वास्तव मे उनकी काव्य-साधना एक कर्मयोग है जिसमे भावना का मणि-काचन सयोग रहता है। इसीलिए गुप्त जी जनसाधारण के—जन जन के—कवि बन सके है। यदि उनमे केवल भावुकता का आतिशय्य होता, तो वे चाहे और किसी भी कोटि के कवि होते, जनसाधारण के नही हो सकते थे। और यदि केवल कर्मयोगी होते तो नेता भले ही बन जाते—कवि नही।

नाटककार मैथिलीशरण गुप्त

साहित्य की वह विधा जिसका आस्वादन मुख्यतया नेत्रो द्वारा किया जाता है दृश्यकाव्य कहलाती है। यद्यपि आज नाट्य साहित्य केवल पाठ्य भी होने लगा है, फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि दृश्य और श्रव्य की विभा-

---

१ सस्करण सन १९४६, पृ० १०८

२ हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर डा० नगेन्द्र, प्रथम सस्करण, पृ० २५१

जक रेखा अभिनय ही है। (वास्तव मे रगमच आज तक कभी हिन्दी वालो के हाथ मे नही रहा इसीलिए अभिनेय नाटक भी प्राय अनभिनीत ही रहे—और पाठ्य नाटको की भी रचना होने लगी।) आचार्यो ने वस्तु, नता और रस के आधार पर दृश्यकाव्य के दो भेद किए है—रूपक और उपरूपक। रूपक एव उपरूपक के भी क्रमश दस और अठारह भेद शास्त्रो मे किए गए हे। किन्तु आज ये भेदोपभेद शास्त्र की शोभा ही बढाते है—लेखक और पाठक इनकी विशेष चिन्ता नही करते। नाटक भी रूपक के दस भेदो मे से एक है—किन्तु अब यह जातिवाचक शब्द बन बैठा है। नाटक शब्द का इतना अर्थ-विस्तार हुआ कि अब वह दृश्यकाव्य का पर्यायवाची बन सकता है। आगे मै भी नाटक शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ मे ही करूगा।

नाटक के तत्त्व

साहित्य की प्रत्येक विधा के तत्त्व अपनी विशिष्टताओ के अनुसार हुआ करते है। नाटक की भी कुछ विशेषताएँ है पहली बात तो यह है, कि इसमे वस्तु की अपेक्षा चरित-चित्रण पर अधिक बल रहता है। दूसरे इसका कथानक कथित न होकर अभिघटित हाता है—पात्रो के कथोपकथन और क्रियाकलाप द्वारा मच पर उसका प्रदशन होता है। तीसरे नाटक सोद्देश्य होता है—उद्देश्य चाहे पाठको और प्रेक्षको म रस सृष्टि हो और चाहे किसी समस्या की उपस्थिति एव समाधान। इन विशषताओ के आधार पर ही नाटक के निम्नलिखित तत्व होगे

१ कथावस्तु
२ चरित्र-चित्रण
३ उद्देश्य
३ कथोपकथन
५ अभिनय

भारतीय आचार्यो ने स्पष्ट शब्दो मे कही भी नाटकीय तत्वो का परिगणन नही किया है। किन्तु वस्तु, रस एव नेता को उसके विभिन्न रूपो का भेदक अवश्य माना हे।[1] अभिनय का उल्लेख शायद इमलिए नही किया गया कि वह तो सभी नाट्य रूपो म एक समान विद्यमान रहता है। अत प्रकारान्तर से सस्कृत आचाय के अनुसार नाटक क निम्नलिखित चार तत्व हुए—

---

१ वस्तुनेतारसस्तेषा भेदक —दशरूप

१ वस्तु
२ नेता
३ रस
४ अभिनय

इनमे से नेता का चरित्र-चित्रण मे और रस का उद्देश्य मे अन्तर्भाव हो सकता है। क्योकि मैं समझता हूँ, नेता यहा से अभिप्रेत हे सभी पात्र अथवा चरित्र। इसीलिए प्राचीन आचार्य का नेता और आधुनिक आलोचक का चरित्र-चित्रण पर्यायवाची ही है। हाँ, जहा तक नायक की बात है उसका तो प्राचीन-अर्वाचीन सभी लेखक और आलोचक विशेष ध्यान रखते ही है। रस और उद्देश्य भी वास्तव मे एक ही बात है। अनेक नाटको का तो उद्देश्य ही रस-सचार होता हे। परन्तु जिनमे किसी समस्या का समाधान होता है उनमे भी विकीर्ण वृत्तियो के सश्लेषण और शमन द्वारा रस-दशा की ही सृष्टि होती है। तात्पर्य कहने का यह है कि रस और उद्देश्य का अभिप्राय भी एक ही है। शेष रहा कथोपकथन। पौरस्त्य आचार्य ने तो उसे वाचिक अभिनय के अन्तर्गत मानकर छोड दिया है—किन्तु वह नाटक का अनिवार्य अग है। क्योंकि नाटक म कथोपकथन के अभाव मे एक पग भी नही चला जा सकता—वहाँ लेखक मच-निर्देशो के अतिरिक्त अपनी ओर से कुछ नही कह सकता। ऐसी स्थिति मे कथोपकथन को भी स्वतन्त्र रूप मे तत्व मान लेना ही उचित हे।

अब प्रत्येक तत्व का सक्षिप्त विवेचन किया जाएगा

वस्तु

किसी भी कृति की कथा को वस्तु के नाम से अभिहित किया जाता हे। यह नाटक का आधारभूत अग हे। यद्यपि आज इस तत्व को अधिक महत्व नही दिया जाता—चरित्र-चित्रण को प्रधान माना जाने लगा हे फिर भी नाटक कथाकाव्य हे। उसमे वस्तु का त्याग असम्भव हे। नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की होती हे—आधिकारिक और प्रासगिक। नाटक के फल को अधिकार और उसके भोक्ता को अधिकारी कहते है। अत उसमे अर्थात मुख्य पात्र से सम्बद्ध कथा को, और स्पष्ट शब्दो मे मुख्य कथा को, अधिकारिक कहते हे। प्रसगवश आई हुई बातो को—नायक नायिका-इतर पात्रो की कथा को प्रासगिक कहा जाता हे। इन दोनो प्रकार की कथाओ के समुचित सगुम्फन पर ही नाटककार की सफलता निर्भर हे।

एक बात और—वह यह कि नाटक की कथा का प्रवाह सुख सरल न

होकर वक्रतापूर्ण होना चाहिए। उसमे मच आकर्षण की क्षमता होनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण

घटना के कर्त्ता और भोक्ता चरित्र कहलाते है। जब नाटक मे कथा होगी तो उसके वाहक चरित्र भी होगे ही। चरित्र विकासशील होने चाहिए, और सभी मे व्यक्तिगत वैशिष्टय। पुराना आचार्य चरित्र की जगह नेता शब्द का प्रयोग करता था। और स्पष्ट शब्दो मे वह नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रो के कुशल चित्रण की ओर सजग नही था। नायक भी साँचे मे ढले हुए हुआ करते थे—उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ इतनी स्पष्ट होती थी कि वे एक रूम आदर्श होते थे। उनमे विकास की गुँजाइश नही होती थी। किन्तु अब दृष्टि-कोण बदल गया है। आज कोई भी पात्र आदर्श अथवा स्थिर नही है—सभी मानव है, गतिशील है। इसीलिए आधुनिक नाटको मे चरित्र चित्रण की रोचकता होती है—वस्तु से भी अधिक।

उद्देश्य

सभी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियो का कुछ न कुछ उद्देश्य हुआ करता है। नाटक भी मनोरजन के साथ साथ कुछ सन्देश दान करता है। केवल मनोरजन भी कुछ विशिष्ट प्रकारो—जैसे प्रहसन आदि—का लक्ष्य हुआ करता था। किन्तु आज यह हास्य भी परिहास के रूप मे—व्यग्य के रूप मे होता है। उसके पीछे भी किसी सामाजिक समस्या के निराकरण का प्रयत्न रहता है। अभिप्राय यह कि आज के सभी नाटक सोद्देश्य होते है।

कथोपकथन

कथोपकथन के माध्यम से नाटक आगे बढता है। यद्यपि गोविन्दवल्लभ-पन्त के वरमाला आदि कुछ नाटक ऐसे भी है जिनमे मूक-अभिनय को भी स्थान मिला है, फिर भी कथोपकथन नाटक का प्रधान अग है—अधिकाश नाटको के लिए यह अनिवार्य है। विशेषता सवादो की यह है कि वे छोटे-छोटे और स्वाभाविक हो। कथोपकथन मे बातचीत का रस होना चाहिए।

अभिनय

अभिनय ही नाटक को साहित्य की अन्य विधाओ से पृथक् करनेवाला तत्व है। यदि केवल शैली की दृष्टि से देखा जाए तो इसे गद्य अथवा चम्पूकाव्य के

अन्तगत रख सकते है—किन्तु अभिनय की विशेषता के कारण ही इसे भिन्न माना जाता है । आज कुछ नाटक केवल पाठ्य भी लिखे जा रहे है। लेकिन यदि वे अभिनेय भी होते तो नाटक की दृष्टि से उन्हे अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त होती ।

नाटक के भेद

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि नाटक जातिवाचक शब्द बन गया है ।—और आचार्यो ने वस्तु, रस और नेता के आधार पर उसके २८ भेद किए है (१० रूपक के तथा १८ उपरूपक के) । किन्तु अब इस शास्त्रोक्त विभाजन का विशेष मूल्य नही रहा । अब विषय, विचार एव रगमच की दृष्टि से नाटक के भेद किए जाते है । विषय की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक अथवा नैतिक, राजनीतिक और समस्यात्मक आदि भेद किए जा सकते हैं । विचार की दृष्टि से आदशवादी और यथार्थवादी, रगमच की दृष्टि से अभिनेय और पाठ्य तथा परिमाण के आधार पर नाटक और एकाकी आदि भेद किए जाते है । इस तरह आज का प्रकार-विभाजन शास्त्रीय पद्धति पर न होकर नवीन दृष्टियो से होता है ।

मैथिलीशरण जी के नाटक

मैथिलीशरण जी मूलत और मुख्यत कवि है—नाटककार नही । आज हम उनके कवि-रूप से ही परिचित है । किन्तु उन्होने तीन नाटक भी लिखे है—यह उनके साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल की बात है । प्रौढि की उपलब्धि से पूर्व सवत १९७२ से १९८२ तक के अन्तराल मे गुप्त जी ने तिलोत्तमा, चन्द्रहास और अनघ का प्रणयन किया है । मूलत कवि होने पर भी गुप्त जी ने तीन-चार कारणो से नाटक-रचना की है । पहला कारण तो यह है कि उस समय तक उनको अपनी सीमा और शक्ति का सम्यक् ज्ञान नही था । जब तक रचियता को यह ज्ञान नही होता तब तक उसका उपयुक्त क्षेत्र निश्चित नही हो सकता और वह विभिन्न क्षेत्रो मे अपनी प्रतिभा का प्रयोग करता रहता है । मैथिलीशरण जी ने ही नही अन्य अनेक साहित्यकारो ने भी ऐसे ही प्रयोग किए है । अयोध्या सिह उपाध्याय के उपन्यास, मुन्शी प्रेमचन्द का नाटक तथा आचाय शुक्ल की कविताएँ मेरे अभिमत की पुष्टि करती है ।

दूसरा कारण है युग की माग । हिन्दी मे आधुनिक काल से पहले नाटक

नही थे। भारतेन्दु-मण्डल ने कुछ अशो मे इस क्षति की पूर्ति की। फिर द्विवेदी जी ने भी नाटक-रचना के लिए लेखको को प्रोत्साहित किया। उसी प्रोत्साहन एव प्रेरणा के फलस्वरूप प्रस्तुत कवि ने भी नाटक लिखे। तीसरी बात यह थी कि सदुद्देश्य के वहन के लिए नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय एव सशक्त माध्यम था। नाटक का प्रभाव कविता आदि की अपेक्षा अधिक व्यापक है—क्योंकि जनसाधारण भी उससे लाभान्वित हो सकते है। अत सुधार के इच्छुक कवि ने कविता के साथ-साथ नाटक को भी अपनाया।

मैथिलीशरणकृत तीन नाटको मे से दो—तिलोत्तमा और चन्द्रहास पौराणिक है—और अनघ आधुनिक लोकवृत्त पर आश्रित गीति नाट्य है। इन्ही के आधार पर गुप्त जी की नाट्यकला के विवेचन का प्रयत्न करेगे

वस्तु

महाकाव्य विषयक धारणाओ के विवेचन मे कहा जा चुका है कि उनका झुकाव इतिहास-सिद्ध कथाओ की ओर है—काल्पनिक की ओर नही। उनके इतिहास की परिधि अवश्य व्यापक है। वह आज के प्रमाण शुद्ध इतिहास तक ही नही रामायण-महाभारत वरन् वेद-पुराण तक विस्तीर्ण है। नाटक मे भी उनकी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के कथानक तो स्पष्टत पौराणिक हैं ही—अनघ की वस्तु भी सामयिक वृत्तो पर आधृत है। अतएव उसे भी सर्वथा कल्पित अथवा उत्पादित नही माना जा सकता। और स्पष्ट शब्दो मे उसमे गाँधी युग की बात है जो अभी इतिहास नही बन पाया है। इस विषय मे यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी जहाँ नाटको के लिए कल्पित वस्तु का चयन नही करते वहाँ महाकाव्यो के समान अतिप्रसिद्ध कथानक भी नही अपनाते। अनघ मे प्रख्यात चरित को स्वीकार भी किया है तो लघुरूप मे—चरित्र-पटी को भी सीमित अथवा सकुचित कर दिया गया है। इसीलिए प्रचुर मौलिक उद्भावनाओ के अभाव मे भी उनमे काफी रोचकता है। दूसरे शब्दो मे ऐतिहासिक पौराणिक अथवा अनुत्पादित होकर भी ये कथाएँ अपनी अप्रसिद्धि एव सक्षेपण आदि के कारण रुचिर बन गई है।

इन नाटको के वस्तु विन्यास मे कोई विशेषता नही मिलती। कथावस्तु एकदम सपाट है—ऋजु-सरल है। उनके नाटको के कथानक मे नाटकीय व्यापार एव गति का अभाव है, प्रौढ कल्पना का समावेश वहाँ आपको नही मिल सकता। वस्तु को वाछित विस्तार एव वैविध्य प्रदान करने के लिए प्रासगिक कथाएं भी आवश्यक हुआ करती है। पर मैथिलीशरण जी के नाटको मे उनकी

न्यूनता खटकती है। प्रासगिक का सर्वथा अभाव तो नही है—च द्रहास मे त्रिषया और भाभी का परिहास तथा अनघ मे सुरभि और मालिन की वार्ता आदि प्रासगिक के अन्तगत ही आएँगी, फिर भी इतना स्पष्ट है कि प्रासगिक वत्त अपेक्षित मात्रा मे नही हे। इस प्रकार गुप्त जी के कथानक जटिलताओ से मुक्त हे। अतएव उनकी सुव्यवस्था के लिए विशेष कौशल की अपेक्षा नही हुई।

चरित्र-चित्रण

गुप्त जी अधिकाशत आदर्श चरित्रो को ग्रहण करते हे—उनमे विकास की गुजाइश नही होती। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के चरित्र स्थिर एव गति-हीन ह। चन्द्रहास के पात्र तो कतिपय वृत्तियो के प्रतीक ही है। अत उनमे एकरसता है। तिलोत्तमा के पात्र भी अति-मानवीय—सुर अथवा असुर होने के कारण विकासशील नही ह। क्योकि वे अपने गुण-अवगुणो के लिए पहले से ही प्रसिद्ध है। अपेक्षाकृत अनघ का चरित्र निरूपण अच्छा है—उसके रचना-काल तक लेखक की कला काफी निखर चुकी थी। अनघ मे स्नेहमयी माता के कोमल स्निग्ध चित्रण मे रचयिता ने कौशल का परिचय दिया है।—और अनघ मघ का उज्जवल चरित्र तो नाटक का प्राण है ही। कि तु उसके चरित्रो मे भी अपेक्षित गीतिमयता नही है। यद्यपि माँ, रानी और सुरभि के कोमल करुण व्यक्तित्व के ससर्श से कुछ माधुय अवश्य आया है पर अधिकाश पात्र परुष-कठोर है जो गीतिनाट्य की आत्मा के प्रतिकूल है। अनघ मे व्यवहार-निपुण मुखिया का भी कुशल अकन हुआ है, यद्यपि प्रेमचन्द की कोटि का वह नही बन पाया।

चरित्र चित्रण के विपय मे दूसरी बात यह है कि मैथिलीशरण विभिन्न चरित्रो का सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट नही कर पाते—उनके नाटको मे प्रमुख और गौण पात्रो के निश्चय मे सशय बना रहता है। उदाहरण के लिए तिलोत्तमा नाटक मे तिलोत्तमा को फल-प्राप्ति होती है। उसी के नाम पर नाटक का नाम रखा गया है। किन्तु नाटक मे उसका प्रवेश अन्तिम अक से पूर्व नही होता। इसी प्रकार सुरभि अनघ की नायिका हे पर मा और मगध की रानी के समक्ष उसका चरित्र उभर नही पाता। अत क्रमागत नियम के अनुसार नायिका होने पर भी उसका नायिका रूप सदिग्ध ही है। वस्तुत नन्ददुलारे जी ठीक कहते हैं, "नाटक के पूरे प्रवाह मे प्रमुख पात्रो का सस्थान होना चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो किसी पात्र की सापेक्षिक प्रमुखता मे सन्देह

हो जाता है।"[1] तिलोत्तमा और अनघ के चरित्र-चित्रण मे नाट्य विधान की दृष्टि से यह त्रुटि ही मानी जाएगी। चन्द्रहास इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। यद्यपि वहाँ भी विषया अधिक देर नाटक मे नही रहती पर उससे अधिक क्रियाशील अन्य कोई नारी-पात्र भी वहाँ नही है। इसीलिए उसका नायिका होना निर्विवाद एव असदिग्ध है।

कथोपकथन

कथोपकथन का सबसे पहला गुण स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता दो प्रकार की होती है एक तो परिस्थिति की अनुकूलता, दूसरी साधारण बोल-चाल का रग। किन्तु मैथिलीशरण जी के कथोपकथन मे ये गुण बहुत कम मिलते है। सभी पात्र एक ही प्रकार की भाषा बोलते है—उनकी भाषा मे स्थिति और स्वभावगत अन्तर नही है। और बात-चीत का रस भी उनमे नही है। बोल चाल मे प्रयुक्त भाषा मे यह अभिप्रेत नही कि वह बिल्कुल बोलचाल की ही हो - यदि ऐसा होगा तो उसमे अनेक त्रुटिया मिलेगी। वरन् अभिप्राय इसका यह है कि उसमे शिष्ट समाज की बात-चीत का ढग हो। प्रस्तुत लेखक अपने कथोपकथन को दीप्ति प्रदान नही कर पाता। गीति-नाट्य अनघ तक के सवादो मे अपेक्षित कान्ति एव धार नही है। इसके अतिरिक्त उसके नाटको के कथोपकथन पद्य के उन्मुक्त प्रयोग से और भी बोझिल और अव्यवहारिक हो गए है। वैसे गुप्त जी के सवाद सक्षिप्त और सरल होते है। वे भाषण के विस्तार, व्यग्य के दश और दर्शन के गारिष्ठ्य से एक दम मुक्त है। पर वे (गुप्त जी) कही भी प्रतिभा खडी नही कर पाते। उनके कथोपकथन मे चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य की कमी रहती है। दो-एक स्थलो पर सवाद सजीव और रस दीप्त भी है—जैसे चन्द्रहास मे विषया और विलासिनी का व्यग्य विनोद तथा अनघ मे मालिन और सुरभि की विनोद वार्ता आदि। विषया और विलासिनी के मधुर स्निग्ध आलाप से एक उदाहरण लीजिए

विषया—किसे क्या दे दिया ?

विलासिनी—किसे दे दिया, सो तो तुम्ही जानो। पर क्या दे दिया यह मै बता सकती हूँ।

विषया—बताओ।

---

[1] आधुनिक साहित्य प्रथम सस्करण, पृ० ०८६

विलासिनी—देखती हूँ मन ही दे दिया है।

विषया—जाओ, मै तुमसे न बोलूगी।

विलासिनी—अब मुझसे क्यो बोलोगी, बोलने वाले जो मिल गए है। पर जब तुम मुझसे नही बोलती तब मै ही तुमसे क्यो बोलू ?[१]

पर ऐसे चमत्कृत स्थल गुप्त जी के नाटको मे गिनती के ही है—प्रयास करने पर भी दो-चार ही मिल सकेगे।

उद्देश्य

मैथिलीशरण जी सोद्देश्य नाटक लिखते है, उन्होने सदुद्देश्य से प्रेरित होकर ही नाटक लिखे थे। वस्तुत उन्होने नाटक को अपनाया ही इसलिए था कि उसके माध्यम से सुगमता-पूर्वक कोई सन्देश प्रसारित किया जा सकता है।—और हम देखते है उनके सभी नाटक उसके वहन मे सक्षम है। किन्तु वह उद्देश्य है अत्यन्त स्पष्ट एव मुखर। चन्द्रहास का प्रतिपाद्य है नियति की प्रबलता—वहाँ स्वय नियति ही पात्र-रूप मे आकर बार-बार इस तथ्य की घोषणा करती है। तिलोत्तमा के प्रणयन का उद्देश्य भी सुन्द-उपसुन्द के निम्न पद्य मे कथित है—

सुन्द और उपसुन्द का है सबसे अनुरोध।
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध।।[२]

इसी प्रकार अनघ का सन्देश भी मघ के शब्दो मे उल्लिखित है। तात्पर्य कहने का यह कि मैथिलीशरण जी के नाटको मे उद्देश्य व्यग्य न होकर व्यक्त रहता है।

भारतीय दृष्टि से नाटक का साध्य रस है—सहृदय प्रेक्षको मे रस-सचार ही उसका उद्देश्य है। वस्तु, पात्र आदि तो साधन मात्र है। गुप्त जी भी अपने नाटको मे रस-योजना का सर्वाधिक ध्यान रखते है। चरित्र-चित्रण एव परि-स्थिति निरूपण की ओर वे इतने सजग नही है जितने कि रस सृष्टि की ओर। उनके तिलोत्तमा नाटक मे वीर, चन्द्रहास तथा अनघ मे करुणरस प्रधान है, और उनमे यथास्थान नाटकीय प्रभावोत्पादन के लिए अद्भुत का भी नियोजन

१ चद्रहास, षष्ठवृत्ति, पृ० १२०
२ तिलोत्तमा, चतुर्थ सस्करण पृ० १०५

हुआ है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त जी के करुण-प्रधान नाटक भी सुखान्त ही रहते है। यह भारतीयता का आग्रह है।

अभिनय

नाटक का अभिनय से विशेष सम्बन्ध है, किन्तु साहित्यिक नाटक अभिनय से अभिन्न नही हो सकता। वह अन्यान्य विधाओ के समान पाठ्य भी होना चाहिए। नही तो वह साहित्यिक कृति नही वरन् तमाशे की चीज बन जाएगा। मैथिलीशरण जी के नाटक अभिनेय है—वे अभिनय के लिए ही लिखे गए थे केवल पढने के लिए नही। अभिनय मे आकषरण के लिए नाटक के दृश्यो मे नवीनता, वैविध्य तथा आद्भुत्य की अपेक्षा हुआ करती है। गुप्तजी अपने नाटको मे उनका सन्निवेश तो करते है पर उनके बाहुल्य से बचते है। मै समझता हूँ कि प्रभावान्विति एव रग-व्यवस्था के लिए यह श्रेयस्कर ही है।

कुछ बातें अनभिनेय भी मिल सकती है, जैसे चन्द्रहास मे नियति का प्रवेश —और आलोच्य लेखक ऐश्वय एव आलोकमय, आकर्षक तथा विभूतिमय चित्र प्रस्तुत नही कर पाता जो बरबस प्रेक्षक को आकृष्ट कर ले। रग-सज्जा एव चित्र-विचित्र वेश-भूषा का सूक्ष्म निर्देश भी वह नही करता। भाषा की एकरसता तथा सवादो मे जीवन्त शक्ति का अभाव तो प्रेक्षक के धैर्य की परीक्षा करता ही है।

मूल्याकन

मैथिलीशरण गुप्त अपने नाटको मे शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते है। गीति-नाट्य अनघ तो हाल ही मे प्रचलित एक नवीन नाट्य-रूप है। किन्तु चन्द्रहास और तिलोत्तमा मे शास्त्र का परिपालन हुआ है। वस्तु प्रख्यात अथवा मिश्र है—कल्पित नही। अनघ का कथानक भी साधार है। यदि ऐसा न भी माना जाए तो भी यह परम्परा-विरुद्ध बात नही है। सस्कृत मे भी मालती-माधव जैसे उत्पादित नाटक मिलते है। नाटक की वस्तु को वैविध्य एव विस्तार तथा आधिकारिक को सहायता देने वाली प्रासगिक कथाओ का उचित प्रमाण मे अभाव अवश्य खटकता है। वैसे वस्तु योजना काफी अच्छी है। किन्तु मैथिलीशरण जी कवि है—प्रथित प्रबन्धकार है। इसलिए वस्तु-विन्यास तो उनकी अपनी विशेपता है—वह उनके नाटककार होने का प्रमाण नही हो सकता। उनकी नाट्य-विधायिनी कल्पना की परख के लिए चरित्र-

चित्रण को देखना चाहिए । इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि उनके चरित्रो मे नाटकीयता है या नही । गुप्त जी के नाटकगत पात्रो पर दृष्टिपात करते है तो वे इस गुण से एक दम शून्य है—उनके चरित्रो मे नाटकोचित उत्थानपतन का अभाव है। एकाध पात्र मे कुछ परिवतन अवश्य होता है किन्तु तब नाटक ही समाप्त हो जाता है। चरित्रो के सापेक्षिक प्रामुख्य की अस्पष्टता भी विचारणीय है। तिलोत्तमा मे यह गडबड बहुत है। तिलोत्तमा केवल अन्तिम अक मे प्रविष्ट होती है, फिर भी उसके नाम पर नाटक का नाम रखा जाता है। यह त्रुटि है। यो तो जयशकर प्रसाद ने भी नायिका कार्नेलिया को अल्पकाल के लिए नाटक मे उपस्थित किया है—किन्तु उस नाटक का नाम तो 'चद्रगुप्त' है।

सर्वाधिक सदोप है प्रस्तुत लेखक के सवाद। वे निर्जीव एव चमत्कार रहित है। मच पर उनके प्रयोग के समय जिन्दादिली के स्थान पर मुर्दनी का वातावरण छाया रहेगा। गुप्त जी स्वय एक प्रत्युत्पन्नमति एव बात चीत मे दक्ष व्यक्ति है। उनके आस पास सजीवता बिखरी रहती है—क्षण-क्षण पर हँसी के फव्वारे छूटते रहते है। जिनको कभी घडी आध-घडी उनके पास बैठने का सुअवसर मिला है वे मेरे कथन से सहमत होगे।—और जिन्हे कभी यह सौभाग्य प्राप्त नही हुआ व पचवटी और साकेत की विदग्धतापूर्ण हाजिर जवाबी मे मेरे वक्तव्य का प्रमाण ढूढ सकते है। ऐसे जीवन्त प्राणी के नाटको के सवादो मे भी रुचिरता का अभाव एक आश्चय की बात है। कि तु मैने पहले ही कहा था कि ये नाटक आरम्भकालीन है—प्रौढि के पूव की रचनाए है। इसीलिए इनमे वैदग्ध्य की कमी है। उद्देश्य भी प्रत्यक्ष है। कि तु कला का सौन्दय अवगुठन मे है निरावरणता मे नही। उसका प्रतिपाद्य परोक्ष ही रहना चाहिए—प्रत्यक्ष नही। इस दोष का कारण भी लेखक की अपरिपक्वता है। दूसरी बात यह भी है कि ये नाटक सदुद्देश्य से प्रेरित अभिनय के लिए लिखे गए थे।—और भारतवष मे दर्शकगण अधिकाशत अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित होते हैं जिनको सुझाने से नही समझाने से काम चलता है। इसीलिए सन्देश कथित है व्यग्य नही।

निष्कर्ष

सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर निष्कष यह कि अपरिपक्व अवस्था एव प्रयोग काल की रचना होने से मैथिलीशरण जी के नाटको की वस्तु सकुचित और अपूर्ण, चरित्र चित्रण अविकसित, कथोपकथन कान्ति एव चमत्कार-हीन और

भाषा निर्जीव तथा उद्देश्य कथित है। गीति-नाट्य अनघ मे गीति-तत्त्व भी अपुष्ट है। वास्तव मे गुप्त जी प्रगीतकार नही हे, फिर भी उन्होने कुछ प्रगीत लिखे है—उनसे तुलना करने पर अनघ काफी कोमल सरस है।

वास्तव मे साहित्य की अनेक अथवा एकाधिक विधाओ मे उत्कृष्ट रचना करने वाला कृती कलाकार युग-युगान्तरो मे कोई एकाध हुआ करता है। विश्व-साहित्य मे ऐसे दो-चार व्यक्ति ही मिल सकेगे। हिन्दी मे तो जयशकर-प्रसाद के अतिरिक्त शायद और कोई नही हे। मैथिलीशरण निश्चित रूप से उस श्रेणी के कलाकार नही है। उन्होने तो अपने प्रकृत क्षेत्र के निर्धारण स पूर्व नाटक रचना का प्रयास किया था। किन्तु ये नाटक चाहे किसी भी कोटि क्यो न हो प्रणेता की बहुमुखी प्रतिभा के द्योतक अवश्य है।

लेकिन इस क्षेत्र मे गुप्त जी सफल न हो सके। इसीलिए बाद मे कविता के ही हो रहे। हा, वे अब भी अपने प्रबन्धो मे यथास्थान नाटकीय दृश्य-योजना अवश्य करते रहते हैं। उनके परवर्ती काव्य इसके साक्षी है। इस प्रकार असफल नाटककार होने हुए भी उनकी नाट्य विधायिनी शक्ति स इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु वह शक्ति कवित्व स दबी रहती है—स्वतन्त्र रूप मे उभर नही पाती। उभारने के प्रयास म वे सफल नही हुए। और यह अच्छा ही हुआ। अनेक साहित्यकारो ने बहुविध-रचना के चक्कर मे अपनी शक्ति और समय व्यर्थ खो दिया। उनको कही भी विशिष्टता नही मिल सकी। यदि मैथिलीशरण जी भी इस प्रदर्शन अथवा आत्म प्रवचना मे फँस जाते तो शायद आज हम उनकी श्रेष्ठ काव्य कृतियो स भी वचित होना पडता।

नाटकीय कविता

नाटक एक मिश्र कला है। उसमे अन्यान्य शिल्पो के साथ कविता के तत्त्व भी समाहित रहते है। इसी प्रकार कविता मे भी किसी न किसी अश म नाटकीयता का समावेश होता ही है। किन्तु नाटकीय कविता वह है जिसका निर्माण रगमच पर अभिनय के लिए किया गया हो अथवा जिसकी रचना अभिनयोपयुक्त रूप मे हुई हो। और स्पष्ट शब्दो मे नाटकीय कविता मे नाटक

और कविता दोनो के ही गुण विद्यमान रहते है। उसमे नाटक से अधिक भावमयता और कविता से अधिक व्यापार रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा पात्रो द्वारा बोली जाने के कारण काव्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ होती है अथवा यो कहिए कि वह वास्तविक वार्तालाप की अनुकृति होती है। किन्तु वह कविताबद्ध होती है, इसलिए उसमे कवि कल्पना के प्रयोग से कुछ सुकुमारता एव कान्ति भी आ जाती है।

मैथिलीशरण जी ने दिवोदास, जेनी और पृथिवीपुत्र तीन नाटकीय कविताएँ लिखी है जो 'पृथिवीपुत्र' मे सगृहीत है। स्वय कवि उन्हे सवाद मानता है—पृथिवीपुत्र की भूमिका मे गुप्त जी ने उसे सवाद-सग्रह कहा है। किन्तु वे सवाद नही है। वास्तव मे सवाद अथवा डायलॉग शब्द का बडा शिथिल प्रयोग होता है। कुछ साल पहले तक स्कूलो और कालिजो मे डायलॉग सिखाए जाते थे। पारसी थियेट्रीकल कम्पनियो के चटपटे सवाद (डायलॉग) भी प्रसिद्ध ही है। आज भी सिनेमा मे डायलॉग का प्राचुर्य है। सवाद अथवा डायलॉग के इन सब प्रयोगो मे उसका साहित्यिकता से कोई सम्बन्ध नही है। तात्पर्य कहने का यह है कि साहित्यिक रचना के लिए सवाद शब्द का प्रयोग उचित नही है। इसीलिए पृथिवीपुत्र को सवादो का सग्रह मानना ठीक नही।

दूसरी बात यह है कि यह सवाद प्राय गद्य मे ही लिखे जाते है या यह कहिए कि हम परम्परा से सवाद के साथ गद्य का सम्बन्ध जोडने के आदी से हो गए है। किन्तु पृथिवीपुत्र मे सगृहीत रचनाएँ पद्यबद्ध है। इसीलिए भी उन्हे सवाद नही कहना चाहिए। वस्तुत वे नाटकीय कविता के अन्तर्गत ही आते है। क्योकि उनमे नाटक का रग है। उनका प्रणयन चाहे मच पर अभिनय के लिए न हुआ हो—फिर भी वे निश्चित रूप से अभिनेय है। यहाँ पर यह भी निवेदन कर दूँ कि ये कविताएँ शुद्ध नाटय के अन्तगत नही आ सकती—मूलत कविताएँ ही है। लेकिन उन कविताओ की रचना नाटकीय ढग पर हुई है और अगर चाहे तो आसानी से उनका अभिनय किया जा सकता है। कुछ स्थल तो ऐसे भी है जहा स्टेज (अथवा उसकी कल्पना) के अभाव मे सौन्दय ही बिखर जाता है। उदाहरण के लिए जेनी की कुछ पक्तियाँ है —

जेनी

बधु, कौन बाधा है तुम्हारे उस कर्म मे ?

मार्क्स

कारागार ! निष्कासन ! —काप उठी तुम ये ?

जेनी

मै ही नहीं, काप उठे सारे लता-द्रुम ये !
विप्लव करोगे तुम ? बोलो किस सत्ता से ?

मार्क्स

(हँसकर)

जेनी, यदि मै कहूँ, तुम्हारी ही महत्ता से ?[1]

मै समझता हूँ कि उपर्युक्त उद्धरण मे 'काँप उठी तुम ये' और कोष्ठकबद्ध 'हँसकर' आदि की साथकता मच अवस्थिति मे ही है—अन्यथा नही। कम से कम कल्पना-चक्षुओ के समक्ष तो मच का रहना अनिवार्य ही है। वण्य विषय का चित्र तो काव्य मात्र के पठन के समय नेत्रो के समक्ष रहता है। किन्तु वहाँ पर मच और मच पर अभिघटन दृष्टिगत नही होता जैसा कि नाटकीय कविता मे होता है। अस्तु !

गुप्त जी ने पृथिवीपुत्र की तीनो नाटकीय कविताओ का प्रणयन बडे कौशल से किया है। वे नाटक रचना मे सफल नही हो सके—उस ओर उनकी प्रवृत्ति ही नही है। किन्तु नाटकीय कविताओ की रचना मे उन्हे आशातीत सफलता मिली है। शायद इसका कारण यह है कि चन्द्रहास तिलोत्तमा के प्रणयन के समय कवि अनभ्यस्त और नवागत था—किन्तु पृथिवीपुत्र का रचयिता प्रौढ और दो दजन से अधिक ग्रथो का प्रणेता है। अनघ इन दोनो स्थितियो के बीच का सेतुमाग है। कुछ भी हो गुप्त जी की नाटकीय कविताएँ काफी अच्छी हे। उनकी भाषा तो और भी समृद्ध कान्तिमयी एव समासगुण-सम्पन्न है। इस प्रकार मैथिलीशरण जी नाटककार की दृष्टि से असफल होन पर भी कविता मे नाटकीयता का कुशल समावेश करते है।

पत्र-काव्य

पत्र व्यक्तिगत होते हे—वे व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति विशेष के लिए लिखे जाते है। किन्तु कुछ पत्र व्यक्तिगत न होकर साहित्यिक होते है। अग्रेजी मे

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति पृ० ३८

इनके लिए दो भिन्न नाम है—लैटर और ऐपिसिल। हिन्दी मे लैटर के लिए तो पत्र शब्द है किन्तु ऐपिसिल के लिए उपयुक्त नाम के अभाव मे हम उसे साहित्यिक पत्र कह सकते है। पत्र और साहित्यिक पत्र दोनो मे काफी अतर है। पत्र एकान्तत व्यक्तिपरक होते है पर साहित्यिक पत्र अन्यान्य विधाओ के समान साहित्य की एक विधा है। वे साधारण पत्रो के सामयिक न होकर स्थायी और सार्वकालिक होते है। प्रथम का श्रोता समाज भी सीमित रहता है किन्तु द्वितीय का अपेक्षाकृत वृहत् वरन असीम होता है।

साहित्यिक पत्र का माध्यम पद्य होता है—गद्य भी हो सकता है। किन्तु कम से कम हिन्दी मे अभी तक किसी ने गद्य मे साहित्यिक पत्र-लेखन का प्रयास नही किया है (पद्य मे भी न होने के बराबर ही है)। अग्रेजी के ऐपिसिल भी पद्यात्मक ही है। वहा पर तो यह काव्य का भेद ही बन गया है। ऐपिसिल और दूसरी कविताओ मे मुख्य अन्तर यह है कि ऐपिसिल किसी मित्र, सम्बन्धी अथवा सरक्षक को सम्बोधित करके लिखा जाता है जबकि कविता मे इस प्रकार का कोई सम्बोधन नही होता। साहित्यिक पत्र विषयगत और विषयीगत दोनो प्रकार के हो सकते है। वे पत्र जिनमे लेखक अपनी बात लिखता है, अपने मन के भाव दूसरे पर व्यक्त करता है, विषयीगत होते है। तत्वत व प्रगीत होते है। इसके विपरीत जिन पत्रो मे रचयिता की अपनी बात न मिलकर दूसरो का वृत्त आबद्ध होता है वे विषयगत अथवा वस्तुगत होते है।

पत्रावली मे सग्रहीत मैथिलीशरण जी के सभी पत्र ऐतिहासिक है—इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियो द्वारा लिखे गए है। इतिहास मे कवि की दृढ आस्था है। वह अपने विषय का चयन प्राय भारतीय इतिहास से ही करता है। पत्रावली मे भी यही हुआ है। अत उसके पत्र व्यक्ति-निष्ठ—अपनी जीवन घटनाओ पर आधृत न होकर परनिष्ठ है। इसलिए वे वस्तुगत है—और उनमे पत्र का निजीपन न मिलकर कथाकाव्य का-सा विवरण उपलब्ध होता है। पत्रावली का रचयिता पत्र मे वर्णित घटनाओ के वक्ता के रूप मे हमारे समक्ष आता है—एक समभागी एव सहभोगी के रूप मे नही। इसीलिए उसके पत्रो मे आपको वाँछित चमक और उत्फुल्लता नही मिल सकेगी। उसके स्थान पर उपलब्धि होती है प्रकथनात्मक वस्तु-विन्यास की। दूसरे शब्दो मे उनमे आत्मीयता बात-चीत का रस अथवा सार्वजनिक भाषण का वेग और उत्साह नही मिलता जो कि पत्रो का प्राण है। फिर भी कही-कही पत्रोपयुक्त रचना मे भी मैथिलीशरण समर्थ हो सके है। एक उदाहरण लीजिए—

कैसे पत्र लिखूँ तुम्हे कुलवती मै क्षत्रिया बालिका,
होती हे रुधिर-प्रदान करके जो शील-सचालिका ।
साक्षी है सुर, कि तु, जो पर नही मै जानती हूँ तुम्हे,
हा लज्जा ! कब से अभिन्न अपना मै मानती हूँ तुम्हें ।[1]

उपर्युक्त पक्तियो से प्रतीत होता है मानो रूपवती अपने समक्ष उपस्थित राजसिंह से अपने मन की बात कह रही है । सचमुच एक चित्र-सा सामने खडा हो जाता है । लेकिन ऐसा बहुत कम स्थलो पर हो सका है ।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक विषय ग्रहण करने के कारण पत्रो मे कवि की कल्पना खुलकर नही खेल पाती । सभी पत्रो का प्रख्यात विषय और परम्पराभुक्त तर्क-वितर्क मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है । वस्तुत देखा जाए गुप्त जी तो उन्हे केवल पद्यबद्ध करनेवाले हे । फिर भी यहाँ कवि-कौशल का सवथा अभाव नही है । पूर्वनिश्चित तथ्य को अपनाने पर भी कम से कम उपस्थापन तो कवि का अपना ही है । निम्न उदाहरण की नाटकीय सजीवता और सहज प्रसन्नता देखते ही बनती हे—

हे ना—नही, नाथ नही कहूँगी,
अनाथिनी होकर ही रहूँगी ।
होते कही जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे ?[2]

एक उदाहरण और देकर प्रसग को समाप्त करते है । महाराणा प्रताप के सन्धि-प्रस्ताव की बात श्रवण कर कवि पृथ्वीराज उन्हे सचेत करने के लिए पत्र लिखते हे । महाराणा सामयिक चेतावनी के लिए कृतज्ञता ज्ञापनार्थ पत्रोत्तर देते है । यह घटना ऐतिहासिक है—सर्वविदित एव विश्वविख्यात है । लेकिन आलोच्य कवि द्वारा पद्यबद्ध पत्र की अन्तिम दो पक्तिया लक्ष्य करने की है—

सुमोगे तुर्को को न तनु रहते शाह हमसे,
वही—प्राची मे ही—रवि उदित होगा नियम से ।[3]

यहा विषय की नवीनता नही है—किन्तु स्थापना द्रष्टव्य है । ऐसा प्रतीत होता है कि कोई आवेश-गद्गद वक्ता गर्जन तर्जन करता हुआ एक एक शब्द

---

१ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृ० २८
२ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृ० २०
३ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृ० ११

पर रुक-रुककर, जोर दे-देकर बोल रहा है। पत्र-प्रेषक महाराणा का तेज-भास्वर ऊर्जस्वित व्यक्तित्व, पुष्ट-बलिष्ठ शरीर तथा विकट गम्भीर कंठस्वर एक साथ परिलक्षित हो जाते है। पत्र मे उसके प्रेषक की झलक आनी ही चाहिए। मैथिलीशरण जी को इस दृष्टि से इस पत्र मे निश्चित सफलता मिली है। किन्तु अधिकांशत वे अपने पत्रो मे यह बात नही ला पाते। इसी लिए वे प्राय अरुचिकर और गतिहीन है। उदाहरणत निम्न पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

क्या विद्युद्वह्नि का भी कुछ कर सकती वृष्टि-धारा प्रणाली ?
हो भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षो जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से ?[1]

ऐसी पक्तियाँ मूल पत्र के लेखक से असम्पृक्त है। इनसे उसके व्यक्तित्व का कुछ भी परिचय नही मिलता। बस पता चलता है तो केवल कवि क उपदेष्टा का। इसीलिए उसके पत्रो मे भाव दीप्ति का प्राय अभाव है।

मूल्याँकन

गुप्त जी ने कुल सात पत्रो को छन्दोबद्ध किया है। ऐसी दशा मे उनकी पत्र रचना के सम्बन्ध मे कोई निर्णय कर लेना न सम्भव है और न उचित। फिर भी पत्र-प्रणेता मैथिलीशरण जी का—उनकी शक्ति और सीमा का—कुछ आभास तो पत्रावली मे मिल ही जाता है। हम देखते है कि उनके पत्रो मे वाछित आत्मीयता, सहज प्रफुल्लता और गति की तीव्रता का प्राय अभाव है। पत्र की बरबस खीच लेनेवाली आकर्षकता भी उनमे नही है। इसका कारण शायद यह है कि वे पत्र कवि के अपने नही है—उनमे व्यक्ति-विशेष के प्रति उसके अपने मन का भाव नही है। वरन् वे ऐतिहासिक पत्र है—कवि उनका मूल लेखक नही है। ऐसी दशा मे उत्कृष्ट पत्रो के निर्माण की आशा नही की जा सकती। दूसरी बात यह है कि हिन्दी मे पत्र बहुत कम लिखे गए है। जो है भी वे गद्य मे है—और स्वय लेखको के है। पद्यबद्ध पत्र तो कदाचित् मैथिलीशरण जी ने ही रचे है। पत्रावली से पहले के जो पद्यात्मक पत्र है भी वे स्वय मैथिलीशरण जी द्वारा बगला से अनूदित है। मेरा अनुमान है कि इस दिशा मे हिन्दी साहित्य मे यह प्रथम प्रयास है। इसलिए अनेक त्रुटियो की अवस्थिति मे भी स्तुत्य है। और फिर उत्कृष्ट स्थलो का

---

१ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृ० ५

सर्वथा अभाव भी यहाँ नही है । पूर्वोद्धृत स्थलो के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि गुप्त जी आगे इस दिशा मे प्रयत्न करते तो निश्चय ही कुछ अच्छे पत्र भी रचे जाते ।

लेकिन इतना निर्विवाद है कि मैथिलीशरण इस क्षेत्र मे 'हौरेस' और 'पोप' जैसे कलाकारो की समता नही कर सकते । आपको न तो उनमे 'हौरेस' के पत्रो का औज्ज्वल्य और समृद्धि मिलेगी और न 'पोप' के समान युक्ति-विलास की उपलब्धि हो सकेगी, फिर भी गुप्त जी का यह प्रयत्न श्लाघनीय है। उन्होने तो माइकेल मधुसूदन के अनुकरण पर ये पत्र रचे थे । अत इनमे कवि की शक्ति का सन्धान उचित नही है । यह तो एक नव द्वार का उद्घाटन मात्र है । पत्रावली की यही सबसे बडी विशेषता है ।

कुछ नवीन प्रयोग

मैथिलीशरण जी को परम्परावादी माना जाता है—निश्चय ही वे परम्परा मे विश्वास रखनेवाले है । फिर भी कही-कही वे उससे दूर हटने का सफल प्रयास कर सके हैं । काव्य-रूप की दृष्टि से परम्परा की यह मुक्ति हमे यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर मे स्पष्टत दृष्टिगत होती है । वास्तव मे गुप्त जी ध्यान रखते हैं अपने प्रतिपाद्य का—रूप-आकार की ओर से वे सजग अथवा सचेत नही है । अपने जीवन मे भी मैथिलीशरण भाव और विचार की भव्यता मे विश्वास रखते है—बाह्य वेश-भूषा की दमक में नही । लेकिन उसकी स्वच्छता और सुवडता का उनको बराबर ध्यान रहता है । यही बात उनकी रचनाओ मे मिलती है । डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते है कि रचयिता और उसकी कृति मे रक्त का सम्बन्ध है ।[१] इसके साथ ही यह भी लक्ष्य करने की बात है कि गुप्त जी के दैनिक जीवन मे औपचारिकता का नही, आवश्यकता और सुगमता का आग्रह है । यही विशेषता उपर्युक्त तीनो रचनाओ मे उपलब्ध है । इनके निर्माण मे कवि ने किसी परम्परागत काव्य-रूप को न अपनाकर प्रतिपाद्य की स्वच्छता और प्रतिपादन की सुगमता का ध्यान रखा है । अब तीनो के काव्य रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करेगे

१ आधुनिक हिन्दी नाटक—भूमिका

परिचय-खण्ड मे मे निवेदन कर चुका हूँ कि यशोधरा को किसी भी प्रचलित-प्रथित काव्य-कोटि के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। क्योकि उसमे गद्य-पद्य, दृश्य श्रव्य प्रगीत प्रबन्ध सभी का समाहार हुआ है। कुछ आलोचक इसे चम्पू कहकर टाल देते है—सचमुच वे टाल जाते है, विश्लेषण नही करना चाहते। तर्क उन लोगो का यह होता है कि यशोधरा मे गद्य भी हे और पद्य भी है—इसलिए वह चम्पू काव्य है। लेकिन यह ठीक नही है। गद्य का प्रयोग यशोधरा के केवल नाटक भाग मे हुआ है।—और नाटक अपने आप मे एक पृथक विधा है। अत उसे चम्पू के अन्तर्गत नही मान सकते। यशोधरा मे नाटक-भाग के अतिरिक्त और कही गद्य नही है। यदि थोडा-बहुत होता तो भी यशोधरा को चम्पू नही कहा जा सकता था। क्योकि आचार्य विश्वनाथ ने गद्यपद्यमय रचना को चम्पू कहा है, जैसी कि पचतन्त्र और हितोपदेश मे मिलती है। इन पुस्तकों को विषय की दृष्टि से हम कथा साहित्य कह देते है, किन्तु यदि शुद्ध काव्य रूप की दृष्टि से देखा जाए तो ये चम्पू ही है। पर जहा गद्य अलग और पद्य अलग पडा रहे वह चम्पू नही कहला सकता। जो लोग यशोधरा को भी चम्पू मानते है वे वस्तुत चम्पू के प्रकृत स्वरूप से ही अनभिज्ञ है।

किसी भी कृति के काव्य-रूप की परख से पहले उसकी मूल प्रेरणा देखनी चाहिए। क्योकि रचना का मूल प्रेरणा से सहज सम्बन्ध होता है—उसी के अनुसार उसका काव्य-रूप हुआ करता है। काव्य-रचना के मूल मे दो प्रेरणाए हो सकती है। या तो कवि आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है या फिर व्यापक रूप से मानव जगत् के चित्रण मे प्रवृत्त होता हे। रचनाकार के आत्माभिव्यजन मे वैयक्तिकता एव रागात्मकता का प्राधान्य रहता है।—और उसका माध्यम प्रगीत होता है। इसके विपरीत व्यापक मानव-जगत् के चित्रण मे वस्तु तत्त्व की प्रधानता रहती है। उसमे कार्य-व्यापार का बाहुल्य मिलेगा और समावेश होगा व्यवस्थित जीवन दर्शन का। और स्पष्ट शब्दो मे अन्त प्रवृत्ति की बजाए बाह्य प्रकृति का अकन होता है। इसका उपयुक्त माध्यम प्रबन्ध है—और प्रबन्ध का चित्रण दो प्रकार का होता है (क) प्रत्यक्ष चित्रण (ख) अप्रत्यक्ष चित्रण। दृष्यकाव्य इस प्रत्यक्ष चित्रण के अन्तर्गत ही आता है तथा महाकाव्य और खण्डकाव्य आदि प्रकथनात्मक रचनाएँ अप्रत्यक्ष चित्रण अथवा वर्णन के अन्तर्गत आती हे।

यशोधरा पर दृष्टिपात करते हे तो उसकी मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति नही हे। यशोधरा जैसी रचना मे बुद्ध अथवा यशोधरा के प्रति भक्ति निवेदन

के रूप मे आत्माभिव्यजना हो सकती थी। किन्तु ऐसा नही हुआ—वरन् कवि को बुद्ध के तो जीवन-दर्शन मे आस्था ही नही है। तात्पर्य कहने का यह कि यशोधरा आत्माभिव्यजन-मूलक रचना नही है। वास्तव मे यशोधरा का उद्देश्य है एक महच्चरित्र का पुनस्सृजन—अमिताभ की आभा से अभिभूत साहित्यिको द्वारा उपेक्षित यशोधरा से सम्भ्रान्त चरित्र का पुर्निर्माण ही यशोधरा का लक्ष्य है। महाराज शुद्धोदन स्पष्टत कहते है।

गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नही मुझको[1]

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रबन्ध ही उपयुक्त माध्यम है—प्रगीत नही। या यो कहिए कि पुनस्सृजन—उपेक्षिता-उद्धार आदि प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नही। मूलोद्देश्य के आधार पर प्रबन्ध के भी मुख्यत दो रूप हो सकते है। एक तो वृत-वर्णन जिसमे अन्य पुरुष के माध्यम से समाख्यानात्मक वर्णन मिलता है। इस रूप मे कवि का विशेष ध्यान घटनाओ की ओर रहता हे—जीवन-घटनाओ मे विशिष्ट अनुरक्ति रहती है। प्रबन्ध का दूसरा रूप नाट्य-रूप है। इसमे कवि किसी व्यक्तित्व मे अनुरक्त होता है। अत इसमे वृत्त वर्णन की अपेक्षा चरित्रोद्घाटन मुख्य रहता है। यशोधरा का कवि जीवन घटनाओ मे अनुरक्त नही है। घटना सूत्र बहुत क्षीण है। इसका कारण शायद यह है कि बुद्ध और यशोधरा के जीवन की घटनाएँ उपलब्ध ही नही है—अन्यथा मैथिलीशरण तो जीवन-व्यापी घटनाओ का चित्रण करने वाले कवियो मे से है। फलत यशोधरा मे गौतम-पत्नी यशोधरा का चरित्रोद्घाटन ही कवि का लक्ष्य रहा है। इसलिए उसमे प्रबन्ध का समाख्यानात्मक वृत्त-वर्णन न मिलकर नाट्य-रूप ही मिलता है। वास्तव मे चरित्र के उद्घाटन के लिए अनुकूल माध्यम भी वही है।

चरित्रोद्घाटन के निमित यशोधरा मे कार्य-व्यापार का प्रयोग नही हुआ। उसका तो प्राय अभाव है। क्योकि मुख्य पात्र स्त्री है—इसलिए कार्य-व्यापार के लिए अवकाश नही है। जहाँ कुछ है भी वहाँ सूच्य है—दृश्य नही क्योकि उसका सम्बन्ध गौतम से है—और गौतम अनुपस्थित है। हाँ जो गोपा से सम्बद्ध है वह अवश्य चित्रित है—किन्तु ऐसा एकाध दृश्य मे ही हुआ है। वस्तुत यशोधरा मे कार्य-व्यापार का नही भावना का प्रसार है। भावनामयी यशोधरा के चरित्रोद्घाटन के लिए उपयुक्त विधि कार्य-व्यापार नही है—उसके लिए तो कथोपकथन और स्वगत अपेक्षित है। यशोधरा मे इन दोनो का ही

---

१ यशोधरा, षष्ठावृत्ति, पृ० १२६

उपयोग किया गया है। यशोधरा-राहुल तथा यशोधरा और उसकी सखियो के सवादो मे यशोधरा के हृदगत द्व द्व का प्रकटीकरण हुआ है और उसके स्वगत मे आत्म-निवेदन है। यशोधरा के गीत भी स्वगत के अ तगत ही आते है—स्त्री पात्र का स्वगत प्राय गीत ही हुआ करता है। इस प्रकार कथोपकथन और स्वगत के द्वारा यशोधरा के चरित्र का स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्तत निष्कष यह कि यशोधरा प्रबन्धकाव्य है—लेकिन समाख्यानात्मक नही। चरित्रोदघाटन पर कवि की दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण यह नाट्य प्रबन्ध है और एक भावनामयी नारी का चरित्रोदघाटन होने से उसमे प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है। इसलिए यशोधरा को प्रगीतात्मक नाट्य प्रबन्ध कहना चाहिए।

कुणाल-गीत

कुणाल-गीत मे कुल मिलाकर ९५ गीत सगृहीत है। वे सब गीत एक कथासूत्र मे आबद्ध है। इन दो विरोधी काव्य रूपो के मिश्रण के कारण कुणाल-गीत की काव्यकोटि का निर्विवाद निर्णय—अ तिम निष्कष सम्भव नही है। फिर भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है—यह असम्भव नही है।

कुणाल-गीत मे आत्माभिव्यजना नही है। वैसे आत्माभिव्यक्ति से एकान्तत शून्य तो अत्यन्त वस्तुपरक काव्य भी नही हो सकता—क्योकि वह भी स्रष्टा के अपने विचारो भावो एव मान्यताओ तथा सस्कारो से पुष्ट होता है—और नही तो कम से कम रचयिता के व्यक्तित्व से सस्पृष्ट तो होता ही है। कुणाल-गीत मे भी जीवन दर्शन कवि का अपना ही है। अत आपको उसमे कुछ उत्कृष्ट विचारात्मक प्रगीत मिल जाएँगे और फिर माध्यम (प्रगीत) भी आत्माभिव्यजन के अनुकूल ही है। लेकिन उन विचारात्मक प्रगीतो और माध्यम के बल पर यह नही कहा जा सकता कि कुणाल-गीत आत्माभिव्यजनात्मक (प्रगीत) काव्य है। क्योकि उसमे आत्म दशन—आत्म साक्षात्कार नही है।

वस्तुत कुणाल-गीत मे आत्माभिव्यजन नही—जीवनगत व्यापार का अकन हुआ है। कुणाल-गीत के निर्माण मे कवि का उद्देश्य कुणाल के दिव्य चरित्र का उद्घाटन रहा है। विकार हेतु की अवस्थित मे भी राजकुमार कुणाल के चरित्र की पवित्रता ने कवि को बरबस आकृष्ट कर लिया है। उसमे अनुरक्त और उससे प्रभावित कृतज्ञ कवि-हृदय की आभार-स्वीकृति ही कुणाल-

गीत मे है। कुणाल के चरित्रोद्घाटन के साथ साथ प्रसिद्ध राज-परिवार मे अभिघटित कारुणिक घटना का वर्णन भी आनुषगिक लक्ष्य माना जा सकता है। इनके लिए अनुकूल माध्यम प्रबन्ध है—प्रगीत नही।

लेकिन माध्यम के रूप मे प्रगीत को अपना लेने पर भी कुणाल-गीत प्रबन्ध ही है। उसके प्रगीतो के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अत कुणाल गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपो—श्रव्य और दृश्य—मे कुणाल-गीत दृश्य नही है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमे नही है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमे वृत्त वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल गीत मे इन्ही दो विरोधी तत्त्वो का सम्मिलन है—उसमे बन्धोचित विषय प्रगीतो की मुक्तक शैली मे आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपो—महाकाव्य और खण्डकाव्य—मे से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योकि उसमे देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एव व्यापकत्व नही है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव मे कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुगव तो है—किन्तु उसमे महाकाव्योचित औदात्त्य नही है। वह जन-नायक नही है। एक बात और, वह यह कि कुणाल गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आपमे पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक मे समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौन्दर्य की क्षति के बिना उसमे परिवर्तन सभव नही है।

सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतो अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धो की परम्परा मे आता है जिनमे कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनो ही आलिंगनबद्ध रहते है। यहाँ पर उक्त पुस्तको से कुणाल गीत की तुलना अभिप्रेत नही है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एव गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नही है।

द्वापर

द्वापर मे कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त है, फिर भी उन्होने द्वापर के रूप मे कृष्णकाव्य का प्रणयन किया

है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी।

मूल पुस्तक १५ खडो मे विभाजित है। अन्त मे 'द्वारकाधीश' शीषक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार मे वह द्वापर की कथा का अश नही है। क्योकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा के आगे के जीवन का—परिदशन कवि द्वापर मे नही करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका मे मैथिलीशरण स्वय कहते है—"पुस्तक मे उसे ('सुदामा' को) इसलिए नही दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डो मे समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणो से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बडी आशा नही। अस्तु इस बार पुस्तक के अ त मे वह अश भी जोड दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वय ही इस खण्ड को द्वापर का अश नही मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृखल हो सकता है—उसमे अतक्य दोषो और असगतियो की सम्भावना है। अत इस भाग को परिशिष्ट रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक एक पात्र आता है और आत्मकथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली मे प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यजनात्मक काव्य नही है। क्योकि उसमे कवि की आत्माभिव्यजना न होकर विभिन्न पात्रो का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यजन से भिन्न है। वास्तव मे प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हे स्वगत कहना पसन्द करेगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नही है। क्योकि स्वगत मे श्रोता-समाज की अपेक्षा नही है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरो को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अत इन्हे स्वगत कहना समीचीन नही है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-सग्रह है।

लेकिन यह ठीक नही है। द्वापर को सग्रह कहना उचित नही है—क्योकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृखलाबद्ध है। इनमे प्रबन्ध सूत्र अनिवार्यत विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड मे अन्त सलिला के समान प्रवहमान है। या यो कहिए कि ये माला के मनको के समान पृथक् पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध है।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी मे एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २०१२, पृ० ७

एकसूत्रता घटना की नही है । वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हे अपने सम्बन्ध से देखते है—यही सबसे प्रबल शृखला है जिसमे सभी खण्ड आबद्ध ह । इस प्रकार द्वापर प्रबन्ध-काव्य ही ठहरता है ।

किन्तु किसी भी रचना की काव्य-कोटि के निर्धारण से पूव उसके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है । क्योकि मूलत उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निभर रहना हे । हम देखने है द्वापर में आत्माभिव्यजन नहीं है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दशन का व्याख्यान है । द्वापर के कई पात्रो के स्वर मे स्वर मिलाकर कवि स्वय बोल रहा है, जैसे—

अपने युग को हीन समझना,
आत्महीनता होगी,
सजग रहो, इससे दुर्बलता
और दीनता होगी ।[1]

बलराम की इम उक्ति मे निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्था-वान प्रगतिवादी बोल रहा है । इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पक्तियो मे मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

रोम-रोम बस तुझे पुलक-सा
पाकर जड रह जावे,
और उ ही चरणो मे जीवन
स्वेद बना बह जावे ।[2]

ऐसे स्थलो मे ही कवि के अपने विश्वास और मान्यताएँ समाहित है । निरूपण तो द्वापर मे कस के जीवन-दर्शन का हुआ है पर वह बराबर कवि की घृणा का पात्र रहा हे । वास्तव मे बलराम, विधृता, अक्रूर और कुब्जा के माध्यम से ही कवि ने अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया हे ।

प्रसग चल रहा था द्वापर के काव्य-रूप का । तो जीवन-दशन-सवलित यह काव्य निश्चय ही प्रबन्ध हे । लेकिन इसमे अधिकाश काव्य-प्रब धो के समान वृत्त-वणन न मिलकर प्रत्यक्ष चित्रण मिलता है । द्वापर के लिए उचित भी यही था—क्योकि इसमे कृष्ण के चरित्रोदघाटन द्वारा ही मानव-जीवन उपस्थित किया गया है । द्वापर की स्वगत वार्ताओ द्वारा गुप्त जी केवल इतिवृत्त ही उपस्थित नही करते अपितु द्वापर का समूचा जीवन ही चित्रित करते है—

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २०१२, पृ० ५२
२ द्वापर, सस्करण सवत् २०१२, पृ० १५८

तत्कालीन व्यापक सदेह और व्यामोह का अकन करते है । यद्यपि 'विधृता' के चरित्र का पुरस्कार और राधा एव गोपियो के चरित्र का परिष्कार भी द्वापर मे हुआ है पर वह तो आनुषगिक बात है, मुख्य तो कृष्ण चरित्र की प्रस्तुति ही है । उसी के अवलम्ब से सब खण्ड एकाकार हो गए ह । यह चरित्रोदघाटन और प्रत्यक्ष चित्रण नाटक की विशेषताएँ है । अत द्वापर नाट्य प्रबन्ध की ही एक विधा है जिसमे एकपात्री दृश्यो का समजन है ।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी यशोधरा और द्वापर को गीतिकाव्यात्मक प्रब ध-काव्य मानते है ।[1] किन्तु मै उनके इस अभिमत से पूर्णत सहमत नही हूँ । यशोधरा के विषय मे तो उनका यह कथन सोलह आने सही है, सवथा उचित है । क्योकि उसका प्रधान पात्र एक नारी है—और नारी-हृदय के अभिव्यजन मे प्राय प्रगीतात्मकता आ ही जाती है । लेकिन द्वापर मे ऐसा नही । उसमे प्रमुख पात्र नारी नही है । यद्यपि यशोदा, देवकी, विधृता, कुब्जा और गोपियो क करुण मधुर गीतिमय व्यक्तित्व के सस्पश से प्रगीत-तत्त्व का समावेश भी अवश्य हुआ है, लेकिन लेखक का ध्यान जीवन-दशन के निरूपण और अपने विश्वासो के प्रतिपादन पर ही केन्द्रित रहा है । मान्यताओ और धारणाओ के उस घटाटोप मे प्रगीतत्व विलीन हो गया है ।—और प्रगीतता के माध्यम गेय पद का तो द्वापर मे सवथा अभाव ही है । मै समझना हूँ कि द्वापर का प्रगीतत्व विशेषत उल्लेख्य नही है । थोडी-बहुत प्रगीतता तो सत्काव्य मे कही भी मिल जाएगी । अन्तत निष्कष यह कि द्वापर को नाट्य-प्रबन्ध का एक रूप कहना ही समीचीन होगा ।

मूल्याकन

यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर काव्य-रूप की दृष्टि स गुप्त जी के सवथा नवीन प्रयोग है । परम्परामुक्त अथवा परम्परा विच्छिन्न होने पर भी उनकी काव्य-कोटि का निर्णय किया जा सकता है—उनका वर्गीकरण हो सकता है । हम देखते है कि तीनो ही प्रबन्ध हे । लेकिन प्रबन्धत्व स्थूल अथवा एकदम स्पष्ट नही है—प्रबन्ध-सूत्र सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष है । वस्तुत वे तीनो हमारे युग के कुशल प्रबन्ध है । तीनो की वस्तु ऐतिहासिक है—और कवि ने मात्र इतिवृत्त ही नही वरन् तत्कालीन समाज और जीवन का अकन किया है । लेकिन यह सब कुछ कवि के चिरप्रिय समाख्यानात्मक ढग पर नही हुआ

---

१ हिन्दी साहित्य, सस्करण सन् १९५५, पृ० ४४२-४४३

अपितु प्रगीतो और स्वगत वार्ताओ के माध्यम से हुआ है। यशोधरा और कुणाल गीत के प्रगीतो मे भी प्रबन्ध की स्थापना निश्चय ही कवि के कौशल की परिचायक है। किन्तु द्वापर म तो वह एक पग और भी बढ गया है। वहाँ गुप्त जी स्वगत वार्ताओ के माध्यम से ही कहानी कहते है। वरन् यो कहिए कि एक चिरपेषित कथा के द्वारा उस युग की द्वापरता का रोचक चित्रण करते है। द्वापर की प्रबन्ध कला हमारे लिए, हमारी काव्य-कला की प्रगति की सूचक है। वह प्रबन्धो की परम्परा मे नवीन कल्पना है, मौलिक उद्भावना है।

(ख) अभिव्यंजना-कौशल

अभिव्यजना साहित्य का महत्त्वपूर्ण अग है—उत्तम से उत्तम अनुभूति भी अभिव्यक्ति के विना गूगी रह जाती है। अभिव्यजनावाद के प्रवत्तक क्रोचे की स्थापना तो यह है कि अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुभूति और कुछ है ही नही। वे दोनो मे भिन्नता का अत्यन्ताभाव मानते है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति से पूव मन मे अनुभूति का अस्तित्व असम्भव है। लेकिन भारतीय आचार्यो ने दोनो मे निश्चित पार्थक्य स्वीकार किया है। कुन्तक आदि मनीषियो ने अनुभूति और अभिव्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध तो माना है—किन्तु उनकी अभिन्नता नही। वस्तुत दोनो मे सम्वाय सम्बन्ध है। अर्थात् एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व सम्भव नही है। पर अनिवाय सम्बन्ध होने पर भी अनुभूति और अभिव्यक्ति सवर्गीय अथवा सजातीय नही है—इनमे आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। अनुभूति यदि आत्मा है तो अभिव्यक्ति निश्चय ही शरीर है। एक के अनस्तित्व मे दूसरी का अस्तित्व व्यथ है। अब रही बात अभिव्यजना कौशल की। क्रोचे तो कवि-कौशल का एकदम बहिष्कार कर देते है। लेकिन यह ठीक नही है। इसके विरुद्ध सबसे प्रवल तर्क, ज्वलन्त प्रमाण मीरा का काव्य है। मीरा की सरस अनुभूनि की रमणीयता से इन्कार नही किया जा सकता। फिर भी उनकी अभिव्यक्ति रमणीय नही है। कारण स्पष्ट है—कौशल का अभाव। अत. मेरी विनम्र सम्मति मे रमणीय अभिव्यक्ति के मूल मे अनुभूति की रमणीयता के साथ-साथ कुछ न कुछ कौशल भी आवश्यक रहता है। कुशल कवि अभिव्यक्ति की रमणीयता एव प्रभाव-क्षमता की सिद्धि के लिए अनेक साधनो का

उपयोग करता है। यहा पर हम गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त उन प्रसाधनो का ही विवेचन करेगे।

चित्रण-कला

पहले ही कहा जा चुका है कि रग, रेखा, शब्द आदि के माध्यम से अनुभूति को चित्र, मूर्ति अथवा काव्य का रूप दे दिया जाता है। किन्तु मूलत एक ही अ तर्वृत्ति से सम्बद्ध होने के कारण एक मे दूसरे का अत्यन्ताभाव नही हो सकता। कवि मे अशत चित्रण-शक्ति होती ही है। निश्चय ही कवि की चित्र विधायिनी प्रतिभा जितनी प्रखर होगी उसके काव्य मे इन दो कलाओ के मणि-काँचन सयोग से उतनी ही सहज प्रसन्नता और मधुरता मिलेगी। प्राचीन आचाय का विभाव और अनुभाव-विधान भी चित्रण-कला का ही समानाथक है।

मैथिलीशरण जी ने मानव-जीवन को उसकी समग्रता मे ग्रहण किया है। अत उनके काव्य मे सभी प्रकार के—मधुर-तरल, रुद्ध-क्रुद्ध, छाया-प्रकाशमय चित्र उपलब्ध है। पहले कुछ पूर्ण चित्र लीजिए। 'रणवीर द्रोणाचायकृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह' के ध्वस्त चित्र का अवलोकन कीजिए—

> **रक्त की यह कीच कसी मच रही**
> **है पट रही खण्डित हुए बहु रुण्ड मुण्डो से मही।**
> **कर-पद असख्य कटे पडे, शस्त्रादि फले है तथा**
> **रणस्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा।**
> **दुर्योधनानुज हैं पडे ये भीम के मारे हुए,**
> **काम्बोज नृप वे सात्यकी के हाथ से हारे हुए।**
> **मृत अच्युतायु-श्रुतायु हे ये, वह अलम्बुष है मरा,**
> **यह सोमदत्तात्मज पडा है, रक्त-रजित है धरा॥[1]**

यहाँ पर कवि ने चक्रव्यूह के ध्वसावशेष का दृश्य उपस्थित किया है। किन्तु वह अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सका। 'दुर्योधनानुज है पडे ये भीम के मारे हुए' आदि पक्तियो से स्थिति का बोध भले ही हो जाए पर उस घटना का चित्र नेत्रो के समक्ष नही आ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि युद्ध-भूमि के उस दृश्य का विधान करने की बजाय मृतको का लेखा-जोखा उपस्थित करने लगा है। लेकिन इस परिगणनात्मकता मे भी 'कर-पद असख्य कटे पडे,

---

१ जयद्रथ वध, सत्ताइसवाँ सस्करण, पृ० ८६

शस्त्रादि फैले है तथा' जैसी एकाध पक्ति तत्कालीन अस्त-व्यस्तता के बिम्ब-ग्रहण मे सहायक है ।

वास्तव मे उपर्युक्त चित्र मे मैथिलीशरण अनेक तथ्यो को एक साथ अकित करना चाहते है—किन्तु पाठको के मानस-चक्षु उन्हे स्वीकार करने मे असमर्थ है । कवि को चाहिए कि वह कुशलतापूर्वक आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे । तभी उसके चित्र का अभिलषित प्रभाव पड सकता है । पचवटी से ऐसा ही चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

पचवटी की छाया मे है
सुन्दर पर्ण कुटीर बना
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीकमना
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जबकि भुवन पर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है ।।[1]

देखिए कवि ने कितने कौशल से वन के स्तब्ध वातावरण और शिला पर बैठे हुए धनुर्धारी लक्ष्मण का सलिष्ट चित्र अकित किया है । यद्यपि यहाँ पर बहुत कम वस्तुओ का चित्रण कवि ने किया है । फिर भी सारा चित्र नेत्रो के सामने घूम जाता है । यदि वह पूर्वोद्धृत चित्र के समान एक एक बात का ब्योरा देने लगता तो सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता । इसीलिए यह आवश्यक है कि चित्र अकित करते समय कवि कौशल के साथ आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे । आवश्यक वा अनावश्यक के प्रति आलोच्य कवि की सजगता ब्राह्मण की सद्गृहस्थी के निम्न चित्र मे और भी स्पष्ट है ।

था पास ही तुलसी धरा
जो वायु शोधक था हरा,
सुमुखि सुता थी दीप उस पर धर रही ।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खडी,
मुकुलित किये आँखे बडी
कैसे कहे किस भाव से थी भर रही ।।

---

१ पचवटी सस्करण सवत् २००३, पृ० ६

२ वक-सहार, सस्करण सवत २००२ पृ० ७

यह चित्र भडकीले रग-रूप से एकदम मुक्त है लेकिन फिर भी अपनी सहज सरलता की दिव्य आभा से उद्भासित है। यह चित्र घर का दृश्य ही उपस्थित नही करता वरन इसमे ब्राह्मण की सद्गृहस्थी की सुख-शान्ति, सहज श्रद्धा तथा आडम्बरहीन सज्जा अकित है। और स्पष्ट शब्दो मे वहाँ का पावन वातावरण तक इस चित्र के द्वारा प्रेषणीय हो सका है। निश्चय ही यह पाठक के मन पर शान्त सौम्य प्रभाव डालन मे सक्षम है—ठीक उसी तरह जैसे महात्मा बुद्ध की प्राचीन मूर्तियाँ दर्शको के मन पर ऐसा प्रभाव छोडती है जसा कि साक्षात् बुद्ध के दर्शन पर पड सकता था। अब लीजिए गुप्त जी की सर्वप्रिय और सर्वोत्कृष्ट रचना साकेत से एक मनोरम चित्र—

तरु तले बिराजे हुए,—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर
निज लक्ष सिद्धि-सी तनिक घूम कर तिरछे,
जो सीच रही थी पर्णकुटी के बिरछे—
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,
प्रणय प्राणा को और कान्त काया को,
यो देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख ज्योति ज्यो जागी![१]

दिव्य युगल के पावन दाम्पत्य-जीवन का यह अलौकिक चित्र कितना मुखर है। उपर्युक्त पक्तियो को पढते ही जो सश्लिष्ट चित्र कल्पना मे घूम जाता है वह कितना भव्य और मनोहारी है। इस उद्धरण मे चित्र के सम्पूर्ण गुण आ गए है। 'कुछ टिके,—धनुप की कोटि टेक कर भूपर' मे वनवासी राम की मुद्रा तक स्पष्ट है। निश्चय ही इस चित्र मे काव्य और चित्र कला का मणि-काचन सयोग हुआ है।

मैथिलीशरण शृगारी कवि नही है—किन्तु समग्र जीवन को ग्रहण करनेवाला कवि उससे भी अछूता नही रह सकता। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार तो अधिकाश मानवीय व्यापारो के मूल मे काम ही रहता है। गुप्त जी के काव्य मे भी अनेक रूप-चित्र मिल सकते है। सबसे पहले तो उनकी एक प्रारम्भिक रचना 'तिलोत्तमा' से एक चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

रूप के समुद्र की रमा सी यह कौन यहाँ
सारी सुघराई का इसी मे एक वास है

---

१ साकेत, सस्करण सवत २००५ पृ० १५६

कोमलता कज की है, कान्ति हे कलाधर की
सुवण की सुवर्णता, लताओ का विलास है।
गति मे मरालता है, भौहो मे करालता है,
अलको मे अरालता, कपोलो मे विभास हे,
अगो मे उमग अहा ! आँखो मे अनग रग
मुख मे सु हास और श्वास मे सु-बास है ॥[1]

रीतिकालीन शैली मे अकित इस चित्र मे चित्र के गुणो का प्राय अभाव ही है। नायिका तिलोत्तमा के रूप का भान बिल्कुल भी पाठक को नही हो पाता। इसमे एक भी ऐसी पक्ति नही है जो कल्पना-चित्र खडा करने मे समर्थ हो। किन्तु यह कवि का आरम्भकालीन प्रयास है। बाद मे तो उसने कई मधुर-स्निग्ध चित्र उपस्थित किए है। उदाहरण के लिए सिद्धराज से उद्धृत निम्न चित्र का अवलोकन कीजिए—

रात हो चुकी थी दीप दीपित था पौर मे,
कापती शिखा-सी लिये आगन मे रूपसी
रानकदे सकुचित और नत थी खडी,
था खगार सम्मुख सजीव एक चित्रसा।[2]

कुम्भकार-पालित राजकन्या रानकदे और नवयुवक राजा खगार एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित है। रात्रि का नीरव पर मादक क्षण है—दीपक का मन्द प्रकाश उस मादकता को और भी गहरी बनाने मे सहायक है। ऐसे मधुमय वातावरण मे अनिद्य, सुन्दरी, लज्जाविष्ट, सकोचसकुल कुलबालिका रानकदे सात्विक सचारी के प्रभाव से विकम्पित है—पौर मे प्रज्वलित दीप-शिखा के समान ही काँप रही है। और खगार ! वह तो रूप और शील की इस साकार प्रतिमा को देखकर स्तब्ध रह जाता है—चित्रस्थ-सा निश्चेष्ट और मूक खडा रह जाता है। मानस चक्षुओ से चित्र का साक्षात्कार कर पाठक भी खगार के समान ही मन्त्र-मुग्ध हुए बिना नही रह पाता। यह तो हुआ एक सस्कार-पोषिता, लज्जा शीला कुलबालिका का शुद्ध सात्विक रूप-चित्रण। और अब देखिए सस्कार एव सकोचहीन रमणी का अनावृत सौदर्याकन। पचवटी मे पर्णकुटी-प्रहरी के रूप मे लक्ष्मण बैठे हुए है। ढलती रात है—स्वच्छ ज्योत्स्ना प्रसारित है। लक्ष्मण एक क्षण के लिए उर्मिला के ध्यान मे डूब जाते है—किन्तु आँख खुलते ही सामने क्या देखते है—

१ साकेत, चतुर्थावृत्ति, पृ० ९७-९८
२ सिद्धराज तृतीय सस्करण, पृ० ९०

अनुपम रूप अलौकिक वेष !
चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्सकोच खडी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला !
रत्नाभरण भरे अगो मे ऐसे सु दर लगते थे—
ज्यो प्रफुल्ल बल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग करते थे।
थी अत्य न्त अतृप्त वासना दीघ दृगो से झलक रही,
कमलो की मकर न्द मधुरिमा मानो छवि से छलक रही ![1]

बिजली की तरह कोंध जानेवाली रूप की कैसी प्रखर जगमगाहट है। वासना लिप्त यह चित्र किनना उत्तेजनापूर्ण है। इसमे चित्र-तारिकाओ के नागरिक विलास की स्पष्ट छाप है। किन्तु ऐसे चित्र मैथिलीशरण के काव्य मे आपको अधिक नही मिलेगे। उन्होने अधिकाशत उत्तेजनाहीन सहज-सौदर्य का ही अकन किया है। सीता माता का यह चित्र विशेपत द्रष्टव्य है—

अचल पट कटि मे खोस, कछोटा मारे,
सीता माता थी आज नई धज धारे।
अकुर-हितकर थे कलश पयोधर पावन,
जन-मातृ-गवमय कुशल वदन भव-भावन।
पहने थी दिव्य दुकूल अहा ! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह सग ही जैसे।
कर, पद, मुख तीनो अतुल अनावृत पट से,
थे पत्र-पुज मे अलग प्रसून प्रकट-से !
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।
मुख धम-वि दुमय-ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा ?[2]

सीता का यह रूप-चित्रण देखते ही कालिदास की शकुन्तला का वन्य सौंदय स्मरण हो आता है। अपन आप मे कितना भव्य और पावन चित्र है। पाठक को सौदर्यानुभूति तो होती है—किन्तु वासनाहीन—एकदम उत्तेजना रहित ! कवि पयोधरो की पीनता तक का उल्लेख करता है पर अगली ही पक्ति मे 'जन-मातृ-गवमय' शब्दावली का प्रयोग कर पाठक की श्रद्धा को जगा देता

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ८५
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १५६-१५७

ह । यदि इस चित्र की तुलना पूर्वोद्धृत पचवटी के चित्र से की जाए तभी इसकी गरिमा का पूर्ण आभास मिल सकता है ।

स्थिर चित्रो का दिग्दर्शन तो हो चुका । अब गतिमय चित्रो का वैभव भी देखिए । वास्तव मे गतिमय चित्र ही काव्य की प्रकृति के अनुकूल हैं—स्थिर चित्र-काव्य की अपेक्षा चित्रकारी के लिए अधिक उपयुक्त है । क्योकि साक्षात् दर्शन करने पर बहुसख्यक वस्तुविन्यास अनुभवगम्य हो सकता है—किन्तु कल्पना-चक्षुओ द्वारा उसे हृदयगम करना दुष्कर है । इसके विपरीत गति की कल्पना सुगमता से हो सकती है पर पट पर उसका चित्रण अथवा प्रस्तर मे उसका अकन कठिन होता है । एक अग्रेज विद्वान् ने ठीक ही कहा है—"यदि गतिशील व्यापार के क्षेत्र से चित्रकार को बहुत कुछ त्याग देना चाहिए तो कवि के छोडने के लिए भी काफी कुछ हे—उसे ऐसी वस्तुओ का जमघट उपस्थित नही करना चाहिए जो एक साथ नेत्रगम्य हो ।"[1] अभिप्राय यह कि स्थिर चित्र का पट पर और गतिमय चित्र का काव्य मे अपेक्षाकृत अधिक सफलता से अकन किया जा सकता है । अस्तु !

> **निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—**
> **वन मे ज्यो, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यो**
> **भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी**
> **बलवीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा**
> **मानो धँसी जा रही थी वदन गभीर था,**
> **उठता शरीर मानो अग मे न आता था ।[2]**

आप देख रहे है कि कुल-मर्यादा का अभिमानी क्षत्रिय किशोर किस शान से राज-दरबार मे प्रविष्ट होता है । उपर्युक्त पक्तियाँ पढते ही उसका पुष्ट शरीर और मन्द-मस्त चाल स्पस्टत दृष्टिगत हो जाते है । यह तो हुआ एक

---

1 If then, there is much in the domain of progressive action which the painter must renounce, there is much also that the poet mnst renounce He must not paint—must not, that is to say, present a multitude of things which are to be apprehended simultaneously by the eye

—The making of Literature by R A Scott James, Edition 1928, pp 185-186

२ विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृ० १६

'सिंह सपूत' की निभय गति का चित्र । अब देखिए अश्वारोही नवयुवतियो के सैनिक वेष और गनि का सौंदय—

> वामाएँ अनेक, दीघ शूल लिए दाहिने
> हाथ मे, लगाम धरे बाएँ हाथ मे, कसे
> क्षीण कटि जटिल विचित्र कटि बधो से,
> पीठ पर बाल छोड ढाल के से ढग से,
> हेम शिरस्त्राण बाधे, मोलियो की कलगी
> जिन पर खेलती हे स्वच्छ गुच्छ रूपिणी
>
> × × ×
>
> मन्दिर समान उस सुदर शिविर की
> करती है मण्डल बनाकर परिक्रमा ।[1]

हम देखते हे कवि ने वाछित सामग्री का चयन कर कितने कौशल से सुसज्जित सैनिकाओ से शक्ति समन्वित सुन्दर रूप और गतिशील चेष्टाओ का चित्र प्रस्तुत किया है । और यदि गति की तीव्रता देखनी हो तो निम्नोद्धृत चित्र का अवलोकन कीजिए—

> प्रिया-कठ से छूट सुभट कर शस्त्रो पर थे,
> त्रस्त-वधू जन हस्त स्रस्त से वस्त्रो पर थे ।[2]

शत्रुघ्नकृत आपत्सूचक शखनाद को श्रवण करते ही विलासमग्न दम्पति चौंक उठते है । आलिंगनमुक्त हो वीर योद्धा शस्त्रास्त्र सज्जित सैनिक रूप धारण करते है और तुमुल ध्वनि से आतकित अगनाएँ अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रो को सँभालती है । यह सब काम दो क्षण मे ही हो जाता है । चेष्टा की गति कितनी तीव्र है । और उसका कैसा स्वाभाविक चित्र है । गतिशीलता का इससे भी अधिक सजीव चित्र देखना हो तो पद्य-प्रबध की 'गोवद्धन लीला' से एक उदाहरण लीजिए । इन्द्र के कुपित होने पर ब्रज मे घोर वर्षा होने लगी—मेघो का तुमुनाद और तडित् का भयावना प्रकाश वातावरण की भीषणता मे और भी वृद्धि कर रहे थे । भयभीत गोप-ग्वाल, पशु-पक्षी आश्रय की खोज मे इधर-उधर भागते है—ब्रज मे हडबडी मच जाती है । उस हडबडी के चित्र के ही दशन कीजिए—

१ सिद्धराज, तेरहवा सस्करण, पृ० ७
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०५

आने लगी वन से रँभाती हुई गायें शीघ्र
भागे गोप-वृ द वेग सारे सराबोर से ।
कान पडी बात भी सुनाई पडी नेंक नही,
मेघो ने मचाया शोर ऐसे बडे जोर से ।
दौडे खेल छोड छोड बालक जो ठौर ठौर,
दीखे वीथियो मे बहे वारि की हिलोर से ।
मार कर कूक मानो मोरनी भी प्यार भरी
बोली बार बार छिपने को कही मोर से ।[1]

घबडाहट की द्रुतगति का यह काफी अच्छा चित्र है । तुमुल कोलाहल के योग से चित्र सवाक हो उठा है । इस पद्य मे गति की तीव्रता और ध्वनि की तुमुलता मूर्तिमन्त हो गई है ।

यह तो हुई पूरे चित्रो की बात जिनमे अनेक वाक्य खण्ड चित्र के विभिन्न अवयवो को उभारते है । किन्तु कभी-कभी कविगण एक ही रेखा के द्वारा—एक ही अनुभाव के अकन के द्वारा बडे कौशल से चित्र उपस्थित कर देते है । गुप्त जी के प्रौढतर काव्य मे भी अनक रेखा चित्र उपलब्ध है । दो एक उदाहरण लीजिए । नशस कस द्वारा काराबद्ध दीन देवकी बडी उत्सुकता से अपने उद्धारक कृष्ण की बाट जोह रही है । निम्न पक्ति मे उनकी करुण दैन्यपूर्ण दशा का अकन देखिए—

लगी सतृष्ण देवकी की वह कातर दृष्टि उसी पर[2]

आप देखते है कि एक ही अनुभाव के चित्रण से करुण दृष्टि असहाय देवकी का चित्र सामने आ जाता है । चित्र ही नही कस की क्रूरता और कृष्ण द्वारा उसके वध की सारी कथा भी मन मे घूम जाती है । इस प्रकार कवि ने एक रेखा के द्वारा ही सम्पूर्ण चित्र का अनुभव करा दिया । साकेत से एक उदाहरण देता हूँ जहाँ यह एक रेखा भी काफी हल्की है । राम के वन से लौट आने पर तपस्वी भरत से उनके मिलाप का चित्र है—

हिल हिल कर मिल गई परस्पर लिपट जटाएँ[3]

लक्ष्य करने की बात है कि यह एक पक्ति कितनी सारगर्भित है । राम और भरत चौदह वप के पश्चात् मिल रहे है । इस चौदह वष के अन्तराल मे राम

---

१ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० २५
२ द्वापर, सस्करण सवत् २००५, पृ० १२४
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३२९

तापस वेष मे रहते है—और भरत घर मे ही वनवास ले लेते है। दोनो की काली कुचित अलके रुक्ष जटाओ मे परिवर्तित हो जाती है। दोनो की जटाओ के 'हिल हिल कर' मिल जाने से प्रगाढालिगन का सकेत मिलता है और इस मिलन चित्र के साथ ही दोनो की चौदह वर्ष की तपस्या, उस तपस्या के कारण और बीच मे आने वाली विघ्न बाधाओ की स्मृति हो आती है। इस एक पक्ति के द्वारा चित्र विशेष ही नही सम्पूर्ण वृत्त चल चित्रो की भाति घूम जाता है।

अभी तक जितने चित्र प्रस्तुत किए गए है वे सभी मानव-चित्र है—सब मे मानवीय रूप अथवा चेष्टाएँ आभासित है। वास्तव मे गुप्त जी ने अधिकाशत अकन भी मानव-चित्रो का ही किया है—वे मूलत मानवीय सम्बन्धो के कवि है। मानवेतर सृष्टि पर उनकी दृष्टि कम ही जाती है। फिर भी प्रकृति चित्रो का उनके काव्य मे एकान्ताभाव नही है। सर्वप्रथम उनकी एक प्रारम्भिक कृति 'पद्य प्रबन्ध' से एक प्राकृतिक चित्र देखिए। वनवास काल मे एक बार लक्ष्मण के कार्यवश जगल मे चले जाने पर राम और सीता प्राकृतिक छटा देख रहे है। सीता कहती है—

देते जो द्विज-गान-पूर्ण तरु ये पुष्पादि की सम्पदा,
पूजा-सी करते सुमन्त्र पढ के मा-मेदिनी की सदा।

× × ×

क्रीडा-पूर्वक वन्य जीव फिरते कैसे सभी ओर हैं,
देखो मेघ-समान देख तुमको वे नाचते मोर है।
नापे थे जिसके सुनेत्र तुमने मेरे दृगो से मिला,
आके पास अहो! मृगी यह वही ग्रीवा रही है हिला॥[1]

आप देखते है कि ये पक्तियाँ पढने के पश्चात कोई सश्लिष्ट चित्र उपस्थित नही होता—वस्तु-परिगणन की प्रवृत्ति मात्र परिलक्षित होती है। एक उदाहरण और लीजिए—

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विचरता था वासान्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुत शशि थे सर मे प्रतिभात।[2]

प्रकृति का यह चित्र भी विशेष आकर्षक नही है—फिर भी पहले चित्र से

---

१ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० ११-१२
२ वन-वैभव, सस्करण सवत् २००५, पृ० २०

काफी अच्छा है। मैथिलीशरणकृत सर्वश्रेष्ठ प्रकृति-चित्र पचवटी और साकेत मे मिलेगे। दोनो से एक-एक उदाहरण लेकर इस प्रसग को समाप्त करता हूँ। पचवटी का तो आरम्भ ही प्रकृति वर्णन से होता है—

चारु चद्र की चचल किरणे खेल रही है जल-थल मे,
स्वच्छ चान्दनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल मे।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणो की नोको से,
मानो झीम रहे है तरु भी मद पवन के झोको से॥[1]

शुभ्र-ज्योत्स्ना मे पृथ्वी पुलकित है। आनन्द मत्त वृक्ष मन्द पवन मे 'झीम' रहे है। प्रकृति का कैसा सहज-प्रसन्न और आह्लादकारी रूप है। मानवीकरण ने इसे और भी सजीव बना दिया है। 'नग-नाग चित्रकूट की शोभा भी विशेषत द्रष्टव्य है—

शिला-कलश से छोड उत्स उद्रक सा,
करता है नग-नाग प्रकृति अभिषेक-सा।
क्षिप्त सलिलकण किरणयोग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न मणि-सम्पदा।
वन-मुद्रा मे चित्रकूट का नग जडा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष-विस्मय बडा?[2]

देखिए निर्जीव पर्वत पर जीवन्त गजराज के व्यापारो का आरोप कितनी कुशलता से हुआ है। यदि झरनो और विकीर्ण जल सीकरो का सीधा विवरण दे दिया जाता तो उनमे कभी यह सौन्दर्य दृष्टिगत न होता। किन्तु इस विषय मे यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण गुप्त जी के काव्य मे दो-चार ही मिल सकते है—अधिक नही।

वर्ण-योजना

चित्रण-कला के साथ ही कवि की वर्ण-योजना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—वर्णों की व्यवस्थित योजना ही तो चित्र है। वास्तव मे उसी के काव्य म उत्कृष्ट चित्रो की उपलब्धि हो सकती है जिसे वर्णों का सूक्ष्म परिज्ञान होगा। सस्कृत मे कालिदास और अग्रेजी मे कीट्स रगो की व्यवस्था मे बहुत निपुण थे। इसीलिए वे अपने-अपने साहित्य को अत्यन्त समृद्ध चित्र

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ११३

भेट कर सके है। हिन्दी मे भी विद्यापति, सूर, देव और बिहारी के नाम इस विषय मे उल्लेखनीय है। किन्तु हिन्दी मे इस कला के सब से बडे कोविद सुमित्रानन्दन पन्त है—वे इस क्षेत्र मे अद्वितीय है। गुप्त जी पन्त के समान सजग शिल्पकार नही है। अत उनके काव्य मे वर्णों की कुशल योजना का सन्धान व्यर्थ है। रगो का प्रसग आने पर वे प्राय बात को इस प्रकार टाल जाते है—

कोट कलशो पर प्रणीत विहग है,
ठीक जसे रूप वैसे रग हैं।[1]

फिर भी गुप्त जी से कृती कलाकार के काव्य मे वर्ण योजना के कई अच्छे उदाहरण मिल जाएँगे। इस विषय मे यह स्मरणीय है कि रगो की यह व्यवस्था एकदम अनायास है—सचेष्ट शिल्पकारो के समान यत्नसाधित नही। सब से पहले एक ही रग की उज्ज्वल आभा का अवलोकन कीजिए—

चारु चन्द्र की चचल किरणें खेल रही ह जल-थल मे
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल मे।[2]

अठखेलिया करती हुई चन्द्र किरणो एव विश्व व्यापी ज्योत्स्ना की धवलता के प्रभाव से पृथ्वी और आकाश श्वेत है। अत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी यह विवरण कैसा चन्द्रिका-धवल है! यदि रग की और अधिक चमक देखनी हो तो उषाकालीन लालिमा का निम्नलिखित स्फुरण चाहिए—

स्वर्णालोक पूर्ण नभ है,
जो सूना था सु-प्रभ है।
× × ×
यह सोने की मूर्ति उषा,
नवस्फूर्ति की पूर्ति उषा।
× × ×
वह ललाट सिन्दूर अहा।
देखो कैसा दमक रहा।
× × ×
यह सोने का थाल लिये,
उज्ज्वल उन्नत भाल किये।

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १४

२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५

सृष्टि तुम्हारे लिए खडी,
दृष्टि तुम्हारी किधर पडी।[1]

यह रक्ताभ उषा का वर्णन है। उषा की दो विशेषताएँ है—लालिमा और चमक। कवि ने कितन कौशल से 'स्वर्णालोक', 'सोने की मूर्ति', 'ललाट सिन्दूर' और 'सोने का थाल' आदि शब्दावली का प्रयोग करके लालिम कान्ति का दृश्य उपस्थित किया है। परन्तु मैथिलीशरण जी ज्योत्स्ना, उषा आदि के उज्ज्वल एव उद्भासित रगो की ही नही कालिमामय कलुषित वर्णों की भी योजना करते है। जय भारत से एक उदाहरण लीजिए—

सब ओर असित आवरण निशा का घोर घना तम छाया,
छिप गई उसी मे श्रान्त-क्लान्त सी शिथिल सृष्टि की काया।
मारी मेघो की फूक पवन ने दिव के दीप बुझाये,
गोडे तमसा ने माग सदा के सूझे और सुझाये।[2]

रात्रि का समय है, गहन अन्धकार छाया हुआ है। आकाश मेघो से आच्छादित है—नैश दीप नक्षत्र भी छिप जाते है। इसलिए जाने-पहचाने माग भी दिखाई नही देते—चारो ओर कालिमा ही का प्रसार है, सम्पूर्ण सृष्टि उसी मे लीन है। यहा कालिमा का वैभव द्रष्टव्य है। पर एक बात आप देख रहे है कि आलोच्य कवि के चित्रो मे रगो की जगमगाहट नही है—वर्णों की प्रखरता का अभाव है। कवि के जीवन मे भी जगमगाहट एव प्रखरता ग्राह्य नही और काव्य मे भी उसी की प्रतिच्छाया मिलती है।

अभी तक हमने जो उदाहरण लिए उनमे एक ही रग का वैभव था। उसका निरूपण अपेक्षाकृत सरल होता है। कवि के वर्ण-परिज्ञान की परीक्षा तो वास्तव मे अनेक वर्णों की योजना से होती है। हमारे कवि की विभिन्न वर्णों की योजना प्राय परम्परागत है, यथा—

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाडिम का समझ कर भ्रान्ति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है[3]
आदि।

फिर भी कही-कही सर्वथा नूतन एव अछूते प्रयोग मिल जाएँगे। ऐसे प्रयोग

---

१ वैतालिक, सस्करण सवत २००८, पृ० ८-९

२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४०३

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २१

ही किसी कवि की शक्ति के परिचायक हुआ करते है। वैतालिक की निम्न पक्तिया देखिए—

हरे पॉवडे बडे बडे
जिनमे लाखो रत्न जडे
बिछा चुकी हे वसु धरा[1]

यहा पर कवि ने घास की हरीतिमा और हिम-बिन्दु की श्वेत आभा का आभास दिया है, वर्ण योजना का अच्छा प्रयास है। किन्तु वैतालिक तो आरभिक कृति है। बाद की रचनाओ मे आप वर्णो की और भी कुशल योजना देखेंगे। एक उदाहरण साकेत से उपस्थित करता हूँ—

क्षिप्त सलिल कण किरण योग पाकर सदा
वार रहे है रुचिर रत्न-मणि-सम्पदा

चमकते हुए जलबिन्दु सूर्य की किरणो के प्रभाव से और भी दीप्त हो जाते है। उस समय वे जलकण ही नही, रत्न और मणि बन जाते है। उनकी वह सतरगी आभा देखते ही बनती है—वर्णो की कैसी सूक्ष्म योजना है! अनेक वर्णो की सश्लिष्ट और सूक्ष्म-योजना का एक और उदाहरण लीजिए—

उत्थित वसुन्धरा से रत्नो की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी
अग मानो फूल, कच भृग हरी शाटिका
ओस मुसकान बन ओठो पर आई थी
सुरभि-तरग वायु-मण्डल मे छाई थी[3]

सुन्दरी हिडिम्बा का चित्र है। उसके गौर वर्ण, कृष्ण अलको, हरी साडी और श्वेत मुस्कराहट की योजना मे कवि ने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। सभी रग अपनी अलग आभा विकीर्ण कर रहे हे। कौशल है उन सब के सश्लेषण मे—एक साथ सभी की अनुभूति मे। अन्तिम पक्ति द्वारा तो कवि ने गन्ध का भी अनुभव कराने का प्रयत्न किया है। पूर्वोद्धृत पक्तियो के रग मे थोडी चटक है। किन्तु कही-कही रगो को बहुत ही हल्का करके मिलाया गया है, यथा—

---

१ वैतालिक, सस्करण सवत् २००८, पृ० ६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ११३
३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १२-१३

झलकता आता अभी तारुण्य है
आ गुराई से मिला आरुण्य है[1]

स्वास्थ्य, सौंदर्य और यौवन के मिश्रण से शरीर मे हल्की रंगीनी आ गई है। नव-यौवन की उस अरुणाभ गुराई मे सचमुच कितना आकर्षण होगा! अरुण एवं गौर वर्णों का यह मिश्रण निम्न पंक्तियो मे और भी सूक्ष्म हो गया है—

अरुण पट पहने हुए आह्लाद मे,
कौन यह बाला खडी प्रासाद मे ?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नही ?
कान्ति की किरणें उजेला कर रही।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।[2]

विहान की मधुर वेला मे अरुण पट भूषित प्रसन्नवदन उर्मिला प्रासाद मे खडी है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर से स्वर्णिम आभा फूट रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तिमन्त उषा ही हो। अभिप्राय यह कि शरीर की गुराई, वस्त्र की अरुणाई और वातावरण की दमक सब मिलकर एक हो गए है—अपनी अपनी आभा एक साथ विकीर्ण कर रहे है। रंगो की यह योजना कितनी कोमल-मधुर है। इनसे आगे की पंक्तियो मे तो कवि स्पर्श का भी अनुभव करा देता है—

कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प शिल्पी की कला।[3]

अन्ततः निष्कर्ष यह कि चित्रण एवं वर्ण-योजना आदि की ओर गुप्त जी का विशेष ध्यान नही है। विद्यापति और सूर तथा देव और बिहारी आदि के समान चित्रण शक्ति इस कवि मे नही है। उसकी कल्पना मे पन्त के समान सभी भावनाएँ मूर्तरूप मे नही उपस्थित होती। वर्णों का भी सूक्ष्म परिज्ञान मैथिलीशरण जी को नही है। चटकीले रंगो एवं रंगो की जगमगाहट का तो अभाव ही है। फिर भी वे कुछ अच्छे चित्र खीच सके है, कुछ स्थलो पर उनकी वर्ण-योजना भी स्तुत्य बन पडी है। यह उनकी प्रकृत कवि-प्रतिभा का प्रमाण

---

१ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १६
२ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १६
३ साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृ० १६

है। उनके चित्रो की सबसे बडी विशेपता है वैविध्य। जीवन और जगत के विभि न क्षेत्रो से उनकी सामग्री का चयन हुआ है। यही पर यह भी उल्लेख्य है कि गुप्त जी की चित्रण-शक्ति मे उत्तरोत्तर विकास होता गया है। उनके प्रौढतर काव्यो मे आपको अपेक्षाकृत अनेक उत्कृष्ट चित्र मिलेगे। चित्र तो आरम्भिक काव्य म भी है—कि तु उनमे अपरिपक्वता स्पष्टत परिलक्षित होती है। उपयुक्त विवेचन के अ तगत उदाहरणो के चयन मे इस तथ्य के स्पष्टीकरण का बराबर ध्यान रखा गया है।

अप्रस्तुत विधान

वण्य विपय की स्पष्टता एव सुबोधता के लिए कविगण अप्रस्तुत-योजना करते है। प्रकृत अथवा प्रस्तुत की गोचरता एव बोधगम्यता के निमित्त सभी कवियो ने जीवन के नाना किन्तु परिचित क्षेत्रो से अप्रस्तुत का विधान किया है। वस्तुत अप्रस्तुत-विधान अभिव्यक्ति को रमणीय एव सबल बनाने का सबसे सहज तथा उपयोगी साधन है।[१] इस अप्रस्तुत-विधान का मुख्य आधार है साम्य। पर पडित रामदहिन मिश्र के अनुसार अप्रस्तुत-योजना के मूल मे जन्म जन्मान्तरो की सचित वासना काम करती है।[२] लेकिन यह वासना तो अप्रस्तुत योजना ही क्या, काव्य मात्र के मूल मे अवस्थित रहती है। वास्तव मे जब हम अप्रस्तुत योजना के मूल आधार की बात करते है तो अभिप्राय हमारा यह होता है अप्रस्तुत के चयन मे कवि किस बात का विशेप ध्यान रखता है। इस दृष्टि से अप्रस्तुत का प्रमुख आधार साम्य ही है—किसी भी भाषा के साहित्य की अप्रस्तुत योजना के मूल मे अधिकाशत आपको किसी न किसी प्रकार की समता ही मिलेगी। साम्य के प्रमुख प्रकार तीन है रूप-साम्य अथवा सादृश्य, धर्म साम्य अथवा साधर्म्य और प्रभाव-साम्य। गुप्त जी के काव्य से इन तीनो प्रकार के साम्य के उदाहरण लीजिए

सादृश्य

प्रस्तुत के रूप एव आकार को स्पष्ट करने के लिए सदृश अप्रस्तुत का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि आज का कवि रूप रग के सादृश्य की अवहेलना करने लगा है—वह साधर्म्य एव प्रभाव-साम्य के प्रति अधिक सचेष्ट है, फिर

१ देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र, सस्करण सन् १९४९, पृ० १८२
२ काव्य में अप्रस्तुत योजना रामदहिन मिश्र, प्रथम सस्करण की भूमिका

भी सादृश्य का सर्वथा त्याग कोई नही कर सका—क्योकि वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है। अनादि काल से कवि-समाज सादृश्य का निरूपण करता आ रहा है। परिणामत बहुत से उपमान रूढ हो गए—किन्तु कालान्तर मे अतिरिक्त प्रयोग के फलस्वरूप उनका सारा सौन्दर्य बासी पड गया। आज के पाठक को उन पिष्टपेषित उपमानो मे कोई रस नही मिलता। अत अब सजग कवि उन्हे सयत्न बचाता है—वह अपनी रूप-चेतना को सवेदनीय बनाने के लिए नवीन अप्रस्तुतो की कल्पना करता है। लेकिन गुप्त जी के हृदय मे तो परम्परा के प्रति महती श्रद्धा है—उन्हे उसका सर्वथा त्याग स्वीकार्य नही। अतएव उनके काव्य मे 'कोमलता कज की है, कान्ति है कलाधर की'[1] आदि परम्परासिद्ध उपमानो का नियोजन आपको अनायास ही मिल जाएगा। साकेत जैसे प्रौढतम काव्य मे भी ऐसे अप्रस्तुतो का अभाव नही है। उर्मिला का रूपचित्रण करता हुआ कवि लिखता है—

पद्मरागो से अधर मानो बने,
मोतियो से दाँत निर्मित है घने।[2]

पद्मराग और मोती क्रमश ओष्ठ तथा दाँतो के लिए प्रसिद्ध उपमान है। पद्मराग की लालिमा तथा मौक्तिक की धवल कान्ति से इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु सतत प्रयोग ने इन उपमानो से सौदर्योदभावना की शक्ति का निराकरण कर दिया है। अत इनके प्रयोग मे असमर्थ परम्परा का पालन मात्र है—आज के पाठक को ऐसे उपमानो से सौन्दर्य की कुछ भी अनुभूति नही होती।

परम्परा-भक्ति के अतिरिक्त कवि की रूप-चेतना भी विशेष सूक्ष्म एव प्रखर नही है। फिर भी मैथिलीशरण प्रतिभासम्पन्न कवि है—उनके काव्य मे बिना प्रयास ही सादृश्य के कुछ अच्छे प्रयोग हो गए है। सबसे पहले आकार के सादृश्य का एक उदाहरण लीजिए—

"प्यार किया है तुमने केवल!" सीता यह कह मुसकाई,
किन्तु राम की उज्वल आँखें सफल सीपसी भर आई।[3]

अश्रु पूर्ण नेत्रो की तुलना सफल सीप से की गई है। अश्रुयुक्त नेत्र और मोतीयुक्त सीप मे वर्ण-साम्य भी है—किन्तु कवि यहाँ आकार का ही बोध

---

१ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृ० ९७

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १९

३ पचवटी सस्करण सवत् २००३, पृ० ४

कराना चाहता है। वास्तव मे इस उद्धरण का सौन्दय आकार के साम्य मे ही निहित है। पर आकारसाम्य सादृश्य का स्थूल रूप है। सादृश्य का वास्तविक सौदय तो रग और रूप के साम्य मे प्रकट होता है। गुप्त जी के काव्य मे इसका भी वैभव देखा जा सकता है। गुरुकुल की निम्नाकित पक्तियो का अवलोकन कीजिए—

तोपो के उस धुवाधार मे,
शस्त्र चमकते थे इस भॉति,
विद्युद्दाम दमक उठते है
घिरते मेघो मे जिस भॉति।[१]

तमसावृत युद्ध-स्थल मे चमकते हुए शस्त्रो वरन् चमक चमक कर अन्धकार मे विलीन हो जाने वाले शस्त्रो के स्वरूप-बोध के लिए कवि कैसा सटीक उपमान प्रस्तुत करता है। जिसने एक ओर घोर अन्धकार मे चमक-दमक कर विलीन होने वाले शस्त्र देखे है—और दूसरी ओर मेघाच्छादित आकाश मे तडित् का तीव्र तीक्ष्ण पर क्षणिक प्रकाश देखा है वही दोनो के सादृश्य का अनुभव कर सकता है। उपर्युक्त पक्तियो मे तोपो की गडगडाहट से थोडी ककशता आ गई है। एक कोमल-करुण उदाहरण लीजिए—

होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर चिन्ता चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म गौरव से गर्विता।
दीख पडी अश्रुमुखी धूल धुली माला सी,
किंवा धूमि-राशि मे से जागी हुई ज्वाला सी।[२]

इन्द्र के स्वग-भ्रष्ट और नहुष के इन्द्र हो जाने पर महादेवी शची घोर चिन्ता मे मग्न है। वे धूल से आवृत कुसुम के समान म्लान अथवा धूम्र-निहित वह्नि सदृश मलिन हैं। इस दु ख के अवसर पर असहाय अवस्था मे उन्हे अपने वीर-कृत्य स्मरण हो आते है। फलत वे अपने को अबला व अशक्त न समझकर आत्म-गौरव से दीप्त हो उठती है। शची की इस अकस्मात् परिवर्तित दशा की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए कवि ने दो उपमाएँ दी हैं। रुदनरत शची आत्मगौरव-सभूत दीप्ति के कारण धुली हुई माला के समान प्रतीत होने लगी (अश्रुबिंदु पुष्प-स्थित जलकण दिखाई दिए) या फिर चिन्ता की म्लानता मे तेज के उद्भास से वे घनीभूत धूम से समुद्भूत अग्नि-

१ गुरुकुल, सस्करण सवत २००४, पृ० १६६
२ नहुष, दशमावृत्ति, पृ० ७०

शिखा तुल्य शोभायमान हुई। मै समझता हूँ कि ये दोनो उपमाएँ कवि-हृदय मे उत्थित शची के जटिल रूप को सवेद्य बनाने मे सक्षम हे । यहा पर मे साकेत के बहुप्रशसित सादश्य निदशन को उदाहृत करने का लोभ भी सवरण नही कर सकता—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पकज-पक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरण रहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु मा को देख हुई जड रसना।[1]

अलकारहीना, श्वेतवस्त्रा विधवा कौशल्या के अभिशप्त व्यक्तित्व और हिमाच्छादित, पद्मपुज विहीन सरसी के विनष्ट अस्तित्व मे अद्भुत सादृश्य है। डा० नगेन्द्र इस उद्धरण के सादश्य-सौन्दय की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है—"इस चित्र मे कवि ने कौशल्या के विधवा-वेश को अकित करने मे सादृश्य का बडा ही सूक्ष्म विधान किया है। उसमे सादृश्य के कई तत्व है, इसीलिए रूप का बिंब बडा पूर्ण उतरा हे ।"[2]

साधर्म्य

साधम्य का आधार है धम अथवा गुण का साम्य । सादृश्य मे तो कवि का उद्देश्य पाठक को रूप-रग और आकार-प्रकार का बोध कराना ही होता है। किन्तु साधर्म्यमूलक उपमानो के द्वारा वह प्रस्तुत के गुण अथवा धर्म को प्रेषणीय बनाता है। और स्पष्ट शब्दो मे साधम्य के प्रयोग द्वारा कवि वस्तु की धम-विषयक आत्मस्थ अनुभूति को पाठक के लिए सवेदनीय बनाता है। आज सादृश्य का महत्व उतना नही रह गया है, शायद सदृश उपमानो के प्राय रूढ हो जाने से उनमे रस नही रहा। अब तो अधिकाँश अप्रस्तुतो के मूल मे आपको धम साम्य ही मिलेगा। आधुनिक कवि बडी कुशलता से साधम्य का प्रयोग करता हे । गुप्त जी ने भी अपनी रचनाओ मे इसका सफल उपयोग किया है। प्रमाण के लिए हम यहाँ केवल दो तीन उदाहरण उपस्थित करेंगे—

उडते प्रभजन से यथा तप मध्य सूखे पत्र ह,
लाखो यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।[3]

सूखे पत्तो और भूखे भिखारियो मे कोई सादृश्य नही है। दोनो मे कृशता

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २७३

२ साकेत एक अध्ययन, पचम सस्करण, पृ० १८१-१८२

३ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ८७

अवश्य है—पर केवल उसके बल पर इनमे रूप-साम्य नही मान सकते। वास्तव मे दोनो मे समता है उडने की, मारे मारे फिरने की। कवि ने शुष्क पत्तो के उडने की उपमा द्वारा भूखे भिखारियो की दुर्दशा को स्पष्ट किया है। ये पक्तिया मैथिलीशरण जी की आरम्भिक रचना से उद्धृत की गई है। अत इनमे विशेष चारुत्व का सधान व्यर्थ है। पचवटी की निम्न पक्तियो मे भी साधर्म्य की छटा देखिए—

हुई विचित्र दशा रमणी की सुन यो एक एक की बात
लगे नाव को ज्यो प्रवाह के और पवन के भिन्नाघात।[1]

लक्ष्मण शूर्पणखा को पूज्या मानकर उससे प्रेमालाप करने से इन्कार कर देते है। राम उसको अनुजवधू मानकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर देते है। उन दोनो के तर्कों मे उलझी हुई शूर्पणखा की स्थिति ठीक ऐसी ही है जैसे कि कोई नाव वायु और जल के सम्मुख विरोधी प्रवाहो मे फँसकर निकलने का रास्ता न पा रही हो। शूर्पणखा की अवर्णनीय दशा के स्पष्टीकरण के लिए साधर्म्य के आधार पर कवि ने कैसे सटीक अप्रस्तुत की योजना की है! यशोधरा के निम्न उद्धरण मे साधर्म्य का द्विगुणित प्रयोग हुआ है—

रवि पर नलिनी की, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तब जा रही,
वहा अक मे मधुप, यहाँ मै, गिरा एक गुण गा रही।[2]

जय भारत से भी साधर्म्य का एक उदाहरण लीजिए—

धुआ रहा था जो भीतर ही गीला-सा ईंधन पाकर,
हुआ प्रज्वलित दुर्योधन का द्वेषानल झोका खाकर।[3]

इन्द्रप्रस्थ स्थित 'मयकृत सभाभवन' के दर्शन कर ईर्ष्या मलिन दुर्योधन का करुणार्द्र द्वेष भडक उठा जैसे गीले ईधन की आग हवा के झोके से सुलग उठती है। पाण्डवो की समृद्धि देखकर जागृत दुर्योधन के आर्द्र द्वेष मे और वायु के झोके से प्रज्वलित गीले ईधन की आग मे सादृश्य का एकदम अभाव है। समता है केवल एक साथ भडक उठने के धर्म की। कवि ने सूक्ष्म बात को स्थूल अप्रस्तुत की सहायता से सहज बोधगम्य बना दिया है। बस, द्वापर से एक उदाहरण और देख लीजिए—

---

१ पचवटी, [illegible] सदन २००३, पृ० ३६
२ यशोधरा [illegible] सदन, २००७, पृ० ११७
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १३५

सील-सी लोकालय मे
रूढि बैठ जाती है[1]

जैसे किसी स्थान की सीत समाप्त होने म नही आती—वह अ दर ही अ दर गहनतर गह्वरो मे प्रविष्ट होती चली जाती है ऐसे ही जब कोई चीज रूढि बन जाती है तब उसे उखाडना असभव हो जाता है—वह दिन प्रतिदिन समाज मे घर करती चली जाती है । सील और रूढि का यह सा ाम्य कितना सूक्ष्म-तरल है !

प्रभाव-साम्य

सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य मे प्रभाव साम्य सर्वाधिक श्रेष्ठ और सूक्ष्मतम है । इसकी योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत के प्रभाव की समानता को ध्यान मे रखकर की जाती है । "इसका प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को सवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्टतर करने के निमित्त होता है ।"[2] सादृश्य और साधम्य स प्रभाव की अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । इसलिए उसे स्पष्टतर करने वाले प्रभाव-साम्य का इतना महत्त्व है । लक्षणा के पुजारी आधुनिक कवि की अधिकाश अप्रस्तुत योजना का आधार प्रभाव साम्य ही है । इसे देखकर प्राचीनतावादी पडित भी हर्षित है—"प्रसन्नता की बात है कि छायावादी युग की कविता प्राय प्रभाव-साम्य पर ही अधिक दृष्टि रखकर की गई है ।"[3] गुप्त जी के काव्य मे भी इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है । कुछ उदाहरण देखिए—

जी रही है देवराज्ञी कसे मरे अमरी,
मडरा रही है शून्य वृ त पर भ्रमरी[4]

इन्द्र-वियुक्त शची के लिए नीरस जीवन भार हो गया है—उन्हे अमरत्व के अभिशप्त वरदान को वहन करना पड रहा है । वे उसी प्रकार उल्लासरहित है जैसे कि निष्पुष्पा लता पर मडराती हुई कोई भृ गी । इन्द्राणी और भ्रमरी मे सादृश्य नही है । यहा साधम्य भी आपको नही मिलेगा । किन्तु अनाथ शची और शून्य वृन्त पर मडराती हुई भ्रमरी दोनो का अन्तिम प्रभाव मन पर एक ही पडता है—यही इन दोनो का साम्य है । देवराज्ञी की विषम स्थिति को

---

१ द्वापर, सस्करण सवत, २००२, पृ० ६३
२ देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र, सस्करण सन् १९४९, पृ० ८८५
३ काव्य में अप्रस्तुत योजना प० रामदहिन मिश्र, प्रथम सस्करण, पृ० ९४
४ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० ६

स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान शायद और नही हो सकता। जय भारत की निम्न पक्तियो मे भी प्रभाव-साम्य का ही चमत्कार है—

खलबल से व्याकुल कुल-ललना बाष्प वेग से बफरी सी,
अपने खिचते केशजाल मे तडप रही थी शफरी सी ।[1]

दु शासनकृत केश-कर्षण के समय व्याकुल द्रौपदी जाल मे अवरुद्ध मछली के समान छटपटा रही थी। यहा द्रौपदी और मीन के छटपटाने मे स्थूल साधर्म्य है पर उसमे कुछ सौदर्य नही है। सौदर्य निहित है दोनो के सम्मिलित प्रभाव की समता मे। जिन्होने कभी जाल मे फँसकर खिचती हुई मछली की तडफडाहट को देखा है, और जो बाल पकड कर खीची जाती हुई द्रौपदी की आकुल दशा की कल्पना कर सकते है वे लोग ही यह बता सकेंगे कि दोनो के सम्मिलित प्रभाव मे कितना अदभुत साम्य है।

अर्जन और विसर्जन की निम्न पक्तियो पर भी दृष्टिपात कीजिए—

टूटती ज्वलन्त एक तारा-तुल्य अपनी
लीक कर जाने के लिये ही तुम सहसा
मेरे शून्य भाग्य मे हा! उदित हुई थी क्या ?[2]

एक अस्वीकृत प्रेमी अपनी प्रेमिका को ये शब्द कहता है। टूटती हुई तारिका और प्रेमी को छोडकर जाती हुई प्रेयसी मे सादृश्य तो एकदम नही है—साधर्म्य भी न होने के बराबर है किन्तु साम्य है प्रभाव का। आकाश से टूटती हुई तारिका दर्शक के मन पर एक कोमल करुण लीक-सी छोड जाती है—ठीक ऐसा ही सघन प्रभाव मन पर उस समय पडता है जब कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को त्याग कर चल दे। प्रभाव-साम्य का यह निदर्शन कितना अनुभवगम्य है। साकेत से भी प्रभाव-साम्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते है। किन्तु मैं केवल एक उदाहरण देकर ही सन्तोष कर लेता हूँ—

हिया-पींजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मै शिला।[3]

यह नव-वय मे ही विश्लिष्ट उर्मिला की आत्माभिव्यंजना है। वह अपने को सिद्ध-शून्य शिला के सामान मानती है। वह प्रयोग कितना लाक्षणिक है! पति-वियुक्त उर्मिला के लिए सिद्ध-शून्य शिला कैसा सटीक उपमान है!

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १३६
२ अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, पृ० ५
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३९

विरहिणी का अवसाद से जडीभूत जीवन मन पर जो करुण प्रभाव छोड जाता है, सिद्ध रहित शिला की करुण शून्यता और विजन वातावरण की भयानकता भी वही प्रभाव डालती है। प्रभाव-साम्य का यह करुण-माधुर्य निश्चय ही आकर्षक है।

साकेत से ही सादृश्य के उदाहरण स्वरूप उद्धृत 'जिस पर पाले का एक पत सा छाया' आदि पद्य मे भी प्रभाव साम्य का सौदर्य देखा जा सकता है।— और 'रथ मानो एक रिक्त घन था' (साकेत) आदि छन्द तो प्रभाव-साम्य के उत्कृष्ट निदर्शन के रूप मे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। प्रदक्षिणा से एक उद्धरण और देख लीजिए—

मध्य भाग मे कुटिल भाग्य-सा
रक्खा था हर का कोदण्ड।[1]

सीता स्वयवर प्रसग चल रहा है। शिव-धनुष मच पर रखा हुआ है—वह वक्र है। उसकी वक्रता के द्योतनार्थ कवि कुटिलता के लिए प्रसिद्ध अप्रस्तुत—भाग्य—का विधान करता है। इस प्रकार धनुष का अत्यन्त टेढा मेढा आकार स्पष्ट होता है। दूसरे धनुष की गति भी भाग्य के समान ही कुटिल है। अर्थात् जैसे भाग्य का कुछ पता नही चलता—उससे पार पाना असम्भव है, वसे ही शिव धनुष से पार पाना भी कठिन है। तीसरे भाग्य की कुटिलता का उल्लेख होते ही मानव-मन कुछ असमर्थता का सा अनुभव करने लगता है। अशक्ति और असामर्थ्य की-सी वैसी ही अनुभूति शभुचाप की बात चलने पर भी होती है। अत दोनो का प्रभाव भी एक ही है। यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि प्रदक्षिणा के इस उदाहरण मे सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव साम्य तीनो का स्पृहणीय सगम है। अस्तु!

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् मुझे यह कहने मे तनिक भी हिचकचाहट नही है कि गुप्त जी को औपम्य-मूलक अलकार सर्वाधिक प्रिय है। चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से रहित कवि के लिए शायद सबसे उपयोगी भी वे ही है! मैथिलीशरण जी के काव्य मे औपम्य-मूलक अलकारो के उदाहरण प्रचुर मात्रा म यत्र-तत्र विकीर्ण है—एक से एक श्रेष्ठ उदाहरण पुष्कल परिमाण मे उपलब्ध है। ये पृष्ठ लिखते समय मेरे सामने चयन की जटिल समस्या बराबर बनी रही है। विवेचन से अधिक समय चयन मे ही लगा है।—और अब भी हमे पूर्ण सतोष नही है। अनेक अनुद्धृत पक्तियो के प्रति लेखक के मन मे मोह बना

---

१ प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृ० १५

हुआ है—किन्तु विस्तारभय से उन्हे छोडना पड रहा है।

इस विषय मे इतना और वक्तव्य है कि कवि ने जीवन और जगत् को अपनी समग्रता मे ग्रहण किया है। अत उसका अप्रस्तुत-योजना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसी कारण आपका उसके अप्रस्तुतो मे अत्यधिक विभिन्नता मिलेगी। एक ओर जहा नित्यप्रति के साधारण जीवन से गृहीत उपमान मिलेगे—

बस दीप से कज्जल सदृश निज पूवजो से हम हुए।[1]

या फिर,

चिन्तामयी मानो चिता
होती सुता है हे पिता।[2]

वहा समाज और राजनीति के व्यापक क्षेत्र से भी—

बाहर से कुछ दीखे न आज,
सब रहे किन्तु भीतर विराज।
रम रहा व्यक्ति मे ज्यो समाज।[3]

और प्रकृति की विस्तीर्ण क्रोड स लिए गए अप्रस्तुत तो सख्यातीत ही हे। केवल एक उदाहरण लीजिए—

बठी है सीता सदा राम के भीतर,
जसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर।[4]

एक बात और! गुप्त जी के काव्य-शिल्प का शनै शनै विकास हुआ है। साकेत के समय मे ही उन्हे प्रौढि की उपलब्धि हो सकी थी। इसीलिए साकेत तथा उसके पश्चात् की रचनाओ से उद्धृत उदाहरणो मे आपको प्रौढि एव परिमाजन के दशन होगे। किन्तु उनसे पहली रचनाओ—विशेषत पचवटीपूव कृतियो—मे से जो उद्धरण प्रस्तुत किए गए हे वे अपरिपक्व और दीप्तिहीन मिलेगे। उनका चयन केवल विकास-क्रम के स्पष्टीकरण के निमित्त किया गया है।

मूर्त्त और अमूर्त्त अप्रस्तुत

स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता की स्पष्टतर अनुभूति के निमित्त कविगण

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० १८७
२ वक-संहार, सस्करण सवत् २००२, पृ० १५
३ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० २४
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६३

क्रमश मूर्त्त एव अमूर्त्त उपमानो की योजना करते है । इसके चार रूप हो सकते है मृत्त का मूत्त विधान, अमूत्त का अमूत्त-विधान, मूत्त का अमूत्त विधान तथा अमूत्त का मूत्त-विधान इनमे से प्रथम दो तो सुगम और सहज-साध्य है—साधारण कवियो की रचनाओ मे भी उनका उपयोग देखा जा सकता है । किन्तु अन्तिम दो का वैभव श्रेष्ठ कलाकारो की कृतियो मे ही उपलब्ध होगा । वास्तव मे इन दो के विधान मे ही कवि कौशल की परीक्षा होती है । आलोच्य कवि की रचनाओ मे इनके उदाहरण प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध हे । पहले मूत्त के अमूर्त्त-विधान के कुछ उदाहरण लीजिए—

चला धन्य गुरु विजय पथ वह
यहाँ यवन भय के ही सग,
ग्रहणकाल भी दे जाता है
मन्त्रसिद्धि का योग अभग ।[१]

यवनो के अत्याचारो से पीडित समाज मे स्वरक्षा के निमित्त 'पथ' का शुभ जन्म हुआ । उस दूषित वातावरण मे भी श्रेय का उदभव हुआ जैसे कि ग्रहण के अमगल काल मे ही कतिपय विशिष्ट म त्रो की सिद्धि का मगल अवसर मिलता है । यहाँ यवन-राज्य मे पथ का चल निकलना यह उपमेय है जो मूर्त्त है । इस जटिल तथ्य को बोधगम्य बनाने के लिए ग्रहणकाल मे मन्त्रसिद्धि के अवमर जैसा अमूत उपमान ही उपयुक्त है । सिद्धराज से एक उद्धरण देखिए—

हाथी पर बैठा सिद्धराज जयसिंह था,
भाव मानो मूर्तिमान हो उठा था छन्द मे ।[२]

स्वास्थ्य और सौन्दय की प्रतिमा राजा जयसिंह गजराज पर सवार है—गज भी सवगुणसम्पन्न है । हाथी सवार के और सवार हाथी के अनुकूल है । परस्पर की इस अनुकूलता से सौन्दय बिखर रहा है । ऐसा प्रतीत होता है मानो अनुकूल छन्द पाकर भाव-सौन्दय उत्कीण हो रहा हो । अप्रस्तुत अनुभूतिगम्य अतएव अमूत्त है—किन्तु उपमेय के मूत्त सौ दर्य का बोध कराने मे समक्ष है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो स्वय अमूत्त है वह मूत्त की अनुभूति मे कैसे सहायक होगा ? इसका समाधान यह है कि कुछ अमूत्त भावनाएँ हमारे मन मे मूर्त्त वस्तुओ से भी अधिक स्पष्ट होती है । पूर्वानुभूत होने के कारण वे

१ गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृ० ३४
२ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० १०२

अमूर्त होते हुए भी अनेक मूर्त किन्तु अननुभूत तथ्यो की अपेक्षा हमारे निकट तर होती है। इसीलिए वे उन तथ्यो को हृदयगम करने मे सहायक सिद्ध होती है।

अजलि और अर्घ्य की निम्न पक्ति मे भी मूर्त महात्मा गाधी के लिए प्रयुक्त उपमान अमूर्त ही है—

आया था हम मे तू जय-सा
किन्तु अभय-सा चला गया[१]

और—

बुरे स्वप्न मे वीर आगया उद्बोधन-सा[२]

—तो गुप्त-साहित्य मे मूर्त के अमूर्त-विधान का एक श्रेष्ठ निदर्शन है ही। यह पक्ति लक्ष्मण शक्ति प्रसग से उद्धृत है। शोक सतप्त राम के शिविर म सजीवनी लेकर हनुमान के आते ही आशा की एक लहर दौड जाती है जैसे दुस्स्वप्न की विभीषिका मे जागरण से उल्लास का सचार हो जाता है। कैसा सटीक और भावाभिव्यजक उपमान है। किन्तु यदि पन्त के समान अमूर्त अप्रस्तुतो की झडी देखनी हो तो द्वापर से गोपियो की गोष्ठी के लिए नियोजित निम्नलिखित उपमानो का अवलोकन कीजिए—

श्रम कर जो क्रम खोज रही हो,
उस श्रमशीला स्मृति-सी,
एक अतर्कित स्वप्न देखकर,
चकित चौंकती धृति-सी,
होकर भी हुई न पूरी,
ऐसी अभिलाषा-सी,
कुछ अटकी आशा सी, भटकी,
भावुक की भाषा-सी,
सत्य-धर्म-रक्षा हो जिससे,
ऐसी मर्म मृषा-सी,
कलश कूप मे, पाश हाथ मे,
ऐसी भ्रान्त तृषा-सी,

---

[१] अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ३९

[२] साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३१८

उस थकान सी ठीक मध्य मे,
जो पथ से आई हो,
× × ×
तुल्य दु ख मे हत-ईर्ष्या-सी,
विश्व व्याप्त समता-सी ।[1]
आदि ।

अब अमूर्त्त के मूर्त्त-विधान के भी दो-तीन उदाहरण देखिए—

फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज मे पैठा था,
मानो लोह-तन्तु मोती को बेध उसी मे बैठा था ।[2]

माण्डवी के मुख-मण्डल का चित्रण है—वह तप के तेज से दीप्त है । पर उस दीप्ति मे विषाद का मालिन्य भी है । इस म्लान दीप्ति की स्पष्टतर अनुभूति के लिए—भावमय अमूर्त्त रूप को सहज-ग्राह्य बनाने के निमित्त कवि मूर्त्त उपमान उपस्थित करता है मानो वह लौह तन्तु-बिद्ध मोती हो । मौक्तिक की सहज कान्ति के प्रसार मे जैसे लौह-तन्तु बाधा उपस्थित करता है वैसे माण्डवी के तेज-दीप्त मुख के अकृत्रिम सौन्दर्य का प्रकाश विषाद की मलिनता से व्याहत है । इस प्रकार कवि ने बडे चातुर्य से एक अमूर्त्त तथ्य को मूर्तमन्त कर दिया है । जय भारत से भी एक उदाहरण देखिए—

यदि जीवित होती, क्या कहती माद्री मुझ से आज,
शल्य-बिद्ध-सा विकल हो गया विवश शल्य नरराज ।[3]

दुर्योधन के कपट-कृत्य के वशीभूत होकर मद्रराज शल्य को उसकी ओर होना पडता है । अनीप्सित कर्म करने की विवशता के कारण उन्हे अत्यधिक मानसिक कष्ट है । वे स्वभागिनेय पाण्डवो के कल्याणकामी है—किन्तु प्रतिश्रुत होकर उनको पक्ष लेना पडता है कुरुराज दुर्योधन का । मन और शरीर के इस असामजस्य के कारण, परिस्थिति के भीषण वैषम्य के कारण वे विवश हैं । उनकी वृत्तिया विकीर्ण हैं ।—और यदि उनकी बहन माद्री जीवित होती तो इस तरह शत्रु का पक्ष लेते देखकर वह क्या कहती—यह ध्यान आते ही तो वे तडप उठते है । महाराज शल्य की इस तडफडाहट और अकुलाहट का उपमान है शल्यबिद्ध व्यक्ति । अभिप्राय यह कि उनके मन मे द्वन्द्वजनित इतनी पीडा

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० १६१, १६२ और १६४
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २६१
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २१८

और व्याकुलता थी जितनी कि शल्य से बिद्ध होने पर किसी के शरीर मे होती है। यहा कवि ने मन की अमूर्त्त भावना के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत की योजना करके उसे गोचरता प्रदान की है। मगल-घट मे सकलित 'भीष्म प्रतिज्ञा' शीषक कविता के निम्नोद्धृत पद्य मे भी यही बात देखी जा सकती है—

यो देख शोभा उसकी गम्भीर,
तत्काल भूपाल हुए अधीर।
क्या देख पूर्णेन्दु नितान्त कान्त,
कभी रहा है सलिलेश शान्त ?[१]

यहा धीवर कन्या योजनगधा पर लुब्ध महाराज शान्तनु के मानसिक उद्वेलन का अनुभव कराने के लिए कवि ने कुशलतापूर्वक वैसे ही मूर्त्त अप्रस्तुत का विधान किया है। अस्तु !

धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग

मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत-विधान से भी अधिक आकषक एव सप्रभाव अभिव्यजना प्रणाली है धम के स्थान पर धर्मी का प्रयोग। कविगण प्रभाव को तीव्रता प्रदान करने मे इसका उपयोग करते है। निश्चय ही किसी वस्तु गुण अथवा धर्म के बदले स्वय उस वस्तु का उल्लेख होने पर सवेदन मे तीव्रता आ जाएगी। किन्तु यह प्र ोग बहुत कठिन है। इस प्रणाली को अपनाते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि धर्म के लिए प्रयुक्त धर्मी परम्परा से उसी धर्म-विशेष के लिए प्रसिद्ध हो। और स्पष्ट शब्दो मे धर्मी ऐसा होना चाहिए कि हम सस्कारत उसके उल्लेख मात्र से वाछित धर्म को ग्रहण कर सके। छायावादी कवियो मे इस प्रणाली का विशेष प्रयोग मिलेगा। महाकवि पन्त को निम्न पक्तियो मे इसके उपयोग के कारण कितनी रमणीयता है—

उषा का था उर मे आवास
मुकुल का मुख मे मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव मे भास
विचारो मे बच्चो के सास ![२]

छायावादी न होने पर भी युग-प्रतिनिधि मथिलीशरण जी मे इस प्रवृत्ति

---

१ मगल-घट, प्रथमावत्ति, पृ० ६५

२ आधुनिक कवि २ (पन्त), छठा सस्करण, पृ० ११

का अभाव नही है। उनके दो तीन प्रयोग देखिए—

(१) **'तुम पर आप जयसिंह निछावर है।'**
"मुझ पर!" आके लगी मूठ सी गुलाल की
रानक को, ।[1]

राणा खगार अनिद्य सुन्दरी रानकदे से बात कर रहे है। वे उसे सूचना देते ह कि जेता जयसिंह भी उस पर मुग्ध है। यह सुनते ही रानकदे के मुख पर लज्जा की लालिमा दौड जाती है मानो गुलाल की मूठ आ लगी हो। गुलाल अपने रक्तवर्ण के लिए प्रसिद्ध है। अत रानकदे की लज्जा की सघन लालिमा अथवा घनीभूत लज्जा की अनुभूति मे सहायक है। एक उदाहरण पृथिवीपुत्र से लीजिए—

तुमसे सॉझ मिले प्रिय मुझको, मुझसे तुम्हे सवेरा।[2]

यहॉ पर विराम के लिए 'साझ' और उल्लास एव प्रकाश के लिए 'सवेरा' का प्रयोग हुआ है। ये दोनो उपमान अपने इन गुणो के लिए परम्परा से प्रसिद्ध है वरन् यो कहिए कि प्रतीक बन गए हैं। ऐसे उपमान ही इस प्रणाली मे उपयोगी सिद्ध होते है। काबा और कबला की निम्न पक्ति की भी यही विशेषता है—

पशु बाईस सहस्र उधर वे लडने वाले।[3]

गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' पर महाप्रजावती की यह उक्ति तो अत्यन्त तीव्र है—

किया मुझे कैकेयी तूने।[4]

कैकेयी के समान कुख्यात न कहकर कैकेयी ही कह देने मे निश्चय ही अतिशय तीव्रता है—उक्ति विशेषत प्रभावपूर्ण बन गई है।

धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग

इसके विपरीत लेखकगण व्यक्ति अथवा वस्तु के स्थान पर गुण या धर्म का प्रयोग भी करते है। धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग करने मे यदि कवि का उद्देश्य तीव्रता होता है तो अभिव्यजना की इस प्रणाली का लक्ष्य व्यापकता हुआ करता है। उदाहरण लीजिए—

---

१ सिद्धराज, तेरहवा सस्करण, पृ० ६५
२ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृ० ५०
३ काबा और कबला, द्वितीय सस्करण, पृ० ८१
४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० २८

हित मे अहित अहित मे ही हित
किन्तु मानता है अविवेक ।[1]

यहा अविवेकी न कहकर अविवेक कहा गया है, जिसने निश्चय ही उक्ति के प्रभाव को व्यापक बना दिया है । यदि धर्मी का प्रयोग किया जाता तो उसका क्षेत्र प्रसगगत व्यक्ति-विशेष तक सीमित रहता—किन्तु धर्म के प्रयोग से इसका क्षेत्र-विस्तार हो गया है । साकेत की निम्नोद्धृत पक्ति की सप्रभावना का कारण भी यही विशेषता है—

राक्षसता उनको विलोक कर
थी लज्जा से लोहित सी ।[2]

राम-लक्ष्मण के आर्योचित सात्विक कर्मों को देखकर राक्षस अपनी हीनता पर, अपने दूषित कृत्यो पर लज्जित थे । कवि ने राक्षसो के स्थान पर उनके गुण अथवा धर्म राक्षसता का प्रयोग करके अपनी बात को अधिक गम्भीर और व्यापक बना लिया है ।—और काबा और कबला के इस उद्धरण—

नगी होकर नची जहाँ वह दानवता है ।[3]

—मे दानवो के स्थान पर दानवता के प्रयोग ने अत्याचार की उस विभीपिका को द्विगुणित कर दिया है । इनके अतिरिक्त उक्ति को चमत्कृत एव वक्रतापूर्ण बनाने की और भी कई युक्तियो का प्रयोग गुप्त-साहित्य मे मिलेगा, जैसे

१ कर्त्ता के स्थान पर काय का ग्रहण—

शका-समाधान दोनो का
यो ही चिर आलाप चला ।[4]

२ आधेय के स्थान पर आधार का प्रयोग—

भरी भरी फिरती है तेरे
अचल-धन से धरती ।[5]

३ अश की जगह अशी का प्रयोग—

सुख-दु ख दोनो दृष्टियो से सृष्टि सुध-बुध खो रही ।[6]

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० ६२
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २७८
३ काबा और कर्बला, द्वितीय सस्करण, पृ० ८१
४ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० १०१
५ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० १५३
६ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ६४

अथवा—

लिपि मुद्राओ भूमि-भाग्य की दमको-दमको ।[1]

४ अशी की जगह अश का ग्रहण—

जब अचल की छाया पाली,

तब क्या तप, क्या वृष्टि ?[2]

५ साधक के स्थान पर साधन का वर्णन—

ढाल लेखनी, सफल अ त मे मसि भी तेरी ।[3]

मानवीकरण

यह भी अभिव्यक्ति को कलापूर्ण बनाने की एक उत्तम युक्ति है। इसमे निर्जीव पदार्थों, अमूत भावनाओ अथवा अवयव-विशेष पर मानवीय गुणो का आरोप किया जाता हे। जिससे उनकी सवेदनशीलता मे पर्याप्त वृद्धि होती है। अगेजी मे तो मानवीकरण को अलकारत्व-पद ही प्राप्त हो गया है। किन्तु हमारे यहाँ अलकारो का विवेचन और ही ढग से होने के कारण इसे यह पदवी नही मिल सकी। फिर भी भारतीय कवि चिरकाल से जाने-अनजाने इसका थोडा-बहुत प्रयोग करता रहा है। कालिदास ने तो मेघ को दूत बनाकर मानवीकरण के प्रति अपने असीम अनुराग का परिचय दिया है। हिन्दी के प्राचीन कवियो—विशेषत विद्यापति, सूर, तुलसी, देव आदि—मे भी प्रयास करने पर कुछ उदाहरण मिल सकते है। कि तु इसका प्रचुर प्रयोग आधुनिक काल मे ही हुआ है—प्रसाद, पन्त और निराला की रचनाएँ मानवीकरण से परिपूर्ण है। हमारे कवि ने भी इस विधि को अपनाकर अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उसकी आरम्भ-कालीन रचनाओ मे भी मानवीकरण का सौन्दय देखा जा सकता है—

कान पकड कर मन को,

प्रिय का गुण जाल खीच झट लेता है ।[4]

मन एक अगोचर इन्द्रिय है—किन्तु कवि ने मानवता का आरोपण करके उसे शरीर के रूप मे उपस्थित किया है। तभी तो उसका कान पकडकर खीचा

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ४०६

२ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० ६४

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २९४

४ चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृ० ७७

जा रहा है। इस उद्धरण मे तो मानव अगो का आरोप सूक्ष्मेन्द्रिय मन पर हुआ है। निम्न पक्तियो मे स्थूल अवयव नासिका को सशरीर व्यक्तित्व प्रदान किया गया है—

जन्म दिया जिसने तुमको फिर,
पाला, बराबर अन्न खिलाया।
नाक की नाक तुम्हारे लिए यही,
चद्र की चाँदी जो चान्दनी लाया।'

इसी तरह कवि अमूत यौवन को भी मानव शरीर दे देता है—और फिर वार्द्धक्य द्वारा उसके दात तोडने, अग भग करने आदि का उल्लेख करता है—

बोल, युवक, क्या इसीलिए है
यह यौवन अनमोल हाय!
आकर इसके दात तोड दे,
जरा भग कर अग-काय ?[२]

यहाँ मानवीकरण की सहायता से कवि यौवन और जरा के चिरसघर्ष की अपनी गहरी अनुभूति को मूत रूप देने मे समर्थ हो सका है। अब लीजिए भावना पर मानवीय व्यापारो के आरोप का एक उदाहरण—

नहीं अन्ध ही किन्तु बधिर भी अबला वधुओ का अनुराग[३]

यहा अबलाओ के अनुराग को अन्धा और बहरा बताया गया है—वह कवि के सामने अमूर्त्त न होकर साकार प्रतिमा के रूप मे आता है। अतएव कवि ने उस पर मानव-गुण आरोपित कर दिया है। अबला वधुओ के अनुराग की मूर्ति होने के कारण वह अन्ध और बधिर है—क्योकि कामिनिया प्रेम के वशीभूत हो जाने पर न कुछ देखती है और न कुछ सुनती है। मानवीकरण के साथ-साथ लक्षणा का चमत्कार भी द्रष्टव्य है। साकेत के इस उद्धरण—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मै आऊँ।[४]

—मे शिशु स्वभाव एव चेष्टाओ का आरोपण और भी स्पष्ट है। रुदन और गान दो हठी बालको के समान शत लगाए बैठे है।

---

१ स्वदेश सगीत, प्रथम सस्करण, पृ० १२०
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० १४
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २८०
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३६

निर्जीव पदार्थों मे गुप्त जी ने केवल प्रकृति का ही मानवीकरण किया है। यद्यपि वे मानव और मानवता के गायक है—मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति के प्रति उनके मन मे छायावादी कवि का सा सहज अनुराग नही है फिर भी उन्होने अपनी रचनाओ मे यथा प्रसग प्रकृति चित्रण किया है।—और तन्मयता के क्षणो मे उन्होने कही-कही उसका मानवीकरण भी कर दिया है। केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करना यथेष्ट होगा—

है बिखेर देती वसुन्धरा मोती, सबके सोने पर
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी सध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है।[1]

बिखेरना, बटोरना, देना—ये सब मानवीय व्यापार है। प्राकृतिक वस्तुओ पर इन क्रियाओ का आरोप करके उनका मानवीकरण किया गया है। यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पृथ्वी से आकाश तक, हिमबिन्दुओ से तारागण तक विस्तीर्ण विराट् क्रिया-कलाप को कवि ने किस कौशल से मानवीय रग दिया है। साकेत मे छाया का मानवीकरण और भी अधिक कौशल से हुआ है—

कहीं सहज तरु तले कुसुम शय्या बनी,
ऊघ रही है पडी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दलपुज मे,
जगा रही है उसे हिलाकर कुज मे।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट सी पलट लेटती है वहीं।[2]

मानव-चेष्टाओ का आरोप इससे अधिक और क्या होगा? यहाँ पर कवि ने मानवीकरण की अपनी अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। इसे किसी भी छायावादी कलाकार की रचना के समकक्ष रखा जा सकता है। साकेत मे ये पक्तिया पढते ही मेरे मन मे तो छाया को मानव-रूप मे उपस्थित करने वाली पन्त की बहु-प्रशसित कविता—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
आदि।

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ७

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ११०

—अकस्मात् ही घूम जाती है। गुप्त जी के उक्त उद्धरण मे मानवीकरण-सौन्दय के साथ उनके सूक्ष्म पयवेक्षण की भी दाद देनी पडेगी। लेकिन उनके काव्य मे ऐसे उदाहरण दो एक ही मिलेगे—अधिक नही।

नारीत्व का आभास

'कही सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी' आदि पूर्वोल्लिखित उद्धरण मे आपने एक बात लक्ष्य की होगी कि छाया को अद्धनिद्रित पाश्व-परिवर्तन करती हुई नायिका क रूप मे उपस्थित किया गया है। उस उपस्थितीकरण मे मानवीकरण का वैशिष्टच है—अचेतन पर चेतन के आरोपण का सौन्दय है। किन्तु उस सौदय का बहुत कुछ श्रेय नारीत्व को है। यदि नायिका के अतिरिक्त और किसी चेतन व्यक्तित्व का आरोप छाया पर होता तो निश्चय ही सौन्दय मे अशत कमी आ जाती। नारी की 'सुन्दर कोमलता' का कुछ प्रभाव ही ऐसा है कि जहाँ भी उसका उल्लेख होता है वही अभिनव सौन्दय की विचित्र सृष्टि हो जाती है। कहने का तात्पय यह कि प्रकृति के जिन चित्रो मे नारीत्व का आभास मिलता है वे विशेषत रमणीय होते है। अधुनातन कवियो मे इस प्रवृत्ति का विशेष विकास दृष्टिगत होता है। हमारा कवि भी उससे अछूता नही रह सका।

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।[1]

यहाँ वर्णन है विलीन होती हुई सन्ध्या और बढती हुई रात्रि का। उनको देखा गया है दो मुग्धा नायिकाओ के रूप मे। शृगारित-प्रसाधित रात्रि कुतूहल-वश, 'नूतन खेल' देखने के लिए अपने आगे खडी हुई सन्ध्या को धकेल कर आगे बढ रही है।

पावस के आगमन पर चिर-तृषित वनस्थली की तुष्टि हो जाती है, कम से कम कुछ दिन के लिए तो उसे शान्ति मिल ही जाती है—

लेकर सुख की सास स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।[2]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ४५
२ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १७३

प्राकृतिक वरान के पीछे झाकना हुआ चिन्तामुक्त आगतपतिका का मधुर-तरल चित्र उसे किनना आकषक बना देता है।— और निम्नाकित पक्तियो मे गरिणका के विलासी व्यक्तित्व का आरोपण भी देखिए—

तारक-चिह्नदुकूलिनी पी-पी कर मधुमात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र ।[1]

एक स्थान पर तो अमूत्त नियति पर भी नारी-सुलभ चेष्टाएँ आरोपित है—

नियति, कितना स्वप्नमय है यह असित अभिसार तेरा ?[2]

यहा कृष्णाभिसारिका की मनोरम कल्पना ने नियति के कुटिल कराल चक्र को भी रमणीय बना दिया है। अस्तु !

विशेषण-विपर्यय

मानवीकरण के साथ-साथ विशेषण-विपयय पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। पश्चिम के इन दोनो अलकारो को आज के कवियो ने वडे मनोयोग से अपनाया है। मानवीकरण का उल्लेख तो पहले ही हो चुका है। विशेषण-विपर्यय भी उसी के समान काव्य की श्रीवृद्धि मे सहायक एक सशक्त साधन है। इसमे विशेषण को उसके वास्तविक—अभिधा द्वारा निर्धारित—स्थान से हटाकर किसी दूसरे स्थान पर रख दिया जाता है। इस स्थानान्तरण के मूल मे भारतीय आचाय की प्रयोजनवती लक्षणा रहती है। विशेषण-विपयय के उपयोग से जहा उक्ति वक्र और चमत्कारपूर्ण बनती है वहा भाव-गाम्भीय की व्यक्ति भी सहज ही हो जाती है। श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु के अनुसार 'भावाधिक्य की व्यजना के लिए विशेषण विपयय अलकार का व्यवहार बहुत सुन्दर है।'[3] यह अलकार, उक्ति की यह विधि यद्यपि पश्चिम की देन है फिर भी प्राचीन काव्य मे इसका एकान्तभाव नही है। काव्य के उस अतल पारावार के डुबकी लगाने पर उदाहरण मिल ही सकत है, यथा—

ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अनदघन
सुरस बरसि लाल देखि हौं हरी हमे।[4]

यहा 'भाग उघरी घरी' का उल्लेख किया गया है। शुभ घडी मे मनुष्य

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २२०

२ कुणाल-गीत, सस्करण सवत २००२, पृ० ३८

३ काव्य म अभिव्यजनावाद, द्वितीय सस्करण, पृ० १५'

४ काव्य-दपरण प० रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृ० ४३३ से उद्धृत

का भाग्य खुला करता है—किन्तु कवि ने विशेषण-विपर्यय से घडी को ही खुले भाग्य वाली बना दिया है।

प्राचीनो के काव्य मे उदाहरण प्राप्त होने पर भी यह प्रवृत्ति आधुनिक काव्य की ही विशेषता है। आज का कवि इसका सयत्न प्रयोग करता है। गुप्त जी ने भी किया है। बस, अन्तर केवल इतना है कि और कवि तो विशेषण-विपयय के प्रति सचेष्ट है—किन्तु उनमे प्रयत्न का अभाव है। इसीलिए उनके विपुल काव्य मे भी इसके बहुत कम उदाहरण है, पर है अवश्य इन्द्र-पदारूढ महाराज नहुष को 'शुक्ल-श्यामाग सौभाढचा', चिरयौवना उवशी कामोपभोग का निमन्त्रण देती है—

आपमे हमारा काम आज मूर्त्तिमन्त है।
चलिए न, नन्दन मे उत्सुक वसन्त है।।[१]

यहा वसन्त की उत्सुकता का उल्लेख किया गया है। पर वास्तव मे वसन्त उत्सुक नही है वरन वसन्त के प्रभाव से उल्लसित नन्दन वन का चिर उपभोगी अप्सरा समाज नए इन्द्र के सम्पर्क के लिए उत्कण्ठित है। कवि ने उक्ति मे वैचित्र्य तथा विशेष अर्थ के समाहार के लिए वसन्त को ही उत्सुक कह दिया है। एक उदाहरण और लीजिए—

मै अपने लिए अधीर नही,
स्वार्थी यह लोचन-नीर नही।[२]

राम और सीता के आराध्य युग्म के साथ ही लक्ष्मण के भी अयोध्या का परित्याग कर वन को चले जाने पर दुखी उर्मिला अपनी सखी सुलक्षणा को यह बात कह रही है। वह उसे समझा रही है कि मैं इस समय अपने लिए व्यग्र नही हूँ—मेरे रुदन का कारण अपने स्वार्थ की अपूर्ति अथवा उसके पूर्ण होने की आशा का अभाव नही है। और स्पष्ट शब्दो मे यह बता रही है कि मैं स्वार्थी नही हूँ पर कवि ने विशेषण-विपर्यय से 'लोचन-नीर' को ही अस्वार्थी कह दिया है। इससे कथन मे वक्रता तो आ ही गई है—उसके साथ ही अद्भुत समास गुण भी! 'स्वार्थी यह लोचन-नीर नही' मे विशेषण-विपयय का उपयोग न करके इसमे समाविष्ट भाव को यदि अभिधा के द्वारा प्रकट किया जाता तो कुछ इस प्रकार की बात कहनी पडती—मेरे नेत्रो से अश्रुपात हो रहा है, इसे देखकर तुम यह सोच सकती हो कि मै अपने सुखाभाव के कारण

---

१ नहुष, दशमावृत्ति, पृ० ३७

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ११७

रो रही हूँ। किन्तु यह बात नही है—मै इतनी स्वार्थिनी नही हूँ। इतनी लम्बी बात को विशेषण-विपर्यय के बल पर ही कवि केवल एक पक्ति—'स्वार्थी यह लोचन नीर नही' मे आबद्ध करने मे समथ हो सका है। 'शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाकी' मे भी विशेपरण-विपयय का ही सौन्दय है। इस विपय मे यह भी ज्ञातव्य है कि मैथिलीशरण जी ने विशेषण-विपयय के आचाय रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिगमित प्रकार का भी प्रयोग किया है, यथा—

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने की।[1]

लेकिन ऐसे उदाहरण गुप्त जी के काव्य मे बहुत कम है।

अन्य अलकार

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त मानवीकरण एव विशेषण विपयय जैसे पाश्चात्य अलकारो तथा औपम्यमूलक उपमानो का विवेचन हो चुका है। अल्पाश मे उन्होने अन्यान्य प्रकार के अलकारो एव अप्रस्तुत योजनाओ का प्रयोग भी किया है। कवि की अभिव्यजना प्रणाली के पूण परिचय के लिए उनका उल्लेख भी आवश्यक है। यहा पर उन्ही का दिग्दशन कराया जाएगा।

सम्भावनामूलक अप्रस्तुत

कुछ उपमानो का सौन्दर्य सादृश्य, साधर्म्य अथवा प्रभाव-साम्य मे न रह-कर सभावना मे निहित रहता है। कल्पना-प्रधान कवि बडे मनोरम सभावित उपमानो की कल्पना किया करते है—उन्हे यही पर अपनी कल्पना की उन्मुक्त उडान भरने का अवसर मिलता है किन्तु हमारा कवि कल्पना-प्रिय कवि नही है, फिर भी उसके काव्य मे कुछ मनोरम सभावनामूलक अप्रस्तुत योजनाएँ सहज-प्राप्त है। केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पहुँचे गगा तीर धीर, धृति धार कर
यह थी एक विशाल मोतियो की लडी
स्वर्ण-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर पडी
सह न सकी भव ताप अचानक गल गई[2]

गगा को गली हुई मौक्तिक माला बताया गया है। मौक्तिक-माला के द्रव मे और गगाजल मे जो रग का सादृश्य है वह तो बहुत स्थूल है। वास्तव मे

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३१
२ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० ६६

यहा रमणीयता नहीं सादृश्य की सभावना की है। कल्पना का विलास ही इसमे द्रष्टव्य है। साथ ही उसके स्वग से गिरने, भव-ताप से द्रवित होने आदि का उल्लेख होन क कारण इस लोक मे गगा के अवतरण की पौराणिक कथा मन मे घूम जाती है। जिससे यह सम्भावना और भी प्रभावपूर्ण बन जाती है।

आरोपमूलक अलकार

व अलकार जिनके मूल मे किसी न किसी प्रकार से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण रहता है, आरोपमूलक कहलाते है। प्राचीनो के रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्राति, उल्लेख और अपह्नुति इसी प्रकार के अलकार हैं। हमारे कवि ने भी आरोपमूलक अलकारो का काफी प्रयोग किया है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वण वर्ण सदैव जिनके हो विभूषण कर्ण के,
क्यो न बनते कविजनो के ताम्रपत्र सुवण के ?[१]

विरहिणी उर्मिला पर रुदन्ती (जडी विशेष) का आरोप किया गया है। कवि ने अद्भुत कौशल से रूप की योजना की है। निम्नोद्धृत पक्तियो मे भी साग रूपक की छटा देखिए—

निशि की अधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य मे तेरे, न जान, कौन सज्जा हो रही!
मेरी नियति नक्षत्रमय ये बीज अब भी बो रही,
मै भार फल की भावना का व्यथ ही क्यो ढो रही ?[२]

आरोपमूलक अलकारो के दो एक उदाहरण और लीजिए—

उस काल मारे क्रोध के तनु कापने उनका लगा,

मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयाथ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ।।[३]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १९५
२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ६३
३ जयद्रथ वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० ३६

उत्थित वसुन्धरा से रत्नो की शलाका थी,
किवा अवतीण हुई मूर्तिमती राका थी ।[१]

या

नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रांति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ।[२]

इनमे से प्रथम मे 'मिस' शब्द के द्वारा क्रुद्ध अर्जुन पर काल का, दूसरे उदाहरण मे सन्देह के द्वारा हिडिम्बा पर भिन्न-भिन्न वस्तुओ का आरोप किया गया है । अन्तिम पद्य मे अधर की लालिमा से प्रभावित नाक के मोती मे दाडिम के बीज का और उर्मिला की नाक पर शुक का आरोपण है ।

प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का विधान

कभी-कभी अप्रस्तुत प्रस्तुत को निगीर्ण ही कर जाता है अर्थात प्रस्तुत सवथा अनुल्लिखित रहता है—उसके स्थान पर वर्णन होता है अप्रस्तुत का । इसमे ध्यान रखने की बात यह है कि अप्रस्तुत-योजनाएँ ऐसी हो जिनसे प्रस्तुत के ग्रहण मे कोई बाधा न पडे । नही तो यह भूषण न होकर दूषण हो जाएगा । रूपकातिशयोक्ति एव अन्योक्ति आदि के मूल मे यही विशेषता रहती है । गुप्त जी के काव्य से इसके उपयोग के केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पजर भग्न हुआ, पर पछी अब भी अटक रहा है आय ।[३]

× × ×

गजराज पक मे धसा हुआ,
छटपट करता था फँसा हुआ ।
हथनियाँ पास चिल्लाती थी,
वे विवश विकल बिल्लाती थीं ।[४]

× × ×

अरे विहग, लौट आ, तेरा
नीड रहा इस वन मे,

---

१ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, पृ० १२
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ८९
३ प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृ० ७३
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १११

छोड उच्चपद की उडान वह,
क्या है शून्य गगन मे ?[१]

पहली पक्ति मे मरणासन्न जटायु, दूसरे छन्द मे राम वियोग मे छटपटाते महाराज दशरथ और तीसरे पद्य मे गोपियो द्वारा मथुरा-स्थित कृष्ण के प्रति निवेदन का आलेखन हुआ है। ये सभी उदाहरण स्वय व्यक्त है, इनके विवेचन की आवश्यकता नही है। वास्तव मे ऐसे उदाहरणो का गुण भी यही हैं।

चमत्कारमूलक अलकार

उत्तम काव्य का मूलोद्देश्य सहृदय के मन का प्रसादन है। किन्तु इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि उसमे अल्पाश मे बौद्धिक विस्मय भी निहित रहता है। प्रसादन और विस्मय के मणि-काचन सयोग से काव्य की रोचकता एव दीप्ति मे वृद्धि होती है। किन्तु इन दोनो का मिश्रण उचित अनुपात मे होना चाहिए। जो लोग विस्मय अथवा चमत्कार का एकान्त विरोध करते है उनकी रचना मे एकरसताजनित अरुचि आ जाती है—और जो लोग चमत्कार के चक्कर मे पडकर भाव की हत्या करते है उनका काव्य खिलवाड बन जाता है। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि चमत्कारमूलक अलकार उन्हे विशेष प्रिय नही है। ऐसे अलकारो के उदाहरण उनके काव्य मे गिनती के ही मिलेगे।—और जो है भी उनमे चमत्कार भावाभिव्यजना मे साधक ही हुआ है बाधक नही—

हा! नेत्र युत भी अन्ध हूँ, वैभव-सहित भी दीन हूँ,
वाणी विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गति-हीन हूँ।[२]

अथवा—

देखो, दो दो मेघ बरसते,
मै प्यासी की प्यासी![३]

यहाँ विशेषोक्ति अलकार है—कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य सम्पन्न नही होता। किन्तु चमत्कार आधृत यह अलकार उत्तरा अथवा यशोधरा के विलाप की गभीरता मे बाधक नही है वरन् उनकी असहाय अवस्था की

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० १८५

२ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० २६

३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ११६

प्रभावपूर्ण व्यजना मे सहायक ही सिद्ध हुआ है। और भी दो एक उदाहरण लीजिए—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
कि तु समझो, रात का जाना हुआ।
क्योकि उसके अग पीले पड चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड चले।[1]

× × ×

प्राण तो हैं, कि-तु कोई प्राणी नही जिनमे
एक है जो, कि-तु ऐक्य भाव नहीं जिनमे।[2]

× × ×

दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण पक्ष ही।[3]

ये सब उदाहरण चमत्कारमूलक अलकारो के है—प्रथम मे विभावना, द्वितीय और तृतीय मे विरोधाभास का उद्भास है। किन्तु आप देखते है कि आलकारिकता कही भी भाव व्यजना मे व्याघात नही डालती। अन्तिम पक्ति को छाडकर और कही तो अलकारत्व का भान भी नही होता।—और उसमे भी कोई क्लिष्ट कल्पना नही है। वरन् उसकी आलकारिकता सहज ग्राह्य है।

आतिशय्यमूलक अलकार

प्रभावक्षमता की वृद्धि के निमित्त कविगण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। मानव स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह विषय के साधारण वर्णन से प्रभावित नही होता—अतिशयोक्तिपूर्ण उपस्थिति से ही उसमे वाछित प्रभाव की सृष्टि की जा सकती है। अतएव आतिशय्यमूलक अलकार चिरकाल से प्रभाव की सिद्धि के लिए मुख्य साधन रहे है। पर अतिशयोक्ति का महत्त्व साधन रहने मे ही है। जब वह स्वय साध्य बन जाती है, भाव और प्रभाव को भूलकर जब कवि आतिशय्य को ही उद्देश्य मान बैठता है तब उसकी रचना काव्य न होकर बौद्धिक कसरत मात्र रह जाती है। किन्तु इस बौद्धिक ऊहापोह मे इतना आकर्षण है कि बिहारी जैसे रससिद्ध कवि भी उसके प्रयोग का लोभ सवरण नही कर पाए। उनके—

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १७
२ पृथि ीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृ० ४६
३ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ३४

इत आवति, चलि जाति उत चलि छसातक हाथ ।
चढी हिडोरे-सी रहे, लगी उसासन साथ ।।[1]

—आदि दोहो म जमीन आसमान के कुलावे मिलाने वाली यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है । भाव की सप्रभाव व्यक्ति के साधन के स्थान पर जब अतिशयोक्ति स्वय साध्य बन बैठती है तब भाव की इसी तरह मट्टी पलीद हुआ करती है । सौभाग्य से हमारे कवि मे इस प्रवृत्ति का एकान्ताभाव है । चमत्कारमूलक अलकारो के समान ही आतिशय्यमूलक अलकार भी उसे प्रिय नही है । फिर भी कोई कवि आतिशय्य मे बिल्कुल बच नही सकता । हाँ, गुप्त जी न उसे साधन रूप मे ही स्वीकार किया है । अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते है—

(१) **शर खींच उसने तूण से कब किधर सन्धाना उन्हे,**
बस बिद्ध होकर ही विपक्षी वृन्द ने जाना उन्हे ।[2]

(२) **वहाँ हष के साथ कुतूहल छा गया,**
नाव चली या स्वय पार ही आगया ।[3]

प्रथम उद्धरण मे अभिमन्यु के अद्भुत युद्ध कौशल तथा द्वितीय मे नाव की तीव्र गति के वर्णन आतिशय्य का उपयोग हुआ है । किन्तु आप देख रहे है कि यह प्रयोग किसी प्रकार भी उपहासास्पद नही है वरन् भाव की सप्रभाव व्यजना मे सहायक ही है । अतिशयोक्तिपूर्ण अन्य वर्णनो की भी यही विशेपना है ।

अन्तत निष्कष यह कि गुप्त जी के काव्य मे प्राय सभी अलकार विद्यमान है । अभिव्यजना की सभी श्रेष्ठ प्रणालियो का सुष्टु प्रयोग हुआ है । अपेक्षाकृत औपम्यमूलक अप्रस्तुत योजनाए अधिक है । उनके प्रसूत निदर्शन सहज उपलब्ध है । किन्तु चमत्कारमूलक अलकार बहुत कम है—और जो है भी वे साधन-रूप मे ही आए है । साध्य कभी नही बन पाए । यह कवि की समृद्ध भावुकता का परिणाम है । उधर विशेषण-विपयय, मानवीकरण, धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग और धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग आदि लक्षणामूलक अलकार उसके कलात्मक दृष्टिकोण के परिचायक है । इन अभिव्यजना-प्रणालियो के कई प्रयोग तो अत्यन्त उत्कृष्ट है जो किसी भी छायावादी रचना

---

१ बिहारी-बोधिनी, ला० भगवानदीन 'दीन', दोहा न० ४९६
२ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृ० १०
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १०४

के प्रतियोगी के रूप मे उपस्थित किए जा सकते हैं।

साधारणत मैथिलीशरण जी के काव्य को अलकारहीन कह दिया जाता है। किन्तु उपर्युक्त परिदशन के पश्चात् इस भ्रम का निवारण हो जाना चाहिए। अभिव्यना की विभिन्न प्रणालियो के निदशन-स्वरूप पूर्वोद्धृत अवतरण अलकृत स्थलो का अश-मात्र हैं। और भी एक-से-एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकने हे। अत गुप्त जी का काव्य अलकृतिहीन नही है। हा, अलकार के प्रति आग्रह उनको कभी नही रहा है। इसीलिए उनकी रचना अलकार-भूषित तो है—किन्तु अलकार-मुखर नही। यहा पर यह भी उल्लेख्य है कि आलोच्य कवि के अलकार के उपकरणो का क्षेत्र अधिकाश आधुनिक कवियो के समान परिमित नही है। वरन् उनमे जीवन व्यापी विस्तार मिलता है जो उसे सूर, तुलसी प्रभृति साहित्यिक महारथियो की समकक्षता प्रदान करता है।

(ग) भाषा

भाषा अभिव्यक्ति का सहज और सवश्रेष्ठ माध्यम है। चाहे वह ईश्वर-प्रदत्त हो या व्यक्तिकृत—निश्चय ही वह सबल और निर्भ्रांत अभिव्यजना का अनिवार्य साधन है। भाषा के आविष्कार से पहले मनुष्य किस प्रकार विचार-विनिमय करते होगे आज इसकी कल्पना भी हमारे लिए असह्य और असम्भव है, फिर भी कोई ऐसा युग रहा होगा अवश्य! और नहीं, कम से कम ऐसा युग तो निश्चय ही रहा होगा जिसका शब्दकोष सौ-पचास शब्दो तक ही सीमित था। प्रमाण के लिए कही दूर जाने की आवश्यकता नही है। हमारे कवि द्वारा प्रयुक्त उस खडी बोली को ही लीजिए जिसे हम लिखते, पढते और बोलते है। आज यह काफी समृद्ध और समय है—इसमे कोमलता और मसृणता, पौरुष और ओज तथा कान्ति और माधुय—ये सभी गुण सुतरा उपलब्ध है। पर यह सदा से ऐसी ही नही चली आई है—अनेक सस्थान इसके जीवन-पथ मे रहे हैं। शुरू-शुरू मे इसकी शब्द-सख्या भी अल्प ही थी। विस्तृत देश की वृहत् योजनाओ एव हृदय के 'गहनतर गह्वरो की सूक्ष्म भाव वीचियो' की अभिव्यक्ति मे सक्षम खडी बोली का शब्द-भण्डार भी आरम्भ मे निश्चित रूप से सकुचित ही था। आरम्भ मे ही क्यो, साहित्य क्षेत्र मे मैथिलीशरण जी के

पदार्पण के समय भी वह निर्धन और अपुष्ट थी—मार्दव एव कान्ति का तो उसमे सर्वथा अभाव ही था। ऐसी क्षीण-कोशा और अपरिमार्जित भाषा उन्हे उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी। उसके वर्द्धन और मार्जन मे कवि के योगदान का विवेचन एव मूल्याकन करने से पूर्व हिन्दी साहित्य के पूर्व मैथिलीशरण युगो के काव्य मे खडी बोली के प्रयोग का सक्षिप्त दिग्दर्शन भी आवश्यक है।

गुप्त जी से पूर्व काव्य-भाषा के रूप मे खडी बोली

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृत और अपभ्र श के पश्चात् हिन्दी का उद्भव हुआ। किन्तु परवर्ती अपभ्र श मे भी स्पष्टत हिन्दी के लक्षण विद्यमान हैं अतएव कतिपय भाषाविद् तो उसे पुरानी हिन्दी कहना ही अधिक पसद करते है। "मध्यकाल के पहले भाग मे हिन्दी की पुरानी बोलियो ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खडी बोली का रूप धारण किया।"[1] इनमे से ब्रज और अवधी तो साहित्यिक भाषाओ के रूप मे स्वीकृत हुईं—उनमे प्रचुर मात्रा मे काव्य प्रणयन हुआ, किन्तु खडी बोली वर्तमान काल से पहले उपेक्षित ही रही। इसीलिए उसकी उत्पत्ति के विषय मे अनेक विद्वानो को भ्रान्ति रही है। उपर्युक्त तथ्य से अपरिचित मनीषियो ने खडी बोली को एक नवाविष्कृत भाषा माना। खडी बोली के सम्बन्ध मे दूसरा भ्रम यह भी रहा है कि उसका निर्माण उर्दू के फारसी-अरबी के शब्दो क स्थान पर सस्कृत शब्द रखकर किया गया है। किन्तु यह सब एकदम अशुद्ध है। इसके विरुद्ध सबसे बडा तर्क यह है कि रामप्रसाद निरजनी, इशाअल्ला खाँ, सदलमिश्र, लल्लूलाल तथा सदासुखलाल की रचनाओ मे उपलब्ध भाषागत प्रौढि और वाक्यगत विन्यास किसी नव-निर्मित भाषा मे नही आ सकते।

उपर्युक्त भ्रान्तियो का मुख्य कारण शायद यह है कि विक्रम की बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक काव्य-भाषा के रूप मे ब्रज का एकच्छत्र राज्य रहा है, (और उस समय तक हिन्दी साहित्य मे काव्य के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं) खडी बोली अन्याय उप-भाषाओ के समान उपेक्षित होकर 'एक कोने मे पडी रही'। लेकिन, जैसा कि शुक्ल जी कहते है, "किसी भाषा का साहित्य मे व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नही है कि उस भाषा का अस्तित्व नही था।"[2] वस्तुत खडी बोली की विद्यमानता का आभास अपभ्र श काल से

१ हिन्दी भाषा श्यामसुन्दरदास, सस्करण सन् १९५४, पृ० ४३-४४
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, प० रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ सस्करण, पृ० ४०८-४०९

ही बराबर मिलता चला आ रहा है। यह बात दूसरी है कि काव्य-भाषा के रूप में वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नहीं हुई।

खड़ी बोली की सर्वस्वीकृत विशेषता है, 'आ'कार-बाहुल्य। ब्रज की प्रवृत्ति 'ओ'कार की ओर है तो अवधी 'ए'कार-बहुला भाषा है। पुरानी हिन्दी और अपभ्रंश में इनकी ये परस्पर-भिन्न प्रवृत्तियां ही इनके अस्तित्व की परिचायक है। इस दृष्टि से देखें तो खड़ी बोली का इतिहास भी काफी पुराना है, काव्य-भाषा के रूप में अंगीकृत न होने पर भी प्राचीन काल से ही उसका व्यवहार हो रहा है। सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (बारहवीं शताब्दी) में अपभ्रंश के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत—'भल्ला हुआ जु मारिया '—आदि प्रसिद्ध दोहे के भल्ला हुआ, मारिया आदि शब्दों में खड़ी बोली की उक्त विशेषता द्रष्टव्य है। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों के अन्य अनेक अपभ्रंश-कवियों की कृतियों में भी खड़ी बोली का विशेष लक्षण—'आ'कार प्रामुख्य—स्पष्टतः वर्तमान है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में विकसित हो रही थी। अपभ्रंश के पश्चात् रासो ग्रन्थ आते है—शायद हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ वे ही है। उनकी भाषा में भी खड़ी बोली की विशिष्ट प्रकृति स्पष्टतः परिलक्षित है। बीसलदेव रासो की निम्न पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

सुरनर मोह्या सुरगका।[1]

× × ×

दवका दाधा हो कूपल लेइ
जीभका दाधा न पाल्हवइ।[2]

—फिर चौदहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो ने तो खड़ी बोली के काफी परिमार्जित रूप का प्रयोग किया ही है, यथा—

एक पुरुष बहुत गुन भरा। लेटा जागे सोवे खड़ा॥
उलटा होकर डाले बेल। यह देखो करतार का खेल॥[3]

आप देख रहे हैं खड़ी बोली का कैसा व्यवस्थित और निखरा हुआ रूप है। परन्तु खुसरो की रचनाओं के ऐसे अंश एकान्ततः मौलिक और प्राचीन हैं। असल में खुसरो के नाम से प्रचारित सभी पहेलियों, मुकरियों और दो-

---

१ बीसलदेव रासो सं० डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, पृ० ७१
२ ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ६७
३ कविता-कौमुदी (पहला भाग), सं० रामनरेश त्रिपाठी सातवां संस्करण, पृ० ५२६

सखुने आदि को प्रामाणिक मानना असम्भव और असगत कल्पना है, फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उनमे निश्चित रूप से खडी बोली का पूर्वाभास है। अस्तु!

इसके बाद साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भक्ति काल आता है। उसमे भी खडी बोली की विद्यमानता का आभास है। प्रमाण के लिए निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त है—

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहि तर भला न होइ॥[1]

—कबीर

हरि-सा हीरा छाँडि कै, करै आन की आस।[2]

—रैदास

घीव दूध मे रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढें ते और॥[3]

आगे के काव्य मे भी खडी बोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन, तोष आदि कवियो की रचनाओ मे उसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध है। रहीम विरचित मदनाष्टक के अधोलिखित पद्य—

कलित ललित माला वा जवाहिर जडा था।
चपल चखन वाला चादनी मे खडा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥[4]

—मे खडी बोली का माधुर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार भूषण के—

तुझसे सवाई तेरा भाई सलहेरि पास,
कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा।[5]

—जैसे पद्याशो मे निश्चित रूप से खडी बोली व्यवहृत है।

मध्यकाल मे ही गद्य मे भी खडी बोली का प्रयोग आरम्भ हुआ। अकबर के समकालीन कवि गग ने 'चद छद वरनन की महिमा' की रचना खडी बोली

---

१ कबीर-ग्रथावली, स० श्यामसुन्दरदास, पाचवाँ सस्करण, पृ० ४
२ कविता-कौमुदी (पहला भाग), स० रामनरेश त्रिपाठी, पाचवा सस्करण, पृ० १६८
३ ,, ,, ,, ,, पृ० २७५
४ रहीम रत्नावली, स० मायाशकर याज्ञिक, तृतीयावृत्ति, पृ० ७३
५ भूषण-भारती, इडियन प्रेस (प्रयाग), प्रथमावृत्ति, पृ० १५३

गद्य मे की । इसकी भाषा परिमार्जित नही, फिर भी काफी व्यवस्थित और सहज ग्राह्य है । 'चद छद वरनन की महिमा' का देखने पर मन मे यह बात जम जाती है कि इसकी रचना के समय (१६वी शताब्दी मे) खडी बोली बोल-चाल की भाषा अवश्य रही होगी । रामप्रसाद निरजनीकृत 'भाषा योगवासिष्ठ' की स्वच्छ और व्यवस्थित खडी बोली को देखकर यह विश्वास और भी दृढ हो जाता है—क्योकि भाषा मे वैसा परिमाजन पर्याप्त प्रयोग के पश्चात् ही आता है । अतएव मध्यकाल मे खडी बोली को प्रचारित मान लेना सुसगत और साधार है ।

किन्तु मध्यकाल मे खडी बोली का निश्चित व्यवहार होने पर भी साहित्य मे वह आहृत कभी नही हुई—उसे काव्य-भाषा का स्थान तो कभी नही मिला । आधुनिक काल के प्रवतक भारतेन्दु ने भी खडी बोली का व्यवहार गद्य मे ही किया है । उनके पद्य मे प्राय चिरव्यवहृत ब्रज ही प्रयुक्त है--क्योकि ब्रजभाषा-काव्य का अभ्यस्त उनका रसिक मन खडी बोली को काव्योचित ही स्वीकार नही कर सका । प० बालकृष्ण भट्ट के अनुसार भी खडी बोली की कविता मे सरसता मनोहरता और काव्य-गुणो का समावेश असम्भव है ।[1] प० प्रताप-नारायण मिश्र का भी यही विचार था । किन्तु यह धारणा उचित नही है—निर्भ्रान्ति नही है । वास्तव मे किसी भी भाषा का सौरस्य एव माधुय एकान्तत वस्तुनिष्ठ नही हुआ करता वरन् अधिकाशत आत्मनिष्ठ ही होता है। इसकी पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है, हरिऔध जी अपने प्रिय-प्रावस की विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे इस विषय का विस्तृत विवेचन कर चुके है । उनका यह निष्कष सोलह आने सही है—"जिन प्राचीन विद्वान सज्जनो का सस्कार ब्रजभाषा के माधुय और कान्तता के विषय मे दृढ हो गया है और इस कारण उसकी ममता उनके हृदय मे बद्धमूल है, वे यदि कहे कि खडी बोली की कविता ककश होती है, तो इसमें आश्चय ही क्या !"[2] यह 'दृढ सस्कार' और 'बद्धमूल ममता' ही भारतेन्दु, भट्ट जी और मिश्र जी की पूर्वोल्लिखित धारणा का मूल है ।

धीरे-धीरे ब्रज का यह जादू उतरने लगा फिर भी बाबू हरिश्चन्द्र का इतना प्रभाव था कि उनके जीवन-काल मे कोई भी उनका विरोध न कर सका । खडी बोली म कविताएँ अवश्य लिखी गइ पर केवल खडी बोली का कोई कवि नही

---

१ दे० प्रियप्रवास, पचम सस्करण की भूमिका, पृ० १०

२ प्रियप्रवास, पचम सस्करण की भूमिका, पृ० २८

था। किन्तु भारतेन्दु के पश्चात खडी बोली का आन्दोलन बडे जोर-शोर से चल पडा। गद्य मे तो उसे भारतेन्दु के जीवनकाल मे ही प्रमुख स्थान मिल चुका था, वह आन्दोलन उसे पद्य मे भी उसी तरह ग्रहण करने के लिए हो रहा था। आन्दोलनकर्त्ताओ मे सर्वाधिक उग्र थे मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री, प्रतापनारायण मिश्र आदि उनका विरोध करते थे। किन्तु ईसा की बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते हवा ही बदल गई। दिन प्रतिदिन ब्रज-भाषा का स्थगन और उसके स्थान पर खडी बोली की प्रतिष्ठा होने लगी।

जनरुचि के इस परिवर्तन के मूल मे अयोध्याप्रसाद खत्री के उग्र प्रयत्नो को विस्मृत नही किया जा सकता, फिर भी गद्य की सर्वस्वीकृत भाषा खडी बोली को पद्य की प्रमुख भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का अधिकाश श्रेय प० महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही दिया जाना चाहिए। सन् १९०३ई० मे सरस्वती के सम्पादक पद पर आरूढ होते ही उन्होने गद्य और पद्य की भाषा के एकीकरण के निमित्त प्राणपण से प्रयत्न किया। यह प्रयत्न जारी तो पहले से ही था, किन्तु—"द्विवेदी जी का गौरव इस बात मे है कि उनके आदश, उपदेश और सुधार के परिणामस्वरूप ही हिन्दी ससार ने गद्य की भाषा को ही पद्य की भाषा स्वीकार कर लिया।"[1] उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियो ने खडी बोली मे लिखना शुरू किया तथा कुछ नये कवि प्रकाश मे आए जिनमे से एक मैथिलीशरण जी भी है। पत्र-पत्रिकाओ—विशेषत सरस्वती—मे खडी बोली की कविताओ की धूम मच गई, वह काव्य की प्रधान भाषा बन गई।

काव्य-क्षेत्र मे गुप्त जी के पदार्पण के समय खडी बोली की दशा

प्रमुख काव्य भाषा के पद पर आसीन होने पर भी खडी बोली का रूप अभी अनिश्चित और अस्थिर था। यद्यपि भारतेन्दु काल से ही वह गद्य की एकान्त भाषा चली आ रही थी फिर भी उसमे वाक्य-विन्यास और व्याकरण-सबधी अनेक त्रुटियाँ बनी हुई थी। ईसा की बीसवी शताब्दी के इन प्रारम्भिक वर्षों मे खडी बोली की अपरिपक्वता, अपरिमार्जन, शक्तिहीनता और शब्द-कोप क्षीणता का सभी विद्वानो ने उल्लेख किया है। आधुनिक युग के पूर्व-मैथिलीशरण काल मे तो खडी बोली लडखडा ही रही थी, प्रमाण के लिए निम्नाकित अवतरण देखिए—

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानुसिंह, प्र०मावर्ति पृ० २९१

(१) बरसा रितु सखि सिर पर आई पिय बिदेस छाए।
हमें अकेली छोड आप कुबरी सौं बिलमाए।।
सदेश भी नही भेजवाए।
वादे पर वादा झूठा कर अब तक नही आए।
बिथा सो कही नहि जाती।
पिया बिना मै व्याकुल तडपू नीद नहीं आती।।
रात अधेरी पथ न सूझ घोर घटा छाई।
रिमझिम रिमझिम बूद बरसै झोके पुरवाई।।
पपीहन पी पी रट लाई।[१]

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(२) सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तह छाई है।
अति की बसै मनुष्यो ही के मन मे अति अधिकाई है।।
× × ×
देखूँ हूँ मै इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी।।[२]

—श्रीधर पाठक

—पर साहित्य मे गुप्त जी के प्रवेश के समय भी स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। खडी बोली का अपना शब्द-भण्डार अब भी सीमित था—उस क्षति की पूर्ति के लिए सस्कृत और अरबी फारसी के शब्दो का उन्मुक्त आदान या फिर साधारण बोल चाल के भद्दे अनगढ और कवित्वहीन शब्दो का प्रचुर प्रयोग हो रहा था। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण जी के सहयोगी अथवा समसामयिक और उनसे पाच-दस साल पहले के कवियो के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) अजब है रगत दुनिया की।
बदलती रहती है तेवर।
किसी पर सेहरा बधता है।
उतर जाता है कोई सर।।[३]

—अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'

१ भारतेन्दु-ग्रन्थावली, स० ब्रजरत्नदास, सस्करण सवत् १९९१, पृ० ५०६
२ कलरव, स० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय सस्करण, पृ० ६३
३ पारिजात, हरिऔध, प्रथम सस्करण, पृ० २५८

(२) रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कालिका राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली ।[१]

—'हरिऔध'

(३) कामिनियो के मधुर मधुर रवकारक नव नूपुर-धारी,
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी ।
गुच्छे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण महा मनोहारी,
कली नवल पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी ।।[२]

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(४) वन-बीच बसे थे, फसे थे ममत्व मे, एक कपोत-कपोती कही,
दिन रात न एक को दूसरा छोडता, ऐसे हिले मिले दोनो वहीं ।
बढने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं,
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नही ।[३]

—रूपनारायण पाण्डेय

(५) कहीं गोचर भूमि मे साड सुडौल, भरे अभिमान सुहा रहे थे,
कहीं ढोरो को साथ मे लेके अहीर, मनोहर वेणु बजा रहे थे ।[४]

—लोचनप्रसाद पाण्डेय

(६) नृप नीति जगै न अनीति ठगै भ्रम भूत लगै न प्रजाधर को ।
झगडे न मचै खल खब लचै मद से न रचै भट सगर को ।।
सुरभी न कटें न अनाज घटें सुख भोग डटे डपटें डर को ।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शकर को ।।[५]

(७) करने चल तग पतग जलाकर मिट्टी मे मिट्टी मिला चुका हूँ ।
तम तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश मे ला चुका हूँ ।।
परवा न हवा की करें कुछ भी, भिडे जाके जो कीट पतग जलाये ।
निज ज्योति से दे नव ज्योति जहान को अन्त मे ज्योति से ज्योति मिलाये ।।[६]

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

---

१ प्रियप्रवास, पचम सस्करण, पृ० ३६
२ कवि-भारती, साहित्य सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृ० ११
३ कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृ० १३०
४. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति पृ० १३४
५ कलरव, स० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय सस्करण, पृ० ८१
६ कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृ० १५२

उपर्युद्धृत अवतरणो मे से १ और ७ मे उर्दू का पुट है तो ३ मे सस्कृत शब्दो की भरमार है, और २ की सस्कृत पदावली मे तो हिन्दी का सधान ही दुष्कर है। ५ और ६ मे सॉड, ढोरो, झगडे, डटे, डपटे, आदि अकाव्यात्मक शब्दो का प्रयोग तथा ४ की नीरस गद्यात्मकता कैसी भद्दी और अरुचि-उत्पादक है।

गद्य की दशा भी अच्छी नही थी। भाषा-सुधारक के रूप मे प्रसिद्ध आचार्य द्विवेदी की आरम्भिक रचनाएँ भी त्रुटिपूर्ण है। "उनकी आरम्भिक रचनाओ—'अमृत लहरी', 'भामिनी विलास', 'बेकन-विचार रत्नावली', 'हिदी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' आदि—मे लेखन-त्रुटियो, व्याकरण की अशुद्धियो और रचना सम्बन्धी दोषो की इतनी प्रचुरता है कि वे, भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतिया नही प्रतीत होती।"[1] असल मे आज अशुद्ध माने जाने वाले बहुत-से शब्द उस समय शुद्ध माने जाते थे। दूसरा कारण यह भी था कि वे पहले सस्कृत और मराठी के अध्येता थे—हिन्दी का अध्ययन उन्होने बाद मे किया। उनका प्रभाव भी हिदी के वास्तविक रूप के उद्भास मे बाधक रहा। किंतु आगे चलकर अपने व्यापक अध्ययन, गहन मनन और गम्भीर चिन्तन के द्वारा उन्होने अपनी भाषा का परिष्कार कर लिया। अपनी ही क्या, सरस्वती के सम्पादक की हैसियत से, द्विवेदी जी ने औरो की भाषा का भी मार्जन और शोध किया। कितने परिश्रम और मनोयोग से उन्होने यह कार्य किया शायद उसकी कल्पना भी आज असम्भव है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन मे सुरक्षित सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियो के अवलोकन से ही उस भागीरथ प्रयत्न का कुछ अनुमान हो सकता है। भाषा-सुधार के उस गुरु-कार्य के सामान्य परिचय के लिए द्विवेदी युग के शोध-कर्त्ता डा० उदयभानुसिंह के शोध प्रबन्ध 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (प्रथमावृत्ति) के २१३ से २४४ तक के पृष्ठ देखे जा सकते है। उस समय के प्राय सभी लेखको की भाषा द्विवेदी जी ने ठीक की है। उन लेखको मे से अध्यापक पूर्णसिंह 'पूर्ण', कामताप्रसाद गुरु, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, रामचरित उपाध्याय और गणेशशकर विद्यार्थी आदि के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। उपर्युक्त महानुभाव खडी बोली के यशस्वी, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक है। ये लोग भी आरम्भ मे भ्रष्ट भाषा लिखते थे। इनकी अपनी शिक्षा-दीक्षा मे कुछ कमी अथवा दोष

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग डॉ० उदयभानुसिंह, प्रथम आवृत्ति पृ० ११०

नही था वरन् यह युग की व्यापक प्रवृत्ति थी—द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादान से पूर्व शब्दो के अशुद्ध एव त्रुटिपूर्ण रूप यदि प्रशमित नही तो कम से कम अभिशसित भी नही थे।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपनी अतुल प्रतिभा से आधुनिक युग को आच्छादित करनेवाले आचार्य हो गए है। भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार सर्वमान्य है। आलोच्य काल मे वे भी—अन्तर्ध्यान, चैतन्यता, अस्थिपिंजर, समझी जाने लगी है—आदि—दुष्ट प्रयोग करते है—औरो की तो बात ही क्या! ऐसे ही समय मे हमारे कवि ने काव्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया। उसकी भाषा मे भी अनेक त्रुटिया थी—खडी बोली की दृष्टि से गलत प्रयोग थे। उदाहरण लीजिए—

> **ओढें दुशाले अति उष्ण अग,**
> **धारें गरू वस्त्र हिये उमग।**
> **तो भी करे है सब लोग सी, सी,**
> **हेमत मे हाय कँपे बतीसी।**

१९०५ ई० मे गुप्त जी ने 'हेमन्त' शीर्षक एक कविता सरस्वती मे छपने के लिए भेजी थी। ऊर्ध्वलिखित अवतरण उसी का अश है। इसमे 'ओढे' और 'धारें' क्रियापद अनुपयुक्त है—प्रकृत भाव की अभिव्यक्ति मे असमर्थ है। यहाँ 'ओढते है' के अर्थ मे 'ओढे' और 'धारते है' के लिए 'धारे' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ठीक नही है। 'करे है' और 'कँपे' भी अशुद्ध है। द्विवेदी जी ने सरस्वती मे छापने से पहले भाषा की इन त्रुटियो का परिहार किया। भाषागत त्रुटियो का परिहार ही क्या उन्होने शब्दो के स्थानान्तरण और परिवर्तन द्वारा इसे दीप्त किया। उपर्युक्त पक्तियो का द्विवेदी जी द्वारा शोधित रूप नीचे दिया जाता है—

> **अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले,**
> **है ओढते जो बहुवित्त वाले।**
> **तो भी नहीं बद अमन्द सी, सी,**
> **हेमन्त मे है कँपती बतीसी।**[1]

इस प्रकार उन्होने मैथिलीशरण जी की असमर्थ और अनुपयुक्त क्रियाओ को समर्थ एव भावाभिव्यजक बनाया। भाषा—विशेषत क्रियाओ की इस असमर्थता और भाव-प्रतिकूलता ने हमारे कवि को आचार्य द्विवेदी का

---

१ पद्य-प्रबन्ध द्वितीय सस्करण, पृ० १०६

कोपभाजन भी बनाया। 'क्रोधाष्टक' के निम्न पद्य—

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया।
जानें न वे तनिक भी अपना पराया।
होवे विवेक वर बुद्धि विहिन पापी।
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि।[1]

—को लेकर एक बार वे गुप्त जी पर बरस पडे थे—क्योकि इसमे प्रयुक्त क्रियाओ मे ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रोध को आशीर्वाद दिया जा रहा है। उपयुद्धृत पद्य का द्विवेदी जी द्वारा सशोधित रूप भी देखिए—

होती तुरत उनकी बलहीन काया,
वे जानते न कुछ भी अपना पराया।
होते अचेत वर बुद्धि-विहिन पापी,
रे क्रोध! जो जन तुझे करते कदापि।[2]

इस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत सशोधन के उपरान्त मैथिलीशरण जी की रचनाएँ सरस्वती मे प्रकाशित होती रही।

गुप्त जी की अपनी भाषा का क्रमिक विकास

ईसा की बीसवी शताब्दी के प्रथम दशाब्द तक आचार्य द्विवेदीकृत सशोधन के पश्चात् प्रकाशन का यही क्रम चलता रहा। सन् १६०६ ई० मे मैथिलीशरण जी की प्रथम पुस्तक 'रग मे भग' प्रकाशित हुई। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदेश और उपदेश के प्रभाव से अब तक उनकी भाषा कुछ सुधर चुकी थी। अत 'रग मे भग' की भाषा क्रोधाष्टक आदि के पूर्वोद्धृत छन्दो की अपेक्षा परिमार्जित है। 'रग मे भग' का सर्वप्रथम छन्द ही लीजिए—

लोक-शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सब-मगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है।[3]

इस पद्य मे अनेक दोषो का उल्लेख किया जा सकता है—इसे कवित्वहीन तक बताया जा सकता है, फिर भी भाषा की दृष्टि से तो इसमे खडी बोली

---

१ सरस्वती (पत्रिका), फरवरी, सन् १६३६

२ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० ८६

३ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५

का विकसित रूप है। पूवरचानाओ से इसकी तुलना करने पर ही मेरे कथन की पुष्टि हो सकती है। यहाँ 'पूवरचनाओ' से तात्पय मैथिलीशरणकृत मूल रचनाओ से है—आचाय द्विवेदी द्वारा सशाधित कविताओ से नही। हो मकता है 'रग मे भग' की भाषा का भी यत्किचित् परिमाजन द्विवेदी जी ने किया हो—क्योकि वे ही उसके भूमिका लेखक हैं। पर इसकी सम्भावना बहुत कम है—भूमिका मे इस विपय मे कोई सकेत नही है। दूसरे कोई भूमिका-लेखक पुस्तक की भापा का परिमाजन करता भी नही। अत निश्शक भाव से यह माना जा सकता है कि सवप्रथम 'रग मे भग' मे ही कवि की अपनी (दूसरो द्वारा परिशोधित एव परिमार्जित नही) भापा उपलब्ध होती है। अभिप्राय यह है कि 'रग मे भग' मे न तो 'हेमन्त' और 'क्रोधाष्टक' के पूर्वोद्धृत मूल अवतरणो के समान अशक्त और असमथ भापा है और न 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के—

कवत-कन्या वह सुन्दरी थी,
बिम्बाधरी और कृशोदरी थी।
मनोभिरामा मृगलोचनी थी,
मनोज-रामा-मद मोचनी थी ॥'

—आदि के समान सस्कृतगर्भित।

किन्तु इसका यह मतलब नही है कि 'रग मे भग' की भाषा एकदम शुद्ध खडी बोली है या गुप्त जी १९०९ ई० मे ही शक्तिशाली भाषा के निर्माण मे सफल एव समथ हो गए थे। तात्पर्य कहने का केवल इतना ही है कि वे दोनो सीमाओ को छोडकर खडी बोली के अपने अथवा स्वाभाविक रूप की ओर बढने लगे थे। 'रग मे भग' मे शुद्ध खडी बोली की तो आशा और कल्पना ही असह्य है। उसमे एक ओर—उद्वाह, अपाराणव, वीरवर्योचित, त्वेष, मातृ-भूमि तिरस्क्रिया जैसे दुष्पाच्य सस्कृत शब्द है तो दूसरी ओर ठौर, नेह, गह, निहोर-निहोर के, निरा, अखियाँ, दीजे, थिरता आदि ऐसे ब्रज के और देशज शब्द है जो खडी बोली के लिए त्याज्य है। इसके अतिरिक्त 'वणन चला' और 'रोप का उत्थान' आदि मुहावरे भी खडी बोली की प्रकृति के अनुकूल नही हैं। ये सब शब्द एक ही पुस्तक (रग मे भग) से उपस्थित किए गए है—और वह पुस्तक केवल ३० पृष्ठ की है। ऐसी लघुकाय पुस्तिका मे इतनी त्रुटियो या असाधु एव अवाछित प्रयोग इस तथ्य के परिचायक है कि अभी कवि खडी बोली के वास्तविक स्वरूप को अपना नही पाया है—किन्तु वह इस दिशा मे

---

१ मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृ० ६४

बराबर प्रयत्नशील है। अगले ही वर्ष जयद्रथ-वध प्रकाशित हुआ।—और उसकी भाषा मे हमे खडी बोली के वास्तविक स्वरूप के सर्व प्रथम दर्शन होते है। एक उदाहरण लीजिए—

अपराध सौ-सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
हँसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
हा! आज उस मुझ किंकरी को कौन से अपराध मे—
हे नाथ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध मे?[1]

लक्ष्य करने की बात है कि सवत् १९६७ मे कितनी स्वच्छ और सुबोध खडी बोली गुप्त जी ने लिखी। न इसमे संस्कृत के संधि-समासयुक्त शब्दो का भार है, न अनगढ देशज शब्दो की भरमार—और न उर्दू की मुहावरेबाजी। भाषा की यह स्पष्टता, सुबोधता और स्वच्छता भारत-भारती मे और भी निखरे हुए रूप मे हमारे सामने आती है, जैसे—

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशो से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥[2]

एक पद्य और लीजिए—

उन पूर्वजो की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है
गाते नहीं उनके हमीं गुण गा रहा ससार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे॥[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जयद्रथ-वध और भारत-भारती की भाषा काफी परिमार्जित है या फिर यो कहिए कि इनमे खडी बोली का सहज रूप प्राप्त है। किन्तु इन्हे भाषा की दृष्टि से सर्वथा दोषमुक्त कह देना भी अत्युक्ति ही होगी। क्योकि इनमे भी संस्कृत के—जाज्वल्यज्वालामय, करारोपण, दर्शन-विलम्बाकुल, सासारिकी, मार्म्मिकमना आदि तथा लखना, बखानना, ओप, विलोकेंगे, निहार लो, तजना, लौटालना आदि अग्राह्य शब्द एव करियो, कीजियो, बिसारियो, छोडियो, मोडियो, दीजो आदि पडिताऊ प्रयोग प्रचुर मात्रा

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवा सस्करण, पृ० २२
२ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ४
३ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ५

मे विद्यमान है। कही-कही तो सस्कृत के चक्कर मे पडकर गुप्त जी श्रुति प्रियता को भी भूल गए है। निम्न पक्तिया देखिए—

कवि के कठिनतर कम की करते नही हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।[1]

व्याकरण-सम्मत होने पर भी रेखाकित शब्द भाषा सौन्दर्य के अपकषक है– अपनी ककशता के कारण कविता के अनुपयुक्त है। निष्कष यह कि जयद्रथ-वध और भारत भारती मे कई स्तरो की भाषा है—किसी एक भाषा का स्थिर रूप से व्यवहार नही हुआ।

वास्तव म गुप्त जी की भाषा का क्रमिक विकास हुआ है। उस विकास-पथ के कई सस्थान है। वैसे तो प्रत्येक पुस्तक ही अपने आप मे एक सस्थान है—किन्तु मुख्य सस्थान तीन मान जा सकत है। उनकी भाषा को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ आरभिक काल—रग मे भग से पचवटी तक
२ मध्यकाल—पचवटी से साकेत-यशोधरा तक
३ उत्तरकाल—साकेत-यशोधरा के पश्चात्

आरम्भिक काल उनकी भाषा का प्रयोग काल है। मध्यकाल उसकी दीप्ति और समृद्धि का समय है—और उत्तरकाल मे वह प्रौढि को प्राप्त हुई। इस प्रकार जयद्रथ वध और भारत-भारती प्रयोग काल की रचनाएँ ठहरती है। इनके प्रणयन मे कवि खडी बोली के प्रकृत स्वरूप का सन्धान कर रहा था। कभी वह सस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करता और कभी बोलचाल की साधारण भाषा का। कभी दोनो का सम्मिश्रण कर देता और कभी उन्हे अमिश्र ही रखता। इसीलिए इनकी भाषा मे पूर्वोल्लिखित वैषम्य है। जयद्रथ-वध और भारत-भारती मे ही क्या पचवटी-पूव सभी रचनाओ मे यह विषमता विद्यमान है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए तिलोत्तमा से भी दो पद्य उद्धृत करता हूँ—

१ प्रिय हमका स्वतन्त्र जीवन है,
मान्य एक अपना ही मन है।
आता है जी मे जब जैसा—
करते है बस हम तब तैसा॥[2]

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० ३
२ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृ० २८

२ जब तक पशु-प्रवृत्तिया छोडेंगे न सयत्न ।
तब तक शोधन का यही—आयोधन है यत्न ।।[१]

इन दोनो पद्यो को एक ही कवि की और एक ही समय की रचना नही बताया जा सकता । प्रथम की सरल-सुबोधता और द्वितीय की सस्कृत गरिष्ठता मे दोनो का पार्थक्य मुखर है । इस समय की किन्ही दो पुस्तको की भाषा भी एक नही है । कतिपय पुस्तको की भाषा मे तो आकाश-पाताल का अन्तर है—शकुन्तला और किसान को तुलना मेरे कथन की साक्षी है । प्रतिपाद्य विषय भी इस वैषम्य के लिए अशत उत्तरदायी माना जा सकता है । किन्तु मुख्य कारण है खडी बोली का अस्थिर रूप । गुप्त जी के सामने खडी बोली का कोई निश्चित अथवा आदर्श स्वरूप नही था । वे स्वय रूप स्थय का प्रयत्न कर रहे थे । आरम्भकालीन रचनाओ मे उसके लिए ही प्रयोग हुए है । अतएव उनकी भाषा मे अस्थिरता, अनेकरूपता और विषमता मिलती है ।—और अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त है जो खडी बोली मे नही पचाए जा सकते, जैसे—अयस्कान्त, आयोजन, मृगाम्बु, शुभाकृष्टता, अप्रतिबवकता, शिथिलित, बेट की आसे, लेखी, हूजो, बैठाल, दीठ, जुडाना, हूजे, औटी, इजारा, सर्द, लासानी, कबूलत, इन्दुलनलब आदि । खडी बोली के लिए दुष्पाच्य इन शब्दो के अतिरिक्त कुछ सन्धि समास भी है जो भाषा को कर्णकटु और अस्वाभाविक बनाते है, जैसे—सवथैव, असुरेन्धन, करुणैकधाम, क्षुब्धेन्द्रियोपासनाएँ, बोधोदय—आदि । दीजो, लीजो, कीजो, आव, जाव आदि पडताऊ प्रयोग भी बहुत है । सज्ञा स क्रिया बनाने का प्रयत्न भी कवि ने किया है, जैसे—मन्धाना, निर्धारे, सम्मानते है—आदि । ये सब शब्द आरम्भिक अथवा प्रयोगकालीन रचनाओ से प्रस्तुत किए गए है । भिन्न-विभिन्न प्रकार के शब्दो के प्रयोगो द्वारा कवि भाषा के वास्तविक स्वरूप के स्थिरीकरण मे सलग्न था ।

पचवटी तक आते-आते वह इस रूप-निर्धारण मे सफल हुआ । पचवटी मे आकर हमे खडी बोली के प्रकृत स्वरूप के दर्शन होते है । उसका प्रथम पद्य लीजिए—

पूज्य पिता के सहज सत्य पर वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके पीछे चली गहन वन को ।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि "तुम कहाँ ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—"तुम मेरे सवस्व जहाँ ।।"[२]

---

१ तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृ० ४१

२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ३-४

एक छन्द और लीजिए—

जो अन्धे होते हैं बहुधा प्रज्ञाचक्षु कहाते है,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को सब कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रम को यदि तुम अपने वश मे कर लोगी,
तो मैं हँसी नही करता हू, तुम भी परम धन्य होगी ॥[1]

उपर्युक्त दोनो अवतरणो मे खडी बोली का कैसा सहज-प्रसन्न रूप है। सस्कृत शब्दकोष का अनिवाय आश्रय लिया गया है, पर 'धाम', 'धरा', 'सवस्व', 'परम' आदि छोटे-छोटे सुपाच्य शब्द ही गृहीत है। अनगढ और अकाव्यात्मक, ग्राम्य और पडताऊ शब्दो का भी अभाव है—उर्दू-फारसी के शब्दो का तो प्रश्न ही नही उठता। किन्तु पचवटी मे पूर्वकथित दोषो का एकान्ताभाव सम्भव नही था—उसमे भी विश्वानुकूल्य, शाखासनस्थ, विहरते हैं, खनने हो, हनते हो, प्रकटे, अवलोका आदि कुछ अग्राह्य शब्द प्रयुक्त है। किन्तु उनकी मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम है।

पचवटी के पश्चात् गुप्त जी की भाषा दिन प्रतिदिन निखरती ही चली गई। उसकी शक्तियो का आशातीत विकास हुआ—कुछ ही दिन मे वह अनेक प्रकार के वर्णन मे सक्षम हो गई। साकेत-यशोधरा तक पहुँचते तो वह काफी समृद्ध बन चुकी थी। पचवटी और साकेत-यशोधरा के बीच मे प्रणीत रचनाओ से काल-क्रमानुसार कुछ उद्धरण देता हूँ—

१ डम डम डमरू का स्वर, दूर करे त्रय ताप-ज्वर
बम् बम् बोलो, हो जजर-विषय पचशर विष बर्बर
बहे शाति निर्झर झर झर ![2]

२ रश्मि राशि को ग्रहण, स्वण की रेखा को ज्यो शाण,
धरने चला दैत्य दुर्गा को ताने विकट विषाण।[3]

३ बठती है वह जब चुपचाप
अचानक चढते हैं भ्रूचाप
ओठ करते हैं मौनालाप,
उमडते हैं फिर आँसू आप।

---

[1] पचवटी, सस्करण, सवत् २००३, पृ० ३८

[2] हिन्दू, तृतीय सस्करण, पृ० ३८१

[3] शक्ति, सस्करण सवत् २००५, पृ० १७

ग्रौर वह उठती है तत्काल,
पकडकर ग्रपने बिथुरे बाल ।[2]

४ **कट जावेंगे पुण्य भूमि की पराधीनता के सब पाश,**
पाचाली की लाज रहेगी होगा दु शासन का नाश ।[1]

ये चारो उदाहरण भिन्न भिन्न समय के हे—ग्रौर सबका वण्य भी भिन्न है । ग्राप देख रहे हे कि भापा किसी भी प्रसग के वरान मे ग्रसमर्थ नही है । या यो कहिए कि कवि के पास नाना वरान-क्षमा भाषा है । तीसरे उद्धरण मे 'बिथुरे' शब्द कुछ खटक सकता हे । इस विषय मे स्वय कवि का वक्तव्य हे—"हमारी प्रान्तिक बोलियो मे कभी-कभी ऐसे ग्रर्थपूर्ण शब्द मिल जाते है, जिनके पर्याय हिदी मे नही मिलते । जब हम ग्ररबी, फारसी ग्रौर ग्रग्रेजी के शब्द निस्सकोच भाव से स्वीकार करते है तब ग्रावश्यक होने पर ग्रपनी प्रान्तीय भाषाग्रो मे उपयुक्त शब्द ग्रहण करने मे हमे क्यो सकोच होना चाहिए ।"[3] मै समझता ह कि यह दृष्टिकोण पूर्णत सतुलित है । बिथुरे' शब्द को ही लीजिए । यदि इसके स्थान पर 'विकीर्ण' ग्रथवा 'बिखरे हुए' का प्रयोग किया जाए तो 'बिथुरे बाल' की सी सरस व्यजना नही रह पाएगी । ग्रस्तु !

प्रसग चल रहा था भापा के विकास का । साकेत से पूर्व की रचनाग्रो की भापा का उल्लेख हो चुका है । साकेत-यशोधरा मे ग्राकर भापा पर कवि का पूर्ण ग्रधिकार हो गया । गुप्त जी की तुक-प्रियता चिर ग्रभिशसित हे । इन दोनो पुस्तको के ग्रालोचको ने प्राय उनके तुको की भर्त्सना की हे । फिर भी यह तुकातता उनके ग्रपरिमित भाषाधिकार की परिचायक तो हे ही, इतने परिमारग मे तुकान्त-रचना कोई मजाक थोडे ही है ! पता नही इसके लिए कितने विस्तृत शब्द-भाण्डार की ग्रपेक्षा हे ।—ग्रौर यह काम सहज ही—ग्रल्प पयास से हो गया है, "कठिन से कठिन तुक भी कवि को सरलता से मिल जाती हे ग्रौर उसके प्रयोग भी प्राय दुहरे है ।"[4] इस प्रकार साकेत-यशोधरा के समय ही मैथिलीशरण भापा के सर्वमान्य ग्रधिकारी बन चुके थे । यद्यपि उस मध्यकाल मे भी ग्रनेक दोप इनकी भापा मे विद्यमान रहे, उदाहरणत ग्रक्षौय, तौयत्रिकशाला, विघूरण, हविर्वहन, जिष्णु, सव्य ग्रपसव्य, ग्रन्ततोगत्वा, नम्र,

---

१ वन-वैभव, सरकरण सवत् २००५, पृ० ६

२ गुरुकुल, सस्करण सवत् २००८, पृ० १०२

३ गुरुकुल की भूमिका, सस्करण सवत् २००८, पृ० ७-८

४ साकेत एक ग्रध्ययन (डा० नगेन्द्र), पचम सस्करण, पृ० २०३

अरुन्तुद, क्रव्याद, अनुक्रोश, आनुगत्य, अस्थैय, त्वेप, ढोटे, तीता, भीता, टीम टाम, धूम-घाम, भूम-भाम, अभड, मुँह बाना, पीनम, व्यूढ, बोदर, महबूब, न्याजउल्लाह, सवारी, दरगोर, आचरना, लोभा, अवलोका, अनुकूलना, जबलो तवलो, आव, जाव आदि—खडी बोली मे अस्वीकाय अनेक शब्दो का प्रयोग भी इस काल की रचनाओ मे हुआ है। साकेत मे तो स/कृत के सधि-समास-युक्त कुछ ऐसे शब्द भी हे जो खडी बोली काव्य मे सवथा अग्राह्य है, यथा—हेमाद्रि-शृग समताकारी, हिमवाष्पभाराक्रान्त, दयाधृष्टलक्षरा, उपमोचितस्तनी, तिमिराम्भोधि-समुद्धृतामही आदि। फिर भी पचवटी और यशोधरा के बीच मे कवि की भापा अत्यन्त समृद्ध हो चुकी थी—उपर्युक्त प्रयोगो को 'कवि का अधिकार' माना जा सकता है।

साकेतोत्तर रचनाओ मे तो गुप्त जी की भाषा का प्रौढ स्वरूप ही मिलता है। दो तीन उदाहरण लीजिए—

(१) दिया तुम्हारे कृती पिता ने तुम-सा व्रती सपूत,
उनका ऋण-परिशोध करोगे तुम अपुत्र अवधूत ![1]

(२) आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत सा,
भीरुओ की कल्पना का सच्चा भय-भूत सा ![2]

(३) ढके अग दोघ कच-भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से !
दिव्य गति लाघव सुरागनाओ ने धरा,
स्वर्ग मे सुगौरव तो है शची से ही भरा।[3]

(४) भव विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले
सम्पूर्ण प्रपचो से ऊपर
उठ पाँच पच ये कहाँ चले ?[4]

ये गुप्त जी की प्रौढ भापा के उदाहरण है। इनमे लक्ष्य करने की बात है भाषा की स्वच्छता और दीप्ति। यह भाषा उनको अनायास या परम्परा से नही मिली थी—इसके पीछे वर्षो की अनवरत साधना है—अविश्राम परिश्रम

---

१ पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृ० १०
२ हिडिम्बा, प्रथमावृत्ति, पृ० १८
३ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० २६
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४२६

हे। उम घोर परिश्रम का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता हे कि मैथिलीशरण जी से अनन्य साधक को 'रग मे भग' की अनगढ लडखडाती भाषा से जय भारत की दीप्त और परिमार्जित भापा तक पहुचने मे लगभग ४० वप लग गए। ४० लम्बे वर्षों की इस उपलब्धि का वास्तविक परिचय रग-मे भग, जयद्रथ वध अथवा भारत-भारती तथा सिद्धराज, नहुष अथवा जय-भारत के उत्तरकालीन अशो को एक साथ रखकर पढन से ही हो सकता हे।

गुप्त जी की भापा का स्वरूप और सौष्ठव

अभी तक ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्त जी की भापा पर विचार हुआ हे। अब उसकी शक्ति और सीमा, गुण और दोष, स्वरूप और सौष्ठव का भी विवेचन विश्लेपण करना चाहिए। वैसे तो अभिव्यजना-कौशल के विवेचन के समय भी भाषा पर प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव मे काव्य-शिल्प और भापा अन्यान्याश्रित है—एक पर विचार किए बिना दूसरे का दिग्दशन हो ही नही सकता। विशेपण विपयय, धर्मी के स्थान पर धम का प्रयोग और मानवी-करण आदि का सम्बन्ध मूलत भाषा से ही तो हे।—इनमे से प्रथम तीन उसकी लाक्षणिकता से और अन्तिम मूर्त्तिमत्ता से सबद्ध है। फिर भी कुछ बाते ऐसी है जिन्हे वहाँ स्थान नही दिया जा सकता—यहा पर उन्ही का विवेचन किया जाएगा।

कवि की भाषा का मूल-स्रोत

हमारे कवि ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्तित, श्रीधर पाठक द्वारा अनुमोदित तथा आचाय महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत खडी बोली को काव्यभाषा के रूप मे ग्रहण किया जिसका कोश मुख्यत सस्कृत शब्दकोश ही है। और स्पप्ट शब्दो मे गुप्त जी की भापा का मूल-स्रोत सस्कृत है। गुप्त जी ही क्या खडी बोली के सभी लेखको की भापा का मूलाधार सस्कृत है। पर सबने अपनी-अपनी रुचि एव स्वभाव के अनुसार उसका रूप-निर्माण किया है। अयोध्यसिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जयशकर प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल की भापाओ का वैभिन्न्य प्रमाण है। मैथिलीशरण जी ने अपनी भाषा को प्राय लम्बे एव जटिल सधि-समासो से बचाया है—और न उसे प्रिय-प्रवास के समान ही सस्कृत प्राय बनने दिया है। अर्थात् उनकी सस्कृतमयी भाषा मे खडी बोली विलीन नही हो गई है। निम्नाकित पद्य देखिए—

> **काल अपराह्न, तरु तद्रित-से चुप थे,**
> **नीचे मृग, ऊपर विहग बैठे चुप थे।**

अस्थिर शची ही थी सखी के साथ मन मे—
शान्त सुरगुरु के सुरम्य तपोवन मे।[1]

इस उद्धरण के अधिकाश शब्द शुद्ध सस्कृत है, फिर भी 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्रायकलिका' वाली प्रवृत्ति का अभाव है। वैसे गुप्त-साहित्य मे—

काचनयनी, कृत्रिमदशना।
यथारुचि अखिल जन्तु अशना।
प्रलयपिण्डा, विद्युदहसना।
वाष्पनि श्वसना, बहुवसना॥[2]

—जैसे स्थल भी मिल जाएगे। पर यहाँ सस्कृत का प्रयोग सस्कृत का रग देने के लिए नही वरन् व्यग्य को गहरा करने के लिए हुआ है।—और फिर ऐसे स्थल कुल दो-तीन है जो नगण्य है। सस्कृत के कुछ अग्राह्य शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, जैसे शुभाकृष्टता, अप्रतिबधता, अक्रौर्य, जिष्णु, लेश, अरुन्तुद, अनुक्रोश, क्रव्याद आदि। कुछ अरुचिकर सधिया, यथा—असुरेन्धन, करुणैकधाम, क्षुब्धेन्द्रिययोपासनाएँ आदि तथा कतिपय दुष्पाच्य समास—तिमिराम्भोधि-समुद्धतामही हेमाद्रि श्रृग-समताकारी आदि भी मिल सकते है। किन्तु साहित्य के परिणाम को देखते हुए बहुत कम है तथा आरम्भिक एव मध्यकालीन रचनाओ मे है। दूसरे ऐसे शब्दो का प्रयोग कवि को प्राय तुक के आग्रह से करना पडा है।

प्रकृति-रूप मे ही नही कही कही तो आपने सस्कृत पदो का भी प्रयोग किया है, जैसे—दैवात्, जयति, मुख्यतया आदि। पर ये सभी पद बहु-प्रचलित है। पदो के अतिरिक्त सस्कृत पदावलियाँ भी ज्यो की त्यो प्रयुक्त है, यथा—'कोऽहं', 'दासोऽह', 'सोऽह', 'बुद्ध शरण गच्छामि', 'दैवोऽपि दुबलघातक', 'वसुधैव कुटुम्बकम् आदि। लेकिन सस्कृत पदावलियो का प्रयोग अवसरानुकूल है। उपयुक्त मे से पहली तीन का व्यवहार धार्मिक वातावरण के सृजन के निमित्त, चौथी और पाँचमी का बौद्ध धम मे दीक्षित होने के समय और अन्तिम दो का मुहावरे के रूप मे हुआ है। अवसर का ध्यान रखकर ही उन्होने दीठ, जुडाना, ढोटे, पखारना, सदेसा, बिसासी, निरख, गेह आदि ब्रज के, टिकुली, ढोर, डगर, कछोटा आदि देशज, मुखबिर, मोमिन, महबूब, कबूलत, ला इलाह इल्लिल्लाह, नवासा आदि उर्दू तथा वाडर, आडर, बैरक, बालडान्स आदि अग्रेजी शब्दो का

---

१ नहुष, दशमावृत्ति, पृ० ८६
२ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० ७

प्रयोग किया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग—विशेपत अग्रेजी और उर्दू शब्द—अतिन्यून है।

अनन्तत निष्कप यह कि गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत सस्कृत है। अधिकाश शब्द शुद्ध सस्कृत है—अवसरानुकूल ब्रज, उदू और अँग्रेजी शब्द भी गृहीत हे।

कुछ विचित्र प्रयोग

द्विवेदी-युग मे हिन्दीकरण की कुछ ऐसी प्रवृत्ति फैली कि लोग साधारण देशज अथवा अन्य भापाओ के शब्दो का सस्कार कर उन्हे मिलता-जुलता सस्कृत शब्द वनाने लगे। 'मैक्समूलर' को 'मोक्षमूलर' और 'चश्मा' को' चक्ष्मा' मे परिवर्तित करने का परामर्श उसी युग का है। गुप्त जी भी इसके प्रभाव से अछूते नही रहे। उनके यहाँ 'जापान' को 'जयपाणि', 'लकाशायर' को 'लकासुर' तथा 'मुन्शी जी' को 'मनीषी जी' वनना पडा। सस्कृतीकरण के चक्कर मे पडकर उन्होने और भी कई विचित्र प्रयोग किए हे, जैसे—'पिचकारी' के लिए 'धारा-यन्त्र'। मृगतृष्णा' के लिए 'मृग जल' का प्रयोग तो हो सकता है पर आपने 'मृग-जाल' का भी 'मृगाम्बु' बना दिया है। इसके अतिरिक्त कई शब्दो का प्रयोग ऐसे अप्रचलित अर्थो मे हुआ है कि साधारणत आप उनकी कल्पना भी नही कर सकते—अमरूद के अथ मे 'मृदु', नारगी के लिए 'मुख-प्रिय', कबूतर के लिए 'कलरव', साहस के अथ मे 'स्पर्धा' आदि ऐसे ही प्रयोग है। यद्यपि ये अथ कोष-अनुमोदित है, फिर भी सवथा अप्रचलित हे। अतएव पाठक को विचित्र लगते हे। गुप्त जी ने कुछ शब्द नए भी गढ लिए हे, जैसे—लाक्ष्मण्य, परिवर्तमान, क्रौय, प्रत्य-दृढ, विरुद-भ्रष्ट, औदास्य आदि।

व्याकरण

अनेक विचित्र पयोगो की अवस्थिति मे भी गुप्त जी की भापा व्याकरण-शुद्ध है।—और फिर वे शिष्य भी तो प्रख्यात भापा-सुधारक द्विवेदी जी के है। द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओ मे भापा की साधुता असाधुता को ही अधिक परखते थे—इस क्षेत्र मे कालिदास तक की 'निरकुशता' उन्हे असह्य थी। मैथिलीशरण जी की भला क्या मजाल थी जो भापा मे त्रुटि कर जाते! डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते है—"कवि (मैथिलीशरण जी) को खडी बोली की प्रकृति का पूव ज्ञान है, दूसरे द्विवेदी जी के चरणो मे दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना सम्भव नही था। अत उनकी भाषा सवत्र व्याकरण-सम्मत

है ।"[१] हमारे कवि की भाषा मे कर्त्ता, कम एव क्रिया मे से किसी का भी अभाव नही मिलेगा । अभाव तो क्या प्राय उनके स्थान तक मे व्यतिक्रम नही मिलेगा । अर्थात वाक्य पूरे है—और उनमे विभिन्न शब्द अपने उचित स्थान पर है—

कुछ 'शीघ्र बोध' रटा कि फिर वे गणक पुगव बन गए,
पचाग पकडा और बस सवज्ञता मे बन गए ।[२]

उपर्युक्त उद्धरण मे वाक्यो के सभी अग अपने प्रकृत क्रम से विद्यमान है। इस प्रकार गुप्त जी के पद्यो की भाषा व्याकरण की दृष्टि से गद्य से अधिक भिन्न नही है—द्विवेदी जी यही तो चाहते थे ! वैसे कही-कही अग्रेजी वाक्य-विन्यास का भी वाछनीय प्रभाव है—

"मै हूँ" हँस बोली वह—"जो भी तुम जान लो
हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो ।"[३]

पर ऐसी योजना बहुत कम है । और इसमे भी वाक्य पूर्ण है । वाक्य पूर्ण होने के कारण व्याकरणगत त्रुटिया प्राय नही है । किन्तु उनका एका ताभाव नही है—असुरी, सतकाय आदि शब्द अशुद्ध है । आत्मा[४], देह[५], आदि शब्दो का पुल्लिग मे तथा व्यक्ति[६] और देवता[७] जैसे शब्दो का स्त्रीलिग मे प्रयोग सस्कृत व्याकरण के अनुसार तो शुद्ध है—किंतु हिन्दी मे ग्राह्य नही । 'अपने' के अथ मे अनेक बार 'आप' शब्द का प्रयोग हुआ है—किंतु यह अशुद्ध प्रयोग है, यह प्रान्तीयता का प्रभाव हे । अनघ मे 'पकडी जाऊँगी' के स्थान पर 'पकड जाऊँगी'[८] तथा झकार मे 'पर मैने पहचान न पाया'[९] जैसे अशुद्ध प्रयोग भी विद्यमान है । किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हे—प्रयत्न करने पर ही दो चार मिल सकते है ।

इसके अतिरिक्त मैथिलीशरण जी ने—अनुकूलना, स्वीकारना, सन्धानना,

---

१ साकेत एक अध्ययन, पचम सस्करण, पृ० २०१
२ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० १३०
३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण, प० १५
४ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ३६
५ ,, ,, ,, ,, २६
६ अजित, प्रथम सस्करण, पृ० ६८
७ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० ३६
८ अनघ, षष्ठावृत्ति, पृ० ३६
९ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० १०६

व्यापना, उच्चारना, शोषणा, जन्मना, आदि—क्रियाओ का भी प्रयोग किया है। मै समझता हूँ कि यह उनका श्लाघनीय प्रयास था। क्रियापदो की दृष्टि से हिन्दी अत्यन्त निधन भाषा है। 'करना' और 'होना' को जोडकर कृत्रिम क्रियापद बनाने पडते है। यदि उपयु क्त क्रियाएँ अपना ली जाती तो भाषा का कितना उपकार होता ! पर ऐसा नही हुआ—और तब हमारे कवि को भी अपनी परवर्ती रचनाओ मे यह प्रवृत्ति त्यागनी पडी।

शब्दालकार

अभी तक भापा के स्वरूप का विवेचन हुआ है। अब सौष्ठव पर भी विचार कर लेना चाहिए। भाषा के अलकरण का सबसे पहला साधन शब्दालकार है। वास्तव मे भाषा की साज-सज्जा से उनका सहज सम्बन्ध है। अत वे भाषा के अग है। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अलकारो के प्रति उनके मन मे कोई विशेष अनुराग नही है। अर्थात् वे बलात् अलकार का विधान नही करते। हाँ, अनायास आगत अलकारो से उनका काव्य अवश्य सज्जित है। अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का सयत तथा सुष्ठु प्रयोग उनकी भाषा को दीप्ति प्रदान कर रहा है। सवप्रथम अनुप्रास की छटा देखिए—

१ झटित खण्डित मुण्ड उनका भू लुँठित होने लगा,
शूलमूलक भूल मानो धूल मे धोने लगा।[1]

२ चारु चन्द्र की चचल किरणे
खेल रही है, जल थल मे।[2]

३ लटपट चरण, चाल अटपट सी मन भाई है मेरे।[3]

विभिन्न प्रकार की अनुप्रास-योजना ने उपर्युक्त पक्तियो मे एक विशेष झकार पैदा की है—भापा को विशेषत चमत्कृत किया है। कही-कही तो पद्माकर अथवा रत्नाकर की याद दिलाने वाली आनुप्रासिकता भी मिल जाती है—

झाक न झझा के झोके मे
झुककर खुले झरोखे से।[4]

---

१ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० १८
२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५
३ यशोधरा, सस्करण सवत् २००८, पृ० ४६
४ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० २६

कि‌तु अनुप्रास की ऐसी झडी शायद और कही नही है। वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश भी अनुप्रास की तरह भाषा को गति और झकृति देते हे। मैथिलीशरण जी के काव्य से केवल दो उदाहरण उपस्थित करता हूँ—

१ **देखो, दो दो मेघ बरसते**
मै प्यासी की प्यासी ![१]

२ **झूम झूम रस की रिमझिम मे**
दोनो हिले मिले थे।[२]

यमक और श्लेप भी भाषा को विशेष सौदर्य एव कसावट प्रदान करते है—लेकिन शत यह है कि उनका प्रयोग सयत और सीमित हो। नही तो कविता कलाबाजी करने लगती है। हमारे कवि ने इन अलकारो को बहुत कम अपनाया है—और जहा वे है फिट बैठे हे, बलात ठूस ठास नही हुई है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१ **रात बीतने पर है अब तो मीठ बोल बोल दो तुम।**[३]
(यमक)

२ **उसे नाथ कर सबको उसने किया सनाथ सहज मे।**[४]
(यमक)

३ **यमुना बहा ले गई, पानी उतर गया सुरराज का।**[५]
(श्लेष)

४ **वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,—**
मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा।[६]
(श्लेष)

आप देख रहे है कि अलकार-नियाजन कितना सहज अतएव मनोहारी एव भाषा के सौन्दय वद्धन मे सफल है। बस, यमक और श्लेप का मणि-काचन सयोग और देख लीजिए—

---

१ यशोधरा, सस्करण सवत्, २००७, पृ० ११६
२ द्वापर, सस्करण सवत् २००२ पृ० १८०
३ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० २५
४ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० २१३
५ द्वापर, सस्करण, सवत्, २००२, पृ० ६८
६ साकेत, सस्करण सवत २००५, प० १६३

बोला वह—"जो हो तुम गुरुजन अ तत ,
मारूँ क्या तुम्हे मै, उपहार मे लो हार ही ! "[१]

'उपहार मे लो हार ही'—इस वाक्य मे यमक और श्लेष के प्रयोग से कितनी सजावट और कसावट आ गई है। चमत्कार प्रिय कलाकारो के हाथ मे यही अलकार अनथकारी बन जाते है—देव जैसे रससिद्ध कवि भी इस गोरख-धन्धे मे उलझ जाते है।

अर्थ-ध्वनन

अपने अथ को ध्वनित कर देना शब्द की शक्ति और सौन्दय का चरमोकप है।—और ऐसे शब्दो का प्रयोग कवि की भाषा की चरम परिणति! अनादि काल से कविगण जाने-अनजाने अथ ध्वनन मे समथ शब्दो का व्यवहार करते आ रहे है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे तो 'Onomatopoeia' (ओनोमेटोपोइया) के नाम से इसे स्वतन्त्र अलकार भी मान लिया गया है। किन्तु अपने यहाँ ऐसा नही हुआ है (चाहे तो इसे अनुप्रास के अन्तगत मान सकते है)। इसे स्वतन्त्र अलकार का पद न मिलने पर भी हमारे कवियो ने अथ-मुखर अथवा प्रतिपाद्य की ध्वनि का अनुकरण कर सकने वाले शब्दो का प्रयोग किया है। तुलसीदास का 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा' इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है। रीतिकालीन कवियो मे देव और पद्माकर तथा आधुनिक युग मे पत और निराला अथ-ध्वनन के कुशल प्रयोक्ता है। हमारा कवि इस फन का उस्नाद नही है—पर उसके काव्य मे इसका सवथा अभाव भी नही है। दो-एक उद्धरण देखिए—

१ उग्र उल्का खण्ड से चण्डच्छटा छाने लगे।[२]
२ ओ निझर, झरझर नाद सुना कर झड तू,
पथ के रोडो से उलझ सुलझ बढ अड तू।
ओ उत्तरीय, उड, मोद पयोद, घुमड तू,
हम पर गिरि गद्‌गद भाव, सदैव उमड तू।[३]

प्रथम मे अर्जुन के बाणो की प्रचण्डता और द्वितीय मे पर्वत प्रदेश मे पत्थरो से टकराकर आगे बढते हुए निझर की ध्वनि शब्दो से ही व्यजित है।—

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३७०
२ जयद्रथ-वध, सताइसवा सस्करण, पृ० ८६
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६०

और अब मशीनो का 'खटराग' भी सुनिए—

सुनो क्या, देखो यह खटराग,
अनोखा खटपट अटपट राग।
विकट नटखट, नर्तित नट-राग,
लाख घट और एक रट-राग।[१]

ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके सामने ही भारी मशीने चल रही है। कितना नीरस है यह पद्य !—पर मशीनो की खटखट भी तो नीरस ही होती है !

इस प्रकार गुप्त जी की भाषा अर्थ-मुखर भी है। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत नही मिलेगे।

प्रसग-गर्भत्व

यह भाषा को सुष्ठु और गौरवान्वित करने की एक उपयोगी प्रणाली है - प्राय सभी पठित-पण्डित कवियो ने साहित्य क्षेत्र मे अत्यन्त प्रसिद्ध अथवा बहुचर्चित विषयो को भी अपने प्रतिपाद्य के प्रकटीकरण अथवा स्पष्टीकरण के साधन रूप मे अपनाया है। यह युक्ति ही प्रसग गर्भत्व कहलाती है। आलोच्य कवि साहित्य और शास्त्र का विश्रुत ज्ञाता है। अत उसके काव्य मे प्रसग-गर्भत्व के अनेक श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध है। केवल तीन स्थल नीचे उद्धृत किए जाते है—

१ तप मेरे मोहन का उद्धत धूल उडाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मैने योग न पाया।[२]

२ बैठी नाव निहार लक्षणा व्यजना,
'गगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना।[३]

४ बाँधे थे सौ शस्त्र लुटेरे
और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नन छिन्दन्ति' मन्त्र सा
जगा, भगा सारा भय-रोग।[४]

---

१ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० ३

२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ८२

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १०२

४ अजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृ० ३५

इन अवतरणो मे से प्रथम मे कृष्ण और उनके सदेश वाहक मित्र उद्धव मन मे घूम जाते हे। उनकी कहानी चिरपरिचित है—उस कहानी के द्वारा ही पक्तियो का अर्थ स्पष्ट होगा। दूसरे उद्धरण मे 'गगाया घोष' के स्थान पर 'गगा मे गृह' लक्षणा और व्यजना के विवेचन मे चिर-प्रयुक्त वाक्य है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी इससे परिचित है। पर आज यह लक्षणा और व्यजना का उदाहरण न रहकर अभिधा का बन गया था। तीसरे मे महात्मा गाधी की गीता के अत्यन्त प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत 'नैन छिन्दन्ति' आदि मन्त्र के समान बताया गया है। अर्थात् उनका प्रभाव इस मन्त्र के समान ही गम्भीर, व्यापक और अचूक था। इस प्रकार परम्पराओ के सम्यक् ज्ञान बिना ऐसे स्थल ही नही होते। विद्वान् साहित्यिको को इनके स्पष्टीकरण मे विशेष रस मिलता है। इसीलिए साधारण भाषा की अपेक्षा प्रसग गर्भित भाषा आदरास्पद पद की स्वामिनी है।

शक्ति

मैथिलीशरण मुख्यतया अभिधा के कवि है। तात्पर्य कहने का यह कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य रहता है, शिल्प-विधान नही। किन्तु, जैसे-जैसे कोई कवि प्रौढि की ओर बढता है वैसे-वैसे उसकी भाषा बिना किसी प्रयत्न के ही समृद्ध, विदग्ध और वक्रतापूर्ण होती चली जाती है। यही तो लक्षणा और व्यजना का चमत्कार है। हमारे कवि के लिए भी यही सत्य है—उसकी आरम्भिक कृतियो की भाषा एकदम अभिधाश्रित है। परन्तु परवर्ती रचनाओ की भाषा मे उत्तरोत्तर समृद्धि, वैदग्ध्य और वक्रता आती चली गई है। अभिव्यजना कौशल मे 'धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग,' 'मानवीकरण' आदि के अन्तगत गुप्त जी के काव्य मे उपस्थित सब उद्धरण वास्तव मे लक्षणा के ही है। यहाँ पर कुछ और उदाहरण लीजिए—

(१) जो था बिना विचारे उनका आज्ञापालन सा सशरीर।[1]

श्रद्धालु शिष्य के लिए 'आज्ञापालन सा सशरीर' कितना सार्थक है।

(२) खिला सलिल का हृदय-कमल खिल हसो की कलकल मे।[2]

कमल को सलिल का हृदय मानना, और फिर हसो की कलकल ध्वनि मे उसका खिलना—कितनी मनोरम कल्पना है।

---

१ गुरुकुल, सस्करण सवत् २००४, पृ० ८५

२ यशोधरा, सस्करण सवत् २००९, पृ० ४२

(३) वृद्ध न होकर बाल बनी थी
पलट प्रौढता बाकी ।[१]

प्रौढता की परिणति वार्द्धक्य मे है—प्रौढि के साथ-साथ मनुष्य वृद्ध होता जाता है। पर कृष्ण के साथ यह बात उल्टी थी। प्रौढि उनमे वृद्ध बनकर नही बालक बनकर आई थी।

(४) जननी सरस्वती के छौने,
मधुर सलौने शुचि सोत्साह,
तुम्ही खिलौने मुग्धामति के
तुम्ही ज्ञान के पुतले वाह ![२]

इस पद्य मे 'शब्द' का आख्यान कितना विदग्ध है !

और भी अनेक उदाहरण दिए जा जा सकते है। तारागण के लिए 'नैश-दीप' प्रह्लाद के लिए (ईश्वर का) 'नामोच्चारक कीर', भाभी के लिए 'सहज-सखी, आदि प्रयोगो मे लक्षणा का ही वैभव है।

लक्षणा की अपेक्षा व्यजना का प्रयोग हमारे कवि न कम किया है। व्यजना की मूल है वक्रता—और वक्रता मे कवि का विश्वास नही है। मन, वचन और कम—किसी की भी वक्रता गुप्त जी को प्रिय नही। उनके काव्य मे उपलब्ध व्यजना के दो-एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस प्रसग को समाप्त करता हू—

(१) आँखो का कारुण्य आँसुओ का भूखा है ।[३]

कबला युद्ध मे लोग पिपासाकुल थे—उनकी असहाय अवस्था अत्यन्त कारु-णिक थी। किन्तु आखो मे आसुओ के लिए भी पानी नही था—इस प्रकार जल का अत्य ताभाव व्यग्य है।

(२) मै अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर बली थे मेरे ।[४]

मैदान से अबल भागता है—सबल नही। किन्तु यहा गौतम ही ससार छोडकर भागते है, यशोधरा नही। अत यशोधरा उपर्युक्त पक्ति मे कहना चाहती है कि विश्रुत वीर होने पर भी तुम मन से कायर हो।

(६) अरी व्यथ है व्यजनो की बडाई,
हटा थाल, तू क्यो इसे आप लाई ?[५]

---

१ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० १३६
२ मगल-घट, प्रथम सस्करण, पृ० २६४
३ काबा और कर्बला, द्वितीय सस्करण, पृ० ६०
४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ३८
५ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० १६६

उर्मिला सखी को कहती है कि तू बिना मगाए भोजन क्यो लाई है ? पर वास्तविकता यह है कि प्रिय-वियोग के कारण उसे भोजन अच्छा नही लगता। किन्तु यह भाव कथित न होकर व्यग्य है।

रीति और वृत्ति

विशिष्टपदरचना रीति

—काव्यालकारसूत्र १।२।७

डा० नगेन्द्र ने हिन्दी काव्यालकारसूत्र की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या-विवेचना कर निष्कप रूप मे लिखा है—"सुन्दर पद रचना का नाम नीति है—यह सौन्दय शब्दगत तथा अथगत होता है।"[1] वामन ने—वैदर्भी, गौडीया (अथवा गौडी) तथा पाचाली—रीति के तीन प्रकार माने है—

सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाचाली चेति

—काव्यालकारसूत्र १।२।६

इन रीतियो को ही काव्यप्रकाशकार आचाय मम्मट ने क्रमश उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम मे अभिहित किया है। इस प्रकार रीति और वृत्ति तथा उनके प्रकारो के नाम का ही भेद है—और कोई अन्तर नही। किन्तु डा० नगेन्द्र इन दोनो मे निश्चित पार्थक्य मानते है—और कुछ नही तो अग-अगी भाव तो मानते ही है।[2] किन्तु अधिकाँश विद्वान दोनो को पर्याय रूप मे स्वीकार करते है। शास्त्रीय विवेचन मेरा विषय नही है—अत मैने दोनो को एक साथ लिया है। दूसरी बात यह है सिद्धान्त रीति और वृत्ति मे चाहे कुछ भी अन्तर हो, व्यवहार मे तो दोनो एक ही है। वैदर्भी और उपनागरिका, गौडी और परुषा तथा पाचाली और कोमला के उदाहरण प्राय एक ही होगे। अस्तु !

काव्य-रचना के समय कवि को प्रतिपाद्य के अनुकूल कोमल अथवा कठोर मधुर अथवा कटु, अलकृत अथवा अनलकृत (सरल) पद योजना करनी पडती है। पद योजना की इस विभिन्नता पर ही किसी रीति अथवा वृत्ति-विशेष का अस्तित्व निभर है। प० रामदहिन मिश्र के शब्दो मे उनकी परिभाषा इस प्रकार होगी—

---

१ हिन्दी काव्यालकारसूत्र की भूमिका डा० नगेन्द्र सस्करण सवत् २०११, पृ० ३८

२ ,, ,, ,, ,, पृ० ५२-५४

१ 'माधुय व्यजक वर्णो की जो ललित रचना है उसे वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते है ।''[१]

२ ''ओज प्रकाशक वर्णो से आडम्बरपूर्ण बन्ध को—रचना को—गौडी रीति या परुषा वृत्ति कहते हे ।''[२]

३ ''दोनो रीतियो के अतिरिक्त वर्णो से युक्त पचम वर्णवाली रचना को पाचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हे ।''[३]

गुप्त जी ने सम्पूर्ण मानव-जीवन को—जीवन मे सम्भव प्राय सभी स्थितियो को अपने काव्य का विषय बनाया है । अत उनके काव्य मे गीति अथवा वृत्ति के सभी प्रकारो के उदाहरण सहज-उपलब्ध है । उदाहरण लीजिए

१ वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिका वृत्ति—

जल मे शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते, हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मै प्यासी की प्यासी !
आओ हो बनवासी ।[४]

२ गौडी रीति अथवा परुषा वृत्ति—

(क) बनी गढी सी पहिन मढी का मुकुट पहाडी,
रक्षक सेना घनी घनी कॉटो की झाडी ।[५]

(ख) शर-रूप खर-रसना पसारे रिपु रुधिर पीती हुई,
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई ।
अर्जुन कराग्रोत्साहिता प्रत्यक्ष कृत्या मूर्ति-सी,
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी प्रलयकाण्ड स्फूर्ति-सी ।[६]

३ पाचाली रीति अथवा कोमला वृत्ति—

(क) देकर निज गुजार-ग ध मृदु मन्द पवन को ।[७]

---

१ काव्य-दपण, रामदहिन मिश्र, द्वितीय सस्करण, पृ० ३१८
२ ,, ,, ,, ,, पृ० ३१८
३ ,, ,, ,, ,, पृ० ३१९
४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७' पृ० ११९
५ अजित प्रथम सस्करण' पृ० ८५
६ जयद्रथ-बध, सत्ताइसवा सस्करण' पृ० ६४
७ साकेत, सस्करण सवत २००५, पृ० २९६

(ख) चारु च द्र की चचल किरणें खेल रही हैं जल-थल मे,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल मे।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणो की नोको से,
मानो झीम रहे हे तरु भी मन्द पवन के झोको से ॥[1]

गुण

"जो रस के धर्म एव उत्कष के कारण है और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते है।"[2] रस के धम होने पर भी—उसमे उनकी 'अचल स्थिति' रहने पर भी उपचारत गुणो का सम्बन्ध अथवा अस्तित्व भाषा मे मान लिया जाता है। पडितराज जगन्नाथ के अनुसार तो माधुर्य आदि गुण केवल रस मे ही नही, शब्द और अथ मे भी रहते हे—'तथा च शब्दाथयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशा ।'[3] अतएव भाषा के प्रसग मे उन पर भी विचार कर लेना अनिवाय है।

गुणो की सख्या के विषय मे आचार्यो मे बहुत मतभेद रहा है। भरत और दण्डी ने गुण दस माने है। वामन के अनुसार बीस है—दस शब्द-गुण और दस अथ-गुण—और बढते-बढते भोज के यहा तो उनकी सख्या ७२ हो गई।[4] परन्तु मम्मट ने सम्यक् समीक्षण के पश्चात कुल तीन गुण स्वीकार किए है। शेष सब को इन्ही मे अन्तर्भूत कर दिया अथवा इन्ही तीन गुणो का भेद सिद्ध किया या फिर गुणो की परिधि से ही बहिष्कृत कर दिया। और तब से आज तक गुण प्राय तीन ही माने जाते है अथवा यो कहिए कि केवल तीन गुणो का ही महत्त्व है। वे तीन गुण है—माधुय, ओज और प्रसाद। आलोच्य कवि के काव्य से तीनो गुणो के राशि-राशि श्रेष्ठ निदर्शन प्रस्तुत किए जा सकते है।

माधुर्य

चित्त को द्रुतमान् अथवा द्रवीभूत करने वाला गुण माधुय कहलाता है। माधुर्य गुण सम्पन्न रचना मे ट, ठ, ड ढ को छोडकर स्पश वर्णों (क से म

---

१ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५

२ काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग (रसमजरी) सेठ कन्हैयालाल पोद्दार पचम सस्करण पृ० ३३०

३ रसगगाधर, निणय-सागर प्रेस, सस्करण सन् १९३९ पृ०, ६८

४ दे० हिन्दी काव्यालकारसूत्र की भूमिका डा० नगेन्द्र सस्करण सवत् २०११, पृ० ६८

तक), अनुस्वार, ह्रस्व र तथा असमस्त पदो का प्राधान्य रहता है। रसो मे शृगार, शान्त एव करुण ही माधुय के अनुकूल हे—

(१) निरख सखी ये खजन आये,
फेरे उन मेरे रजन ने नयन इधर मन भाये।[१]

(२) हा भगवन्! हो गई व्यर्थ वह प्रसव-वेदना सारी,
लेकर यह अनुभूति-चेतना कहा रहे यह नारी?[२]

ओज

मन मे तेज उत्पन्न करने वाला—उसे दीप्ति प्रदान करने वाला गुण ओज है। जिस रचना मे ट, ठ, ड, ढ आदि कठोर, द्वित्व और सयुक्त वर्णों का आधिक्य होता है वह ओज गुणमयी होती हे। वीर, रौद्र और वीभत्स रस-पूर्ण रचनाएँ ओजगुणयुक्त होती है—

(१) छातिया सजीव सी शिलाएँ टकराती थी,
देख देख दशको की आँखे चकराती थी।
लड लड जाते कुछ गडको-से मुड थे,
टागें मारते थे मत्त वारणो के शुड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे।[३]

(२) तब निकलकर नासा पुटो मे व्यक्त करके रोष त्यो
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यो—[४]
आदि।

प्रसाद

मन को विकसित अथवा व्यापक बनाने वाला गुण प्रसाद के नाम से अभिहित किया जाता है। श्रवण करते ही जिस रचना की अथ प्रतीति हो जाए वह प्रसाद गुणमयी होती है। आचार्यो ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह गुण है जिसके कारण कोई रचना चित्त मे सूखे इवन मे आग अथवा स्वच्छ वस्त्र मे जल के समान तुरन्त व्याप्त हो जाती है।

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५ पृ० २१६
२ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० ८६
३ हिडिम्बा, प्रथम सस्करण पृ० २२-२३
४ जयद्रथ वध, सत्ताइसवां सस्करण, पृ० ३७

हमारा कवि मुख्यतया प्रसाद का ही कवि है—यह उसकी सबसे बडी विशेषता है। उसके काव्य से दो एक उदाहरण लीजिए —

(१) भूल इस भव मे मनुष्य से ही होती है,
अन्त मे सुधारता है उसको मनुष्य ही।
किन्तु वह चूक हाय! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है,
और जन-जीवन बिगड जैसे जाता है[1]

(२) तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके, पर है मानो कल की बात,
वन को आते देख हमे जब आत, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब अवधि पूर्ण होगी वन की,
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को इससे बढकर किस धन की[2]

(३) "बधन ही का तो नाम नही जनपद है?
देखो कैसा स्वच्छन्द यहा लघु नद है।
इसको भी पुर मे लोग बाध लेते है।"
"हा वे इसका उपयोग बढा देते है।"[3]

उक्ति वैचित्र्य अथवा उक्ति-सौदर्य

व्यजना के प्रसग मे मैं कह चुका हूँ कि हमारा कवि वक्रता-प्रिय नहीं है। अभिप्राय यह है कि वह जानबूझकर उक्ति को वक्र नही बनाता। किन्तु लेखन के अभ्यास एव भाषा की समृद्धि के साथ-साथ कथन की प्रणाली मे अपने आप विचित्रता आती चली जाती है। यह कवि भी इस साधारण नियम का अपवाद नही है।

वक्रता के समावेश से उक्ति विशेषरूप से आकर्षक, चमत्कृत और सप्रभाव बन जाती है। उक्ति के इस वैचित्र्य के मूल मे विरोधाभास, साम्य अथवा वैषम्यमूलक पद-योजना या फिर क्रमिक वर्णना आदि का सौन्दर्य रहता है। गुप्त जी के काव्य से उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते है—

---

१ सिद्धराज तृतीय सस्करण, पृ० ८०
२ पचवटी, सस्करण सवत् २००४, पृ० ८
३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० १६८

(१) जहाँ हाथ मे लौह वहाँ पैरो मे सोना ।[१]
(२) दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण-पक्ष ही ।[२]
(३) मानुष की सत्ता हा ! अमानुषिकता मे है ।[३]
(४) रानी-सी रखते हैं मुझको,
स्वय सचिव-से रहते ।[४]

पत्नी को प्रसन्न रखने वाले नन्द के विषय मे यशोदा की यह उक्ति कितनी विचित्र और मधुर है ।

(५) प्रभु की नाम मुद्रिका देकर परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया ।[५]
(६) सैन्यसर्प जो, फणा उठाये फुकारित थे,
सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे ![६]
(७) मूदे तब तक ये दृग तूने बनकर कठिन उदार ![७]
(८) नेत्रो को लुभाया श्रवणो ने था यथार्थ ही,
उत्सुक किया है अब श्रवणो को नेत्रो ने ।[८]

गुण श्रवण के उपरान्त दर्शनेच्छा और दर्शन के पश्चात् मधुमय वचन के श्रवण की उत्कट अभिलाषा की व्यक्ति की कैसी अनौपचारिक—किन्तु सप्रभाव युक्ति है !

(९) वेद का अन्त अहा निर्वेद ![९]
(१०) सबके शासन मे कौन सहे अनुशासन ?[१०]
(११) भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है ।[११]
(१२) अगो मे उमग अहा ! आँखो मे अनग रग ।[१२]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०७
२ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ८४
३ युद्ध, प्रथम सस्करण, पृ० ५०
४ द्वापर, सस्करण सवत् २००२, पृ० १४
५ प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृ० ५५
६ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३१६
७ कुणाल गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० २६
८ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ६०
९ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० ३७
१० राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृ० २२
११ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० ६
१२ तिलोत्तमा, तृतीय सस्करण, पृ० ६४

(१३) गति मे मरालता है, भौहो मे करालता है ।[1]

(१४) नाच रहे है अब भी पत्ते मन-से सुमन महकते है ।[2]

(१५) प्रज्वलित अनल सा, क्षुब्ध-अनिल-सा, चल प्रपात के जल सा ।[3]

उपर्युक्त उद्धरणो मे से १, २, ३, ७ और ९ मे विरोधाभास का सोदर्य है। ११, १३ और १५ के वैचित्र्य का मूलाधार साम्य है तो १० और १४ का वैषम्य।—और १२ मे साम्य-वैषम्य दोनो ही वतमान है। ६ और ८ के सोदय का कारण क्रम विन्यास ही है।

मुहावरे और कहावते

'मुहावरे और कहावते प्रौढ भाषा के सहज गुण है।' भाषा की कसावट, शक्ति-मत्ता, लाक्षणिकता और प्रभावपूर्णता के लिए उनका प्रचुर प्रयोग अपेक्षित है। किन्तु हिन्दी मे उनका प्रयोग बहुत कम हुआ है। सूर, तुलसी, बिहारी और घनानन्द के अतिरिक्त शायद और कोई इस दिशा मे सफल नही हो सका। गुप्त जी के काव्य मे भी मुहावरे और कहावते अल्प ही है—भाषा के ऐसे सवमान्य अधिकारी की भाषा मे उनका अभाव तो सम्भव ही नही था!—वे सख्या मे तो कम है, पर है अपने स्थान पर युक्तियुक्त। स्वाभाविक रूप मे व्यवहृत होने के कारण उनका सौदय प्रस्फुटित है। बिहारी के चिर अभिशसित 'मूड चढाए हू रहे' आदि के समान उनका बलात् नियोजन नही हुआ है। निम्नाकित उद्धरणो का अवलोकन कीजिए—

(१) मेरी मलिन गूदडी मे भी है राहुल-सा लाल[4]

(२) नाको चने चबाने पडे थे और फिर भी
निष्कृति के हेतु पडे दाँतो तृण दाबने[5]

(३) जागे नहीं कच्ची नीद माता और भ्राता ये[6]

(४) लगे इस मेरे मुँह मे आग[7]

---

१ तिलोत्तमा, तृतीय सस्करण, पृ० ९४

२ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० १०

३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ४०७

४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ३८

५ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ५१

६ हिडिम्बा प्रथम सस्करण, पृ० ४३

७ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३८

(५) मे हू वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ मे[१]
(६) छाती फटती हाय ! दु ख दूना मै पाती[२]
(७) नही, नही, मेरे अनुजो को मुझसे भी लोहा लेना[३]

आप देख रहे है कि उपर्युक्त मुहावरे अपने स्थान पर कैसे उद्भासित है। यदि सकेत न किया जाये तो कदाचित पाठक उन पर ध्यान दिए बिना ही आगे बढ जाएगा। इनके अतिरिक्त—दात उखाडना, धूल भरे हीरे, भरती का, मुह मोडना, मुह तकना, दात पीसना मन रखना, अवसर खोना, सम्बन्ध जोडना, प्राणो पर खेलना, नशे मे चूर होना, पसीने की जगह लोहू बहाना, कागजी घुडदौड, हराम की खाना, मुँह न खुलना, आँखे फटना आदि—अनेक मुहावरो का सुष्ठु एव आकर्षक प्रयोग हुआ है। पर गुप्त जी के पुष्कल-परिमाण साहित्य मे वे नगण्य से ही है—साहित्य के परिमाण की दृष्टि से उनकी सख्या बहुत कम है।—कहावते तो और भी कम है। प्रयास करने पर भी कहावते थोडी ही उपलब्ध हो सकेगी। हाँ, जो है उनका प्रयोग पर्याप्त पटुता के साथ हुआ है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) यह साधारण बात काटता है जो बोता।[४]
(२) सिह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते है।[५]
(३) कहते है स्वर्ग नही मिलता बिना मरे।[६]

दो-एक स्थान पर कवि ने अँग्रेजी और सस्कृत के मुहावरो अथवा लोकोक्तियो का भी अच्छा प्रयोग किया है, जैसे—

पलटा पृष्ठ उसी ने "तुमको सुरपुर कैसा भाया"[७] मे अँग्रेजी के to turn page की भी भावना का व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार—

हो गए सब चौकन्ने,
भय वा कौतुक भरे काल-पुस्तक के पन्ने।[८]

---

१ जयद्रथ-वध, सत्ताईसवा सस्करण, पृ० ७५
२ सैरन्ध्री, अष्टमावृत्ति, पृ० ३३
३ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३३८
४ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ३०८
५ पचवटी, सस्करण सवत् २००३, पृ० १२
६ नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृ० १७
७ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० १७७
८ अजित, प्रथम सस्करण, पृ० ८३

—मे भी अँग्रेजी मुहावरों का प्रयोग है और निम्न पक्ति मे सस्कृत की 'वीर-भोग्या वसुन्धरा' के तलवर्ती भाव का सुचारु उपयोग हुआ है—

वीर की ही वसुधा है, वीरव्रत पालें हम ।[१]

मुहावरों और कहावतो का सौदर्य उनके प्रसिद्ध और प्रचलित स्वरूप में ही सुरक्षित रहता है—क्योंकि वे रूढ होते है । उनकी शब्दावली क्षति के बिना परिवर्तित नही की जा सकती । किन्तु मैथिलीशरण जी की सस्कृतीकरण की प्रवृत्ति यहाँ भी दृष्टिगत होती है । हिन्दी का मुहावरा है 'गागर मे सागर भरना' पर हमारे कवि ने लिखा है—

आश्चर्य है, घट में उन्होने सिन्धु को है भर दिया ।[२]

इसी प्रकार पंचवटी मे 'उँगली पकडकर पहुँचा पकडना' का 'अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना'[३] बन गया है । निम्न पक्तियो भी यही बात है—

(१) आचारों के आडम्बर में बँधे न अधिक हमारे हस्त ।[४]

(२) भाल पीटते हैं अपना ही क्लीव-कर्महीनों के हस्त ।[५]

'हाथ' की 'जगह' 'हस्त' का प्रयोग होने से इनकी सारी सजावट ही बिखर गई है । डा० रमाशकर 'रसाल' तो शायद यह कहेगे कि इस प्रकार मुहावरे अथवा लोकोक्ति को 'उत्कृष्ट' बना दिगा गया या उनका 'परिष्कार' कर दिया गया है ।[६] किन्तु मैं उनसे सहमत नही हूँ । मुहावरे कहावतों को मैं तो रूढ अतएव अपरिवर्तनीय मानता हूँ । उपर्युक्त प्रयोगों की वैभवहीनता मेरे मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त है ।

सौभाग्य से हमारे कवि में यह 'उत्कृष्टीकरण' अधिक नहीं है ।

अन्तत: निष्कर्ष यह कि गुप्त जी की भाषा काफी पुष्ट और प्राजल है । खड़ी बोली की लाक्षणिक शक्तियो का विकास यद्यपि उसमें नही हो पाया, फिर भी अपनी शुद्धि, व्यापकता और नानावर्णनक्षमता के कारण वह समादरणीय है ।—और उन्हें भाषा का व्युत्पन्न पंडित, विश्वस्त विद्वान् तथा पूर्ण अधिकारी स्वीकार करने में हमें तनिक भी सकोच नही है ।

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृ० ११३
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृ० ३२
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृ० ३७
४. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००३, पृ० १३६
५. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृ० १४७
६. दे० उद्धव-शतक का प्राक्कन, संस्करण सन् १९५१, पृ० ८६-८७

खडी बोली के विकास मे गुप्त जी का योगदान

काव्य भाषा के रूप मे खडी बोली पर विचार करते समय इस बात का उल्लेख हो चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प० प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति कविगण उसे काव्योपयुक्त नही मानते थे—वह भला ब्रज जैसी 'मिठलौनी' कहाँ थी। भारतेन्दु और मिश्र जी ही नही जार्ज ग्रियसन का भी यही मत था। इन लोगो को ब्रजभाषा की कविता ही पसन्द थी। खडी बोली के सम्बन्ध मे तो इनकी निश्चित धारणा थी।—"ब्रजभाषा सी पै मिठलौनी कहाँ ?" प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इसका मुँहतोड जवाब दिया। प्रिय-प्रवास की विस्तृत भूमिका मे उन्होने अनेक उद्धरण देते हुए सतक सिद्ध किया कि भाषा का 'मिठलौनापन' तो अभ्यास और प्रयोग पर आधृत है। केवल ब्रजभाषा का ही उस पर अधिकार नही है—खडी बोली मे भी उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है।

प्रिय-प्रवास की भूमिका के उक्त अभिमत से आश्वस्त उस समय के कवि और पाठक ने वह कल्पना की थी कि प्रिय प्रवास मे खडी बोली के वैभव का दर्शन होगा। किन्तु ऐसा नही हुआ—हरिऔध उसका कोई स्थिर अथवा प्रकृत रूप प्रस्तुत नही कर सके। उन्होने या तो प्रिय प्रवास की कृदन्त-प्रधान समासबहुला-सस्कृत पदावली उपस्थित की या फिर चोखे चौपदे की 'हिन्दुस्तानी'। अभिप्राय यह कि वे अपने सिद्धान्तो को व्यवहार मे परिणत् नही कर सके। इस दिशा मे कृतकार्य हुए प० महावीरप्रसाद द्विवेदी। वैसे अपनी अपनी कविता मे भी खडी बोली का सहज प्रसन्न रूप नही है—किन्तु उन्होने दूसरो को उसकी सिद्धि का आदेश और उपदेश दिया। पर उनकी सर्वाधिक कृतकार्यता है मैथिलीशरण जी के सन्धान और उन्नयन मे। डा० सत्येन्द्र का यह कथन—"उनको (द्विवेदी जी को) सबसे अधिक सफलता मिली गुप्त जी को चुन लेने मे, तथा उनको प्रोत्साहित करने मे"[1]—सोलह आने सही है। काव्य भाषा-विषयक अपने जिस आदर्श को भावुकता की क्षीणता के कारण द्विवेदी जी स्वय भी उपस्थित नही कर पाए थे उसे हमारे कवि ने प्रतिष्ठित किया। परिणामत उसकी भाषा ही द्विवेदी-काल की आदर्श भाषा बन गई। "रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी और श्री गोकुलचन्द्र शर्मा की भाषा भी हमे मैथिलीशरण की ही अनुसारिणी दिखाई देती है।"[2]

खडी बोली को काव्योचित सिद्ध करने वालो मे श्री मैथिलीशरण गुप्त,

---

१ गुप्त जी की कला सत्येन्द्र, तृतीय सस्करण, पृ० ४

२ हिन्दी कविता में युगान्तर प्रो० सुधीन्द्र, प्रथम सस्करण, पृ० ४०५

अयोध्यासिह उपाध्याय, नाथूराम शर्मा 'शकर', ठाकुर गोपालशरणसिह, सत्यशरण रतूडी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियो के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। इनमे सबसे अधिक महत्त्व है श्री मैथिलीशरण का। ठाकुर गोपालशरणसिह भी खडी बोली के परिमाजन मे सहायक हुए है—उनकी भाषा भी काफी स्वच्छ थी। इसीलिए आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालसिह ऐसे कवियो की लेखनी से खडी बोली को मजते देख आशा का पूर्ण सचार होता है ।"[१] सचमुच उस समय गुप्त जी और ठाकुर साहब की भाषा को देखकर ही 'आशा का पूर्ण सचार' होता था—अन्य कवियो द्वारा खडी बोली क नाम से गृहीत भाषा को देखकर तो मन मे 'आशका ही होती थी। पर बाद मे ठाकुर साहब पिछड गए—वे खडी बोली को कोई स्थायी महत्त्व की चीज नही दे सके। दूसरे भाषा का सहज रूप अपनाने पर भी उन्होने छन्द पुराने ही रखे—कवित्त और सवैये का ही व्यवहार किया जो खडी बोली के अधिक अनुकूल नही है। एक शब्द मे गोपालशरणसिह के पास मैथिलीशरण जैसी कवि-प्रतिभा नही थी। उनके पीछे रह जाने का यही कारण है— क्योकि सम्यक् प्रयोग के बिना भाषा किस काम की। इसीलिए मैने कहा है कि खडी बोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करन वालो मे गुप्त जी का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। वस्तुत "उनकी भाषा-सम्बन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियो मे व्याप्त देख पडती है जैसा कि उनके पहले से (साथ के भी) आधुनिक किसी कवि मे नही देख पडती।"[२]

गुप्त जी से पहले तो खडी बोली का कोई स्थिर रूप ही नही था। सस्कृत-प्रधान भाषा भी खडी बोली के नाम से अभिहित होती थी, और उर्दू फारसी प्रधान भी। अपितु कभी-कभी तो ब्रज की भा भरमार रहती थी जिसको कि स्थानापन्न करने खडी बोली जा रही थी। सिद्धान्त खडी बोली के पृष्ठपोषक भी ऐसा ही कर रहे थे—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिह उपाध्याय और गयाप्रसाद-शुक्ल 'सनेही' की कविताएँ मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता हे कि उस समय सस्कृत, उर्दू अथवा ब्रज से मुक्त खडी बोली के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव थी। शायद इसीलिए ब्रजभाषा के कुछ पक्षपाती सोचा करते थे—

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, नवा सस्करण, पृ० ६४०

२ हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी—नन्ददुलारे वाजपेयी, सस्करण सन् १६४५, पृ० ३१

यह ब्यारि तब बदलेगा कछु,
पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ ?"

पर देखते ही देखते १६०३ ई० मे खडी बोली के प्रबल पोषक आचार्य द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हो गए। जिनके अथक परिश्रम से खडी बोली का प्रचार और प्रभाव बढा। १६१० ई० मे गुप्त जी का जयद्रथ वध प्रकाशित हुआ जिसने ब्रजभाषा की आशा का ही हनन कर दिया।—और उनकी भारत-भारती ने जनता के गले का हार बनकर खडी बोली को ब्रज और उर्दू दोनो से मुक्त कर दिया। इनके प्रकाशन से खडी बोली का विकास-पथ उन्मुक्त हुआ—और लोगो ने इनकी भाषा का अनुकरण किया है। उस काल के प्राय सभी आलोचको ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है। दो एक की सम्मति नीचे उद्धृत की जाती है—

उनके जयद्रथ-वध ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया, और भारत-भारती मे तो जैसे सुनिश्चित भारतीय भाषा का सतेज रूप ही खडा हो गया।"[१]

—डा० सत्येन्द्र

बीसवी शताब्दी मे साधारण तुकबन्दी से प्रारम्भ करके पहले जयद्रथ-वध की अबाध गतिपूर्ण सरल साहित्यिक रचना हुई ।"

—डा० श्रीकृष्ण लाल

"उनकी (गुप्त जी की) लेखनी से 'जयद्रथ-वध' और 'भारत भारती' की सृष्टि हुई तो वर्षों तक इन दोनो काव्यो की ही भाषा का सौष्ठव अनुकरणीय हो गया। उसमे खडी बोली की जो गरिमा, जो सुषमा प्रस्तुत हुई वह एक मानदण्ड बन गई ।"[३]

—प्रो० सुधीन्द्र

जयद्रथ-वध और भारत-भारती ग्रन्थ काफी लोकप्रिय हुए। उनकी लोक-प्रियता ने यह शका निर्मूल कर दी कि खडी बोली की कविता पाठको को मुग्ध नही कर सकती। दूसरे इन पुस्तको ने खडी बोली की काव्योपयुक्तता निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दी। इस विजय-प्राप्ति के पश्चात् तो वह निरन्तर परिमार्जित, समृद्ध और दीप्त होती चली गई। ब्रजभाषा का स्वर मन्द पड गया। आधुनिक युग मे जन्म होने पर भी प्राचीन युग मे श्वास लेने वाले—जगन्नाथ दास रत्नाकर

---

१ गुप्त जी की कला, तृतीय सस्करण, पृ० ७

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, द्वितीय सस्करण, पृ० १४२

३ हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रथम सस्करण, पृ० ४०४

तथा प० सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे—कवि अन्त तक ब्रजमाधुरी पर ही मुग्ध रहे - किन्तु युगधर्म के प्रति जागरूक कवि ने खड़ी बोली का ही व्यवहार किया। अनेक प्रतिभाशाली आत्माओं के करस्पर्श से निरन्तर वर्द्धमान खड़ी बोली आज काफी पुष्ट और शक्तिसम्पन्न हो गई है। अब उसकी कलात्मक सम्भावनाओं और लाक्षणिक शक्तियों का अपरिमित विकास हो गया है—मैथिलीशरण तो शायद इस दिशा में पिछड़ गए हैं। साहित्य के सन् १९२६ से १९४७ ई० तक के इतिहास के अनुसन्धाता डा० भोलानाथ खड़ी बोली के अधुनातन औज्ज्वल्य, दीप्ति, समृद्धि और विकसित अभिव्यञ्जना शक्ति का इतिहास बताते हुए लिखते हैं—

"महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते खड़ी बोली में भी कविता लिखी जाती प्रारम्भ हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली की कविता को बहुत प्रोत्साहन दिया और खड़ी बोली गद्य का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। जयशंकार प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि ने कविता में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली को विकसित करने और उसमें कलात्मकता का समावेश करने में अपना अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया।"[1]

प्रसाद से अंचल तक के कवियों ने निस्सन्देह खड़ी बोली को 'विकसित करने और उसमें कलात्मकता का समावेश करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।' चाहें तो उपर्युक्त सूची में सर्वश्री सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' प्रभृति कवियों के नाम और जोड़े जा सकते हैं। लेकिन पता नहीं डा० भोलानाथ महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् एकदम जयशंकर प्रसाद पर कैसे कूद पड़े!—प्रसाद और महावीर प्रसाद के बीच के अनिवार्य सेतुसम—मैथिलीशरण जी—को न जाने वे किस प्रकार विस्मृत कर गए? मैं मानता हूँ कि आज हिन्दी में गुप्त जी से अधिक व्यञ्जनापूर्ण और लाक्षणिक शक्तिसम्पन्न भाषा के अधिकारी तथा कलात्मक अभिव्यञ्जन में समर्थ कवि विद्यमान हैं और स्पष्ट शब्दों में कम से कम प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की भाषा हमारे कवि से अधिक सशक्त, उज्ज्वल तथा समर्थ है। फिर भी क्या उनके महत्त्व का अस्वीकार किया जा सकता है?—क्या काव्य-भाषा, खड़ी बोली के विकास में उनका

[1] हिन्दी साहित्य (१९२६ ई०—१९४७ ई०), संस्करण १९४८ ई०, पृ० १८

योगदान विस्मरणीय है ? यदि इतिहास का एक पृष्ठ उलटकर देखे तो पता लगेगा कि आरम्भ मे खडी बोली के यशस्वी कवि-कलाकर प्रसाद जी ने भी ब्रजभाषा मे ही कविता की थी। बाद मे वे खडी बोली की तरफ आए।—उस खडी बोली की ओर जो कि मैथिलीशरण जी द्वारा प्रवर्तित थी। खडी बोली की प्रकृति को प्रारम्भ मे ही पहचानने वाला आलोच्य कवि ही है।[१]

फिर भी भाषा की समृद्धि, शक्ति और दीप्ति की दृष्टि से आज हमारा कवि पीछे रह गया है। शक्ति भर वह उसमे कलात्मकता का समावेश करता रहा, पर कब तक! आखिर एक न एक दिन सभी तो हार जाते है।—४५, ५० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य के लिए नूतनता का अर्जन कष्ट-साध्य किंवा असम्भव हो जाता है। यही इस कवि के साथ हुआ। अन्य कवि उससे आगे बढ गए—प्रगति के लिए यह अनिवार्य है। इस तथ्य मे गुप्त जी की हीनता अथवा असमर्थता के सन्धान को विक्षेपण ही कहा जाएगा। क्योकि यह एक स्वीकृत सत्य है कि पूर्ववर्ती कवियो की श्रम-अर्जित सभी सिद्धियाँ परवर्तियो को सहज उपलब्ध होती है। अत वे और भी विकास-विवर्द्धन मे सफल हो जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा अन्य कवियो की सिद्धियो के मूल मे गुप्त जी की उपलब्धियाँ है। इन कलाकारो की अपनी शक्तियो से इन्कार नही किया जा सकता, फिर भी यदि मैथिलीशरण जी का योग न होता तो खडी बोली का इतना सस्कार, परिष्कार एव वैभव-विकास शायद अभी तक न हुआ होता। इस प्रकार खडी बोली के विकास मे उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"किसी माला मे प्रथम मणि, उपवन मे प्रथम पुष्प, गगन मे प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है वही वर्तमान हिन्दी कविता मे गुप्त जी का है।"[२]

---

१ दे० हिन्दी साहित्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सस्करण सन् १९५५, पृ० ४०२
२ हमारे साहित्य-निर्माता शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० ७१

(घ) छन्द

छन्द ज्ञान का प्रमुख अग है। वेद के षडाग मे उसे भी स्थान मिला है। यद्यपि अन्य पाँचो अगो—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—की अपेक्षा उसे हीनतर स्थान दिया गया है, वेद-पुरुष के चरण माना गया है—

> छन्द पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
> ज्योतिषामयन चक्षुर्निरुक्त श्रोत्रमुच्यते ।।
> शिक्षा घ्राण तुवेदस्य मुख व्याकरण स्मृतम्।
> तस्मात् सागमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते ।।[१]

फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि उसे विद्या के एक अग के रूप मे स्वीकार किया गया है।—और फिर अपेक्षाकृत हीन होने पर भी चरणो की परम आवश्यकता से इन्कार नही किया जा सकता। अत उक्त श्लोक के अनुसार छन्द अथवा छन्द शास्त्र विद्या का आवश्यक अग है। यही पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह अन्यान्य शास्त्रो के समान ही आर्ष तथा अतिप्राचीन है। महर्षि पिंगल इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते है। इसीलिए छन्द-शास्त्र को पिंगलशास्त्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

छन्द और उसका स्वरूप

'छन्द' शब्द का साधारण अथवा कोशगत अर्थ है 'बन्धन'। काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'छन्द' मे भी उसका यही अर्थ गृहीत है। कविता की गति को आबद्ध करने वाले नियम ही छन्द है। किन्तु ये नियम उसकी गति को अवरुद्ध न कर व्यवस्था ही प्रदान करते है। इस प्रसग मे कवि-कलाकार पन्त की निम्न पक्तियाँ विशेषत अवलोकनीय है—

"कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियत्रण से राग को स्पन्दन कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हे सजीव बना देते है।"[२]

वास्तव मे 'बन्धन' चिरकाल से अभिशसा का पात्र है—उसमे बाधा का भाव

---

१ पाणिनीय शिक्षा (निर्णयसागर प्रेस), श्लोक न० ४८-४०

२ पल्लव, पाचवा सस्करण, भूमिका, पृ० २८

भी सम्मिलित है। शायद लोग इसीलिए उसे त्याज्य अथवा गर्हित समझने लगे है। किन्तु छन्द तो कविता को गद्य से पृथक् करने वाले धर्म—लय का बाधक न होकर साधक ही है। अतएव ग्राह्य एव अभिनन्दनीय है। 'बन्धन' शब्द की प्रकृत भावाभिव्यजना मे इस असमर्थता के कारण ही कदाचित सुधाशुजी को उससे पहले 'कृत्रिम' विशेषण लगाना पडा—उन्होने छन्द के 'बन्धन' को 'कृत्रिम बन्धन' कहा है।[1] अर्थात् वह बाधक प्रतीत होता है—पर है नही।

आज मुक्त छन्द अथवा स्वच्छन्द छद का काफी जोर है। किन्तु उसमे छन्दत्व के बहिष्कार की कल्पना उचित नही। क्योकि छन्द के मूलाधार लय की चिन्ता उसमे भी की जाती है उसका बराबर ध्यान रखा जाता है—यही तो छन्द की आत्मा है। फिर छन्द का तिरस्कार अथवा बहिष्कार कहाँ हुआ ?—मुक्त छन्द मे भी उसकी आत्मा सुरक्षित है। बस, बदला है केवल बाह्य कलवर। पुष्कल परिमाण मे रचना हो जाने पर उसका भी वैज्ञानिक अध्ययन सभव होगा, उसकी विभिन्न पद्धतियो का भी नामकरण हो सकेगा—लक्ष्य के समक्ष होने पर ही तो लक्षणो का निर्माण हुआ करता है। परम्परा-प्राप्त छन्द शास्त्र क्या शुरू से ऐसा ही था ? न जाने वह कितने परिवर्तन-परिवर्द्धन का परिणाम है।

ऋग्वेद मे प्रयुक्त प्रधान छद केवल सात है।[2] किन्तु बाद मे ये छद छन्दो-जातिया बन गए। सस्कृत काल मे 'प्रस्तार' के द्वारा छन्दो की सख्या लाखो तक पहुचा दी गई। हिन्दी मे 'प्रस्तार' का यह विस्तार भानुकवि के छद प्रभाकर मे देखा जा सकता है। वर्ण अथवा मात्रा के प्रत्येक सभव अथवा सभावित क्रम की परिकल्पना द्वारा एक-एक छन्द के शत सहस्र छन्द बन गए। उदाहरणार्थ ३२ मात्राओ के पैतीस लाख चौबीस हजार पाँच सौ अठत्तर छन्द हो सकते है।[3]—और १२ वर्णो के चार हजार छियान्वे छन्द बन सकते है।[4] किन्तु यह सारा विस्तार-प्रस्तार कौतुक मात्र है। प्रयोग मे आने वाले छन्द कुछेक ही है, शेष का तो अस्तित्व ही नही। वस्तुत छन्द शास्त्र मे 'प्रस्तार' के

---

१ दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय सस्करण, पृ० १३६

२ तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि इति श्राम्नानम्।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि।

३ दे० छन्द प्रभाकर भानुकवि, सस्करण सन् १९२२, पृ० ३५

४ दे० हिन्दी छन्द प्रकाश रघुनन्दन शास्त्री, द्वितीय सस्करण, पृ० १२२

अन्तगत विवेचित गणितीय ऊहापोह मे बौद्धिक मनोरजन के अतिरिक्त कोई सार नही हे । अस्तु !

गुप्त जी द्वारा अनेक छन्दो का प्रयोग

हमारे कवि ने वर्णिक ओर मात्रिक, सम और विपम सभी प्रकार के छन्दो का व्यवहार किया है । अपेक्षाकृत मात्रिक और वे भी सम—अधिक प्रयुक्त हे । वास्तव मे मात्रिक छ द ही हिन्दी के अधिक अनुकूल है । वर्णिक तो उसके लिए असह्य भार है—उसका प्रकृत सौन्दय परिस्फुट ही नही होता वरन् दब जाता है, विलीन हो जाता है । पल्लव की भूमिका मे पन्त जी ने लिखा है—

"हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छन्दो ही म अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता हे, उन्ही के द्वारा उसमे सौन्दय की रक्षा की जा सकती है । वर्ण-वृत्तो की नहरो मे उसकी धारा अपना चचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कलकल छलछल तथा अपने क्रीडा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ हो जाती, उसका चचल भृकुटि-भग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है ।"[1]

मैथिलीशरण जी न ऐसा कही लिखा तो नही—किन्तु वे भी मात्रिक छन्दो मे अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते है और उन्ही को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल मानते है । फिर भी उन्होने वर्णिक वृत्त लिखे अवश्य है—हाँ, प्राधान्य मात्रिक का ही है । रहो सम छन्दो के अधिक व्यवहार की बात !—यह कवि की अपनी रुचि है । सम छन्द ही कदाचित् विशेप रूप से सौम्य स्वभाव के अनुरूप हे । फिर भी विपम छन्दो का एकान्ताभाव नही है । सब मिलाकर आलोच्य कवि के छन्द विधान मे व्यापकता और वैविध्य है । उसके काव्य म गीतिका, हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, शिखरिणी, शृगार, पीयूप-वष, सुमेरु, पदपादाकुलक, मानव, वियोगिनी, वीर ओर रोला तथा छप्पय आदि हिन्दी के सभी प्रसिद्ध छ द व्यवहृत है और प्राय सभी का कुशल प्रयोग हुआ है । कुछ उदाहरण लीजिए

गीतिका

लोक-शिक्षा के लिए, अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर सदृश कौतुक किया ।

---

१ पाचवा सस्करण, पृ० २२-२४

राम नाम ललाम जिसका, सब-मगल-धाम हे,
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा समेत प्रणाम है ।।[१]

इसके प्रत्येक चरण मे २६ मात्राएँ है । दूसरे और तीसरे मे १४, १२ पर किन्तु पहले और चौथे मे १२, १४ पर यति है । ये दोनो ही नियमानुकूल है ।[२] द्वितीय के अतिरिक्त शेप तीनो चरणो के अन्त मे गीतिका को कर्ण-मधुर बना देने वाला 'रगण' भी हे । गीतिका की चारु गति के लिए उसके प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवी और सतरहवी मात्राए लघु होनी चाहिएँ । उपयु क्त छन्द के चारो चरणो मे यह विशेपता विद्यमान है ।

हरिगीतिका

पापी मनुज भी आज मुह से, राम नाम निकालते !
देखो भयकर भेडिये भी, आज आँसू डालते !
आजन्म नीच अधर्मियो के, जो रहे अधिराज है—
देते अहो ! सद्धम की वे, भी दुहाई आज हैं ! ।[३]

यहा नियमानुसार १६, १२ की यति से २८ मात्रा है । चौथे चरण मे यतिभग का भ्रम हो सकता है—किन्तु 'वे' और 'भी' अपने आप मे पूर्ण है । अत वह शका निर्मूल है। हरिगीतिका मे छठी, सातवी तथा आठवी और इक्कीसवी, बाइसवी तथा तेइसवी मात्रा का क्रम '। ऽ ।' नही होना चाहिए ।[४] उक्त छन्द के चारो चरणो मे इस सूक्ष्मता का भी भली-भाति परिपालन हुआ है ।—और माधुर्य के निमित्त चरणान्त मे रगण भी है ।

इन सभी विशेषताओ से युक्त हरिगीतिका का एक पद्य और लीजिए—

अब चित्रशालाएँ हमारी, नाम शेष हुई यहाँ,
पर आज भी आदर्श उनके, है अनेक जहाँ तहाँ ।
अब भी अजेटा की गुफाएँ चित्त को है मोहती,
निज दर्शकों के ध य रव से, गूज कर है सोहती ।।[५]

---

१ रग में भग, सस्करण सवत् २००३, पृ० ५
२ दे० छन्द प्रभाकर—भानुकवि, सस्करण सन् १९२२, पृ० ६५
१ जयद्रथ-वध, सत्ताइसवां सस्करण, पृ० ७८
२ दे० छन्द प्रभाकर—भानुकवि, सस्करण सन् १९२२, पृ० ६७
३ भारत-भारती, अष्टश सस्करण, पृ० ४७

दोहा

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम-रूप के सग,
मुझ पर चढने से रहा, राम ! दूसरा रग ।[१]

यहाँ विषम चरणो मे १३ और सम मे ११ मात्राएँ तो है ही । पर साथ ही दोहे की निर्दोषता के लिए अनिवाय विषम चरणो के आदि मे जगण का अभाव है ।—और अन्त मे लघु भी है ।

बरवै

अवधि-शिला का उर पर, था गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी दृग्जल-धार ।[२]

यथानियम प्रथम और तृतीय चरणो मे बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ मे सात-सात मात्राएँ है । अन्त मे जगण है जो बरवै को अधिक रोचक बनाता है ।

वीर अथवा मात्रिक सवैया

नही जानते तुम कि देखकर, निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी, प्रबलाएँ अपमान विचार ।
पक्षपातमय सानुरोध है, जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो, कामिनियो का वैर-विरोध ।[३]

१६, १५ पर यति से प्रत्येक चरण मे ३१ मात्राएँ है । सभी के अन्त मे ऽ। है । वीर छन्द का कैसा दोपमुक्त उदाहरण है !

गीति (आर्य्या)

नाथ, कहाँ जाते हो ?
अब भी यह अन्धकार छाया है ।
हा ! जग कर क्या पाया,
मैने वह स्वप्न भी गँवाया है ।[४]

---

१ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ६
२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २४८
४ पचवटी सस्करण सवत् २००३, पृ० ४०-४१
४ यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० २३

यहा गीति के लिए अपेक्षित विषम चरणो म १२ तथा सम पदो मे १८ मात्राएँ है। किन्तु यह तो उसका स्थूल नियम है। इसका थोडा और विश्लेषण किया जाए गीति छन्द आर्य्या के पाच प्रधान भेदो मे से एक है।—और भानु जी ने आर्या के विषय म लिखा है —

'आर्य्या छन्द मे चार मात्राओ क समूह को 'गण' कहते हैं। ऐसे चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु के विन्यास से आर्य्या का पूर्वाद्ध होता ह।"[1] गीति भी आर्य्या के ही अन्तगत है। अत उस पर भी यह बात लागू होती है। अर्थात उसके प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुथ चरणो को मिलाकर 'चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु' वाले पूर्वाद्ध बनते ह। अब इस पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध क 'विषम गणो मे जगण न हो। छठवें जगण हो और अन्त मे गुरु हो'[2] तब जाकर कही शुद्ध गीति की सिद्धि होती है। परीक्षा क लिए उपयुक्त छ द को पूवकथित रूप मे उपस्थित करता हूँ—

१	२	३	४	५	६	७	ग
नाथ क	हाँ जा	ते हो	अब भी	यह अ	धकार	छाया	है

१	२	३	४	५	६	७	ग
हा जग	कर क्या	पाया	मेने	वह स्वप्	न भी गँ	वाया	है

आप देख रहे है कि आप दोनो अर्द्धांशो के विषम (१, ३, ५ और ७) गणो मे जगण नही है। किन्तु षष्ठ मे जगण (। ऽ ।) अनिवार्यत विद्यमान है। अन्त मे गुरु भी है। इस प्रकार यह छन्द सर्वाशेन शुद्ध है। इसमे शास्त्र के सूक्ष्म कठोर नियमो का भी सफल निर्वाह किया गया है।

छप्पय

हिन्दी को केवल न, मातृभाषा ही मानो,
व्यापकता मे उसे, देश-भाषा भी जानो।
होगी मन की बात, परस्पर ज्ञात न जब लो,
होकर भी हम एक, भिन्न ही से है तब लो।

---

३ छन्द प्रभाकर, सस्करण सन् १६०२, पृ० ६८
४ ,, ,, ,, ,, पृ० ६६
१ पद्य-प्रबध, द्वितीय सस्करण, पृ० ७७

बस हिन्दी ही यह भिन्नता, दिन दिन करती दूर है।
नि शेष शक्तिमय ऐक्य को, भरती वह भरपूर है॥[1]

इसमे नियमानुसार पहले चार पद ११, १३ की यति से २४ मात्राओ वाले रोला के हे।—और अतिम दो चरण १५, १३ की यति से उल्लाला के दो दल हे।

द्रुतविलम्बित

सुख सभी जिसको तुमने दिये,
विविध रूप धरे जिसके लिये,
न कुछ वस्तु अलभ्य रही जहाँ,
अब हरे वह भारत हे कहाँ ?[1]

यहा प्रत्येक चरण मे क्रमश नगण (।।।), भगण (ऽ।।), भगण (ऽ।।) और रगण (ऽ।ऽ) आयोजित है। द्रुतविलम्बित का यही नियम है।[2] इसी छ द का अन्य नाम सुन्दरी है।

वसन्ततिलका

रे क्रोध, जो सतत अग्नि बिना जलावे,
भस्मावशेष नर के तनु को बनावे।
ऐसा न और तुझ-सा जग बीच पाया,
हारे विलोक हम किन्तु न दृष्टि आया॥[3]

यथानियम इसके प्रत्येक चरण मे ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ अर्थात् तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु है।

शिखरिणी

आदर्शी राजा से, न निज सुत तो शासित हुए,
खरे भी खोटे से, बुध विदुर निष्कासित हुए।
चिकित्सा ऐसी क्या, शमन करती शल्य उनका ?
बढा आगे से भी, विषमतम वैकल्य उनका ?[4]

---

१ स्वदेश-सगीत, प्रथम सस्करण, पृ० ३४
२ द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।
३ पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० ९०
४ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० २८३

इस पद्य के प्रत्येक चरण मे १७ वर्ण है। उनका क्रम इस प्रकार है—य म न स भ ल ग—तथा ६, ११ पर यति है जो शिखरिणी के नियमानुसार ही है।[१]

स्रग्धरा

"राना ऐसा लिखेगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है।
मानी हैं एक ही वे, बस नस नस मे, धीरता ही धँसी है।"
यो ही मैंने सभा मे, कुछ अकबर की, वृत्ति है आज फेरी।
रक्खो चाहे न रक्खो, अब सब विध है, आपको लाज मेरी।।[२]

यहाँ प्रत्येक चरण मे मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण के क्रम से २१ वर्ण हैं। ७, ७, ७ पर यति है। इस प्रकार स्रग्धरा के लिए अपेक्षित सभी उपकरण उपस्थित है।

सवैया

सखि मैं भव-कानन मे निकली बनके इसकी वह एक कली,
खिलते खिलते जिससे मिलने उड आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको, तब लो यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूज यहाँ किस ओर गया वह छोड छली ?[३]

यह दुर्मिल सवैया है—इसके प्रत्येक पाद मे आठ सगण (।।ऽ) है।

विदेशी छन्द

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त कुछ हिन्दी-सस्कृत छन्दो के उदाहरण दिए जा चुके हैं।—और भी अनेक प्रस्तुत किये जा सकते हे। पर वह शायद अनीप्सित विस्तार होगा। स्थालीपुलाकन्याय द्वारा इतने से ही कवि की विशद छन्द-योजना का अनुमान लगाया जा सकता है। अब उसके द्वारा व्यवहृत कुछ विदेशी (यहाँ से मेरा अभिप्राय है हिन्दी-सस्कृत-वाह्य) छन्दो का नमूना भी देखिए

---

१ यमी ना सो भूला, गुण गणनि गा गा शिखरिणी (छद प्रभारक)

२ पत्रावली, सस्करण सवत् २०११, पृ० ६

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० २३०

गजल

भारत-भारती की 'विनय' शीर्षक अन्तिम लम्बी कविता एक गजल है—यद्यपि कवि ने स्वय उसे सोहनी (एक प्रकार की रागिनी) लिखा है।—और हिन्दी छन्द-शास्त्र के अनुसार उसका प्रत्येक पद्य हरिगीतिका है। फिर भी हमारे विचार मे उसे गजल मानना ही उचित है। क्योकि उसका विन्यास उसी के अनुसार है—हरिगीतिका के अनुरूप नही। उस कविता की प्रारम्भिक कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

इस देश को हे दीनबन्धो! आप फिर अपनाइए,
भगवान्! भारतवष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।
जड-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा-पूण है,
हेरम्ब अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए॥
हम मूक किंवा मूढ हो, रहते हुए तुझ शक्ति के!
माँ ब्राह्मी कहदे ब्रह्म से सुख-शान्ति फिर सरसाइए।
सवत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,
फिर भाग्य इसका हे विधाता! पूर्व-सा पलटाइए॥[1]

अब इन आठ पंक्तियो मे आप देखेगे कि दो-दो पंक्तिया अर्थात् पहली और दूसरी, तीसरी और चौथी, पाँचवी और छठी तथा सातवी और आठवी भाव की दृष्टि से अपने आप मे प्राय पूर्ण है। सवथा असम्बद्ध तो नही है फिर भी एक युग्म को पूववर्ती अथवा परवर्ती अन्य युग्म की आकाक्षा नही है जैसी कि किसी पद्य के चारो चरणो मे हुआ करती है। दूसरे तुक भी पहली, दूसरी, चौथी, छटी और आठवी पंक्ति का मिलता है। अतएव इन्हे हरिगीतिकका मानने मे सकोच होता है। वास्तव मे पूर्वोक्त युग्म उर्दू के शेरो के समान है—कुछ शेरो का समूह ही तो गजल है! बस शर्त यह है कि वे एक ही 'वजन' और एक ही 'काफिया' वाले हो तथा पहली शेर की दोनो पंक्तियो का तुक मिले—और फिर हर दूसरी पंक्ति का तुक मिलता चला जाए।[2] स्पष्ट शब्दो मे तुक का क्रम क–क–ख–क–ग–क–घ–क होना चाहिए।

भारत-भारती की विचाराधीन रचना मे गज़ल की ये सभी विशेषताए उपलब्ध हैं। पर स्पष्टत पहली, दूसरी, चौथी, छटी पंक्तियो का तुक मिल

---

१ भारत-भारती, अष्टदश सस्करण, पृ० १८१

२ दे० आइनए बिलागत मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी बी० ए०, प्रथम सस्करण, पृ० १७

रहा है। हा, लम्बाई पर अवश्य कुछ शका उठ सकती है। साधारणत यह माना जा रहा है कि गजल मे कम से कम पाच तथा अधिक से अधिक ग्यारह शेर होने चाहिए। और प्रस्तुत रचना मे ४० पक्तिया अर्थात् २० शेर है। 'मगर इस जमाने मे इसकी (उक्त नियम की) पैरवी[१] नही की जाती और कोई तादाद मुतइयन[२] नही है बाज बाज हजरात बीस बीस, पच्चीस मतला[३] कहने पर भी खुश और मुतमइन[४] नही होते।'[५] अत इस रचना की लम्बाई को भी इस युग मे अनियमित नही कह सकते। इस गजल की बहर—छन्द-प्रभाकर मे मुसतफग्रलन मुसतफग्रलन मुसतफग्रलन मुसतफग्रलन अथवा मुसतफायलुन मुसतफायलुन मुसतफायलुन मुसतफायलुन के निर्देशन स्वरूप उद्धृत—

> **अब चहरये जेबाय तो, रश्के बुताने आजरी**
> **हरचन्द वस्फत मी कुनम, दर हुस्न जा जेबा तरी**
> **मन तू शुदम तू मन शुदी, मन तन शुदम् तू जा शुदी[६]**
> **आदि।**

—फारसी गजल से मिलती-जुलती है। अत यह असदिग्ध रूप से गजल है।

रुबाई

हिन्दी मे उर्दू फारसी का सर्वाधिक प्रचलित अथवा गृहीत छन्द रुबाई है। कुछ लोग इसे 'चौपदा' कहना पसन्द करते है। हरिऔध जी के 'चोखे चौपदे' प्रसिद्ध ही है। निराला ने भी दो-चार रुबाइया लिखी है। तथा बच्चन की मधुशाला इसी छन्द मे लिखी गई है। कवि सम्मेलनो मे आजकल कविता-पाठ करने से पूर्व कविगण प्राय रुबाइया पेश किया करते है। हमारे कवि ने भी उमर खय्याम की जगत्प्रसिद्ध रुबाइयो के अनुवाद मे इसी छ द का व्यवहार किया है।

रुबाई वजन-विशेष के चार चरणो का एक छन्द है जिनमे कि कोई विषय पूर्णत समाहित हो गया हो। इसमे पहले दो पाद तुकयुक्त, तीसरा कभी

---

१ अनुसरण, २ निश्चित, ३ शेर, ४ सन्तुष्ट
५ आइनए विलायत मिर्जा मुहम्मद अस्करी, प्रथम सस्करण, पृ० १७ (पाद टिप्पणी)
६ सस्करण सन् १९२२, पृ० ६७

तुकयुक्त, और कभी तुकविहीन तथा चौथा पहले दो के अधीन होता है।[1] गुप्त जी की रुबाइयो मे तीसरा चरण सदैव अतुकान्त है। चारो चरणो मे अन्त्यानुप्रासवाली रुबाइयाँ उन्होने नही लिखी। नीचे उनकी दो रुबाइया उद्धृत की जाती है—

> वाम कनक-कर ने ऊषा के जब पहला प्रकाश डाला
> सुना स्वप्न मे मैने सहसा गूँज उठी यो मधुशाला—
> उठो, उठो ओ मेरे बच्चो, पात्र भरो, न विलम्ब करो,
> सूख न जावे जीवन-हाला, रह जावे रीता प्याला।[2]

यहाँ प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणो मे तुक-साम्य है—और चारो चरणो का वजन भी एक ही है। इस प्रकार रुबाई के नियमो का भली-भाति पालन हुआ है। उपर्यक्त रुबाई उनके अनुवाद-ग्रन्थ-रुबाइयात उमर खय्याम से उद्धृत है। पर उन्होने कुछ रुबाइया स्वतन्त्र रूप से भी लिखी है। उनमे यही विशेषता है, जैसे—

> नष्ट हो त्रय-ताप लोचन दृष्टि मे,
> दीन क्यो हो मोतियो की सृष्टि मे
> भीगते है ईश भी याचक बने,
> उस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि मे।[3]

चतुर्दशपदी

अंग्रेजी छन्द शास्त्र मे से हिन्दी मे सर्वाधिक अनुकरण हुआ है सॉनेट अर्थात् चतुदशपदी का। पर हमारे कवि के लिए उसमे विशेष आकर्षण नही है। उन्होने कुल दो चतुदशपदियाँ लिखी है—एक अनुवादित और एक मौलिक है। 'मित्राक्षर' शीषक उनकी अनूदित चतुदशपदी तो मेघनाद-वध के प्रारम्भ मे देखी जा सकती है।[4] किन्तु उनकी मौलिक चतुदशपदी अभी तक प्रकाशित

---

१ औजान मखमूस में ऐसे चार मिस्रे जिनमें कोइ एक मजमून तमाम कर दिया जाए। पहले दो मिस्रे मुकफ़फा और कभी गैर मुकफ़फा और चौथा मिस्रा पहले दो मिस्रों के ताबे होता है।

—आइनए विलागत मिर्जा मुहम्मद अस्करी, प्रथम सरकरण, पृ० १० से रुबाइ की परिभाषा

२ रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृ० ३१

३ सरस्वती (पत्रिका), मइ १०१५

४ द्वितीयावृत्ति, पृ० ५

नही हुई। वह उन्होने अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष्य मे लिखी थी। मुझे कवि के हस्तलिखित कविता सग्रह से उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस सग्रह के पृष्ठ १४५ पर लिखित वह चतुदशपदी निम्नलिखित है—

छोटो पर छोह तो बडो की ही महत्ता है
और जो हो, अच्छा कहाँ आत्म अवसाद है,
तृण ही रहूँ मै कि‍न्तु मेरी एक सत्ता है
वाटिका मे ज म यह प्रभु का प्रसाद है
मेरी मातृभूमि न पिलाया मुझे रस है,
उवरा ने साथ ही उगाये फूल फल भी,
एक हिम व्योम वि‍न्दु मेरे अर्थ बस है
एक ज्योतिरिगण सा आश्रित अनल भी।
स्थान गुण मेरा, पशु भोजन न मै बना
साथी सुमनो ने निज गुच्छ मे गुथा लिया,
धन्य, मेरा माली वह उन्नत महामना
मै क्या और चाहूँ मुझे क्या न उसने दिया
प्रेरक हो राम तो जय त से भी होड लूँ
चाहता हूँ, हि दी पर अपने को तोड दूँ।[1]

कतिपय नवीन छन्द

परम्पराप्राप्त छन्दो के अतिरिक्त कुछ नवीन छन्द भी गुप्त जी के काव्य मे व्यवहृत है

१ साकेत के सप्तम सग मे १७ मात्रा के एक सर्वथा नवीन छन्द का प्रयोग हुआ है। यो तो १७ मात्राओ के २५८४ विभि‍न छन्द बन सकते हैं—किन्तु सप्तम सर्ग मे प्रयुक्त प्रकार का व्यवहार इसमे पहले किसी कवि ने नही किया। भानु जी ने अपने छन्द-प्रभाकर मे १७ मात्राओ के केवल दो छन्दो—राम और चन्द्र—का उल्लेख किया है। राम मे ९, ८ पर यति तथा अ‍ंत मे ।SS होता है—और चन्द्र मे १०, ७ पर यति होती है। किन्तु साकेत का पद्य—

सूत, रथ की गति करो कुछ म‍न्द,
अश्व अपने से चले स्वच्छन्द।

---

१ कवि से मुझे पता चला था कि यह बनारस और आगरा में सुनाइ जा चुकी है।

अनुज, देखो, आगया साकेत,
दीखते हैं उच्च राज-निकेत ।[1]

इसमे न गाम के लिए अपेक्षित यति है न अन्त मे ।ऽऽ—और न ही चन्द्र के लिए आवश्यक १०, ७ पर विराम । इसके विपरीत ७, १० पर यति प्रतीत होती है । अत यह अप्रयुक्त-पूव छन्द है ।

२ हमारे कवि का दूसरा नवीन छन्द है गणो के नियन्त्रण से मुक्त १५ वर्णों का समवृत्त । हाँ, अन्त मे गुरु अनिवर्यत विद्यमान है, यथा—

ऋण ही चुकाया नही उसका नृपति ने
आप उमको भी पुरस्कार दिया प्रेम से
कहते हैं, उसने प्रजा का ऋण भर के
साका किया और निज सवत् चला दिया ।[2]

अथवा

रामानुज शूर चले छोड उस वन को
भानु कुल भानु जहाँ प्रभु थे शिविर मे ।
देख के किरात यथा वन मे मृगेन्द्र को
अस्त्रागार मे है दौड जाता वायु-गति से[3]

शास्त्र मे ऐसे—१५ वर्णों के गणमुक्त—वृत्त का उल्लेख नही है । शास्त्रीयता का आग्रह ही हो तो इसे घनाक्षरी (कवित्त मनहरण) का उत्तरार्द्ध मान सकते है—शायद इसकी लय भी उम उत्तरार्द्ध वाली ही है । फिर भी यह कवि का नव-प्रयास तो है ही !

इस प्रसग मे यह भी उल्लेख्य है कि सुधीन्द्र जी ने उपर्युक्त वृत्त मे ही तुलसी का निम्न छन्द प्रस्तुत किया है—

देखि ! द्वै पथिक गोरे सावरे सुभग है ।
सुतिय सलोनी सग सोहत सुभग हैं ।
सोभा सिन्धु सम्भव से नीके नीके मग हैं ।
मात पिता भागिबस गये परि फग हैं ।[4]

ऐसी दशा मे यह कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण जी इसके प्रथम

---

१ साकेत (सप्तम सर्ग), सस्करण सवत २००५, पृ० १२६
२ सिद्धराज तेरहवाँ सस्करण, पृ० ११४
३ मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृ० ३०१
४ हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रथम सस्करण, पृ० ४३४-४३५

प्रयोक्ता नही है । पर यह मानना भूल होगी कि उन्होने तुलसीकृत छन्द के अनुकरण पर अथवा उससे परिचय के बाद ऐसा किया है । वास्तव मे १४ अक्षरो वाले बगला छन्द 'पयार' का सुगमतापूर्वक अनुवाद करने के लिए उन्होने यह आविष्कार किया था ।—और आधुनिक युग मे तो उनसे पहले किसी ने भी इसका प्रयोग नही किया ।

३ दो छन्दो के मिश्रण से भी कभी-कभी नवीन छन्द का निर्माण कर लिया गया है, जैसे—

हेमन्त महिष, अश्व, बराह-जाति—
होती प्रसन्न अति ही गज, काक-पाति ।
पुन्नाग, लोध्र तरु सन्तत फूलते हे,
भौरे सहष इन ऊपर झूलते हे ।।[१]

इस वृत्त मे पहले दो पाद वसततिलका के तथा शेप दो हरिलीला (मुकुन्द) के हैं । इस प्रकार एक नया मिश्र छन्द निर्मित हुआ । दो ही नही दो से अधिक छन्दो का मिश्रण भी गुप्त जी ने किया है, यथा—

हर हर हर बम भोला !
थर थर थर तेरा आसन भी कह विजयी क्यो डोला ।
तूच्छ एक अणु ही था मै तो तूने ही विछिन्न किया
भेद भेद कर पाप बुद्धि से मुझे मुझी से भिन्न किया ।
रह क्यो न कितना ही क्षुद्र,
मुझमे भी हे मेरा रुद्र ।
कुशल नहीं तेरा भी अब तो फैला फूट फफोला,
हर हर हर बम भोला ![२]

उपर्युक्त छन्द 'अणुबम' के आठ-दस पद्यो मे मे एक है । यह कविता पुस्तक-रूप मे अभी प्रकाशित नही हुई है, हा किसी पत्रिका मे छप चुकी है । इसका 'स्थायी' सार छन्द का उत्तराद्ध है । उसके पश्चात् सार का पूरा चरण है । फिर दो पाद ३० मात्रा के शोकहर (८, ८, ८, ६) छन्द के है । और इनके बाद के दो चरण 'पुनीत' के हे । फिर एक चरण सार का आया है । इस प्रकार तीन भिन्न छन्दो के सम्मिश्रण से एक नवीन छन्द का अस्तित्व सम्भव हुआ है ।

---

१ पद्य प्रबन्ध, द्वितीय सस्करण, पृ० १०५

२ गुप्त जी के हस्तलिखित कविता-सग्रह के पृ० १८३ से उद्धत

छन्दो की प्रसगानुकूलता

छन्द वाणी का परिधान है। पर जैसे मानव-जीवन मे एक ही परिधान प्रत्येक समय और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नही हो सकता वैसे ही काव्य मे भी सदा सवदा किसी एक ही छन्द से काम नही चल सकता। वाणी की भाव भगी अर्थात् वक्तव्य के साथ ही छन्द मे भी परिवतन होना चाहिए—और होता है। समर्थ कवि सदैव इस बात का ध्यान रखते है। आलोच्य कवि को भी यह तथ्य कभी विस्मृत नही होता।

वृत्त-वरान या प्रकथन मे वडे अथवा लम्बे छ द अधिक उपादेय हुआ करते है। हमारे कवि की दृष्टि भी जहा केवल प्रकथन पर केन्द्रित हे वहाँ दीघ छन्द ही व्यवहृत है। 'रग म भग' मे गीतिका, जयद्रथ-वध मे हरिगीतिका प्रयुक्त हे। साकेत के ११वे और १२ वे सर्ग मे—जिनमे इतिवृत्त ही प्रधान है—भी क्रमश महातैथिक (३० मात्राओ वाले) तथा रोता छन्दो का ही व्यवहार हुआ है। जय भारत क 'योजनगन्धा' अध्याय मे ३१ मात्राओ का ओर भी वडा वीर छन्द स्वीकृत है—

> **पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि,**
> **और आप यदु ने भी पाई आभिजात्य के साथ समृद्धि।**
> **उपजे भरत भूप पुरु कुल मे बना उन्ही से भारतवर्ष**
> **कर अवतरित आप श्रीहरि को पाया यदु-कुल ने उत्कष।**[1]

किन्तु जहाँ कवि ने विवरण पर नही वरान पर ध्यान दिया है वहाँ अपेक्षाकृत छोटा छन्द गृहीत है। साकेत के पचम सग मे चित्रकूट के चित्रण के निमित्त २१ मात्राओ के त्रिलोकी छन्द का प्रयोग हुआ है। वन-वैभव मे तो इससे भी छोटा षोडशमात्रिक छन्द है—

> **चादनी छिटकी थी उस रात,**
> **विचरता था वासातिक वात**
> **सो रहे थे यद्यपि जलजात**
> **अयुतशशि थे सर मे प्रतिभात।**[2]

इस प्रकार वरान और विवरण मे कोई न कोई एक छन्द गृहीत है। किन्तु प्रगीतो मे प्राय एक साथ दो-दो, तीन-तीन छन्द मिला दिए गए है। कुणाल-गीत के निम्न उद्धरण मे चौपाई ओर हरिगीतिका का मिश्रण देखिए—

---

१ जय भारत, प्रथम सम्करण पृ ०२१

२ वन-वैभव सम्करण सवत २००५, पृ० २२

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोनाना क्या ?
क्लेश नाम से ही कर्कश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के बस होना क्या ?[१]

—और अधोलिखित अवतरण में दश तथा द्वादश मात्रिक चरण है—

आशा थी हरा हरा=१२ मात्रा
होगा भव भरा भरा=१२ मात्रा
किन्तु प्रलय मग्न धरा=१२ मात्रा
अब न और एरे,=१० मात्रा
ठहर तनिक ठहर आह !=१२ मात्रा
ओ प्रवाह मेरे ![२]=१० मात्रा

नवम सर्गान्तगत साकेत के प्रगीतो मे भी भिन्न विभिन्न छन्दो का मिश्रण हुआ है। गीत और प्रगीत के लिए यह उचित भी है—गान मे आरोह-अवरोह जन्य लोच की उपलब्धि के लिए पाद-मिश्रण आवश्यक ही है। सूक्ति के लिए गुप्त जी ने अपेक्षाकृत छोटे छन्द ग्रहण किए है। प्राचीन कवि ने इसके लिए अधिकाशत दोहे का प्रयोग किया है। वास्तव मे स्मरण मे सुगमता के लिए सूक्ति मे छोटे छन्दो का प्रयोग उचित ही है, यथा—

हार-जीत दोनो ही विधाता के विधान हैं[३]

राहुल को दिए गए यशोधरा के उपदेश—

मन ही के माप से मनुष्य बडा छोटा है,
और अनुपात से उसी के खरा खोटा है।[४]

—मे भी यही छन्द है।

रस और छन्द का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है जो अन्तिम और आत्यन्तिक न होते हुए भी काफी गहरा है। श्रेष्ठ कवि सदैव रसानुकूल छन्द का प्रयोग किया करते है। गुप्त जी भी बडी सतकता से भावो के अनुकूल छन्द का चुनाव करते है। साकेत के प्रथम सग मे दम्पति के प्रेम-परिहास के लिए उन्होने शृगार के 'खास छन्द' पीयूपवर्ष को चुना है तो दशम सर्ग मे उर्मिला के करुणोच्छ्वास

१ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० ५६
२ झकार, द्वितीयावृत्ति, पृ० ८५
३ सिद्धराज, तृतीय सस्करण, पृ० ४६
४ यशोधरा, सस्करण सवत २००७, पृ० ५५

की व्यक्ति के निमित्त वैतालीय अथवा वियोगिनी का व्यवहार हुआ है। महाकवि कालिदास ने भी अज विलाप मे इसी छन्द का प्रयोग किया है। दुख और शोक के उद्गार भारत-भारती के हरिगीतिका मे आबद्ध है—पन्त जी ने भी इसे 'करुणा-रस के लिए अच्छा'[१] माना है। सिद्धराज, विकट भट आदि वीर दर्पपूर्ण रचनाओ मे १५ वर्णो का गणमुक्त छन्द प्रयुक्त है। मेघनाद वध का दुर्वर प्रवाह तो और किसी छन्द मे शायद सुरक्षित ही न रह पाता। घनाक्षरी के इस उत्तरार्द्ध की लय और गति इन प्रसगो के सर्वथा अनुकूल है। यशोधरा मे भी भाव के उच्छ्वसित आवेग के लिए यही छन्द गृहीत है—

यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठे रहती मे ? छान डालती धरित्री को।
सिहनी सी काननो मे, योगिनी-सी शैलो मे,
शफरी-सी जल मे, विहगिनी-सी व्योम मे,
जाती तभी और उन्हे खोज कर लाती मै।[२]

इस प्रकार मैथिलीशरण जी छन्द-निर्वाचन मे प्रसगानुकूलता का बराबर ध्यान रखते है।

किन्तु उनके छन्द-विधान मे महाकाव्योचित गरिमा की कमी है। कुल मिलाकर उन्होने तीन महाकाव्यो का प्रणयन किया है। जिनमे से मेघनाद-वध तो अनूदित है। उसमे मूल के ही अनुकरण पर आद्यत केवल एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। शेष दो—जय भारत और साकेत—मे से जय भारत के पूर्व-प्रणीत अशो को छोडकर अवशिष्ट मे अवश्य कुछ औदात्त्य है। लेकिन उनके सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य साकेत मे अन्तिम दो सर्गो के अतिरिक्त और कही भी छन्द मे महाकाव्य के अनुरूप विस्तार और महार्घता नही है। एक उदाहरण लीजिए—

सुख से सद्य स्नान किये, पीताम्बर परिधान किये,
पवित्रता मे पगी हुई, देवार्चन मे लगी हुई,
मूर्तिमयी ममता माया, कौसल्या कोमल काया,
थी अतिशय आनन्दयुता, पास खडी थीं जनक सुता।[३]

ऐसी पाद-योजना का तरगाकुल-प्रवाह महाकाव्य के गम्भीर नद के से महा-

---

१ पल्लव की भूमिका, पाचवो सस्करण, पृ० ३१

२ यशोधरा, सस्करण सवत २००७, पृ० १२६

३ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ७२

प्रवाह के विपरीत हे। ऐसे छन्दो मे श्रोता की चेतना को अभिभूत करने की शक्ति प्राय नही होती अतएव वे महाकाव्य के अनुकूल है। वास्तव म गुप्तजी का छन्द-विधान भावानुकूल तो हे पर उदात्त नही। महाकाव्य की भव्यता की रक्षा उनके छन्दो मे नही हो पाती।

तुक अथवा अन्त्यानुप्रास

तुक छन्द शास्त्र के ही अन्तगत आता है अत उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। वैसे आज काव्य मे तुक की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लग गया है पर हिंदी-साहित्य के पहले तीन कालो का सम्पूर्ण काव्य अन्त्यानुप्रासयुक्त हे—और आधुनिक युग का अधिकाश काव्य भी तुकयुक्त ही है। फिर भी उससे पराङमुखता का फैशन चल पडा है। किन्तु वह ऐसी हेय, गर्हित अथवा अभिशसनीय वस्तु नही है। समथ कवि द्वारा प्रयुक्त होने पर तुक भी काव्य की मधुरता एव प्रभावक्षमता की वृद्धि मे सहायक होता है। और नही तो कुपात्र के हाथ मे पडने पर किसी भी चीज की दुगति हो सकती हे।

गुप्त जी का अधिकाश काव्य तुकात ही है। यद्यपि मेघनाद-वध की भूमिका मे उन्होने अमित्राक्षर के प्रति स्नेह प्रकट किया है।—और विकट भट, सिद्धराज, मेघनाद-वध, युद्ध आदि मे तुक को तिलाजलि भी दे दी गई है, फिर भी अपेक्षाकृत उनकी तुकान्त रचना अधिक है। और वे है भी इस फन के पूरे उस्ताद! कठिन से कठिन तुक मिलाने मे वे समक्ष है मानो वह बिना प्रयास ही उनकी लेखनी से निसृत हो जाता, यथा—

> **यदि हे यह दोष, दम्भकृत है,**
> **आत्मा से कौन अनादृत है?**[1]

अच्छे-अच्छे कवियो को भी जहा तुक मिलाने मे काठिन्य का अनुभव होता है वहा हमारा कवि एक शब्द की तुक के लिए कई शब्द सहज ही ढूढ लेता है—

> **राम से सुत को भी वनवास,**
> **सत्य हे यह अथवा परिहास,**
> **सत्य हे तो है सत्यानाश,**
> **हास्य है तो है हत्यापाश।**[2]

---

१ जय भारत, प्रथम सस्करण, पृ० ३३७

२ साकेत, सस्करण सवत् २००५, पृ० ५१

निश्चय ही तुक पर इस कवि का अद्‌भुत अधिकार है । मैथिलीशरण जी की लेखनी से 'चक्र' के लिए वक्र, तक्र, शक्र, नक्र आदि शब्द निकलते चले जाते है ।[1]—और ये सबके सब उत्तम तुक है । आलोच्य कवि के यहाँ मध्यम तुक भी मिल जाएगा, जैसे—

एक दुर्ग मे उतर रहे वह विस्फोटक है,
बने वहाँ कुछ बन्धु भारवाही घोटक हे ।[2]

किन्तु उसका अधम रूप कही नही मिलेगा । परन्तु फिर भी गुप्त जी की तुक-योजना सर्वथा निर्दोष नही है । उनकी अतिरिक्त तुक प्रियता के कारण कही कही बडे भद्दे कवित्वहीन प्रयोग हुए है—

भुवन बन रहा भयकर भाड,
चने से जिसमे भुने पहाड !
झुलसते जाते है सब झाड,
कौन दे और कौन ले आड ?[3]

यहाँ अन्त्यानुप्रास माधुर्य के स्थान पर अरुचि ही उत्पन्न करता है । कुणाल-गीत की निम्न पक्तियो की भी यही दशा है—

तुम घूम चारो खूट लो,
रथ, अश्व, गज या ऊँट लो,
रस के जहाँ लो घूँट लो ।[4]

साकेत मे भी ऐसे लचर प्रयोगो का अभाव नही है । असल मे अति सर्वत्र वर्जित है । उचित परिमाण मे तुक जहाँ सौन्दय का उपकारक है वहाँ उसकी अति अथवा अनुपयुक्त प्रयोग माधुर्य का अपकारक अतएव अवाछनीय है ।

मूल्याकन

मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त छन्दो के पूर्वोल्लिखित विस्तार-वैविध्य के अवलोकन के पश्चात् इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि छन्दो पर उनका पूरा अधिकार है । अधिकाशत मात्रिक छन्द ही उनके काव्य मे व्यवहृत हुए है—हिन्दी की गति के अधिक अनुकूल भी वे ही हे । पर गुप्त जी

---

१ दे० यशोधरा, सस्करण सवत् २००७, पृ० ८२
२ अजित, प्रथम सस्करण, पृ० ८३
३ विश्व-वेदना, द्वितीय सस्करण, पृ० २८
४ कुणाल-गीत, सस्करण सवत् २००२, पृ० ३२

वरण वृत्तो के भी सफल प्रयोक्ता है। करने को तो उन्होने गजल, रुबाई और चतुर्दशपदी का प्रयोग भी किया है—किन्तु वह बहुत सीमित है। वास्तव मे किसी भी प्रकार की विदेशीयता हमारे कवि को स्वीकाय नही। विदेशी छन्दो का यत्किचित प्रयोग कुतूहलवश ही हो गया है।

परम्परा-प्राप्त छन्दो के प्रयोग के अतिरिक्त उन्होने दो एक का आविष्कार भी किया है। १५ वर्णो के गणमुक्त छन्द का आविष्कर्त्ता यदि तुलसी को ही मान ले तब भी साकेत के सप्तम सग मे प्रयुक्त १७ मात्राओ के छन्द के आविष्कार का श्रेय तो उन्हे देना ही पडेगा।—और फिर १५ वर्णों के उक्त वृत्त का प्रचुर प्रयोग करने वाले पहले कवि भी मैथिलीशरण ही है।—तथा तुलसी ने इसे तुकान्त रखा था और हमारे कवि ने अतुकान्त। वास्तव मे उन्होने ही इसे छन्दत्व प्रदान किया है। दूसरा छन्द जिस पर कि कवि ने अपनी छाप लगादी हरिगीतिका है। जयद्रथ वध और भारत भारती की प्रसिद्धि और प्रचार ही इस छन्द की प्रसिद्धि और प्रचार है। सचमुच इन दो छन्दो मे जितनी गति क्षमता आलोच्य कवि को प्राप्त है उतनी और किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन कवि को नही।

कतिपय छन्दो का मिश्रण भी कवि ने किया है। साकेत तथा यशोधरा मे कुछ के चरण घटा-बढा भी दिए गए है। लेकिन गम्भीरता से विचार करने पर विदित होगा कि उसने किसी कुशल शिल्पी की भाति चरणो मे काट-छाँट नही की है। वरन् कही किसी चरण-विशेष का अर्द्धांश ले लिया गया है तो कही किसी अ य छ द का एकाध चरण रख दिया गया है। "उन्होने निराला और पन्त की भाति छन्द की टेकनीक पर प्रयोग नही किए और उनके न कान ही उतने शिक्षित प्रतीत होते है।"[१] फिर भी इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उनकी छन्द योजना विशद, व्यापक और भावानुकूल है। पन्त और निराला क समान 'टेक्नीक पर प्रयोग' न करने पर भी भावाभिव्यजक अथवा भावानुरूप छन्दो की कमी उनके पास नही है। छन्द शास्त्र का उनका व्यापक पाण्डित्य उस क्षति की पूर्ति कर देता है। फलत उनके काव्य मे हतवृत्तत्व दोप आपको कही नही मिलेगा।

तुक कौशल तो उनका सवमान्य ही है। यद्यपि उसके चक्कर मे रत्ती, तत्ती, 'चला गया रे चला गया', 'दला गया रे दला गया' जैसे अकाव्योचित प्रयोग भी हुए है। फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि अन्त्यानुप्रास पर कवि को अपूर्व अधिकार प्राप्त है। उसके विपुल साहित्य मे अधम तुक का उदाहरण

१ साकेत, एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र, पचम सस्करण, पृ० २१५

मिलना दुष्कर है। वास्तव मे यह स्वामित्व उनकी शक्ति भी है और अशक्ति भी। खोज करने पर यतिभग एव गतिभग भी मिल जाएगा। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थानो पर हुआ है—और वे स्थल महार्णव मे क्षुद्र वीचि-तुल्य नगण्य है।

साराश यह कि गुप्त जी का छन्द-विधान स्तुत्य और सफल है। छन्दो पर उनका अद्भुत प्रभुत्व है—किन्तु सफल शिल्पी के समान नही, शक्तिशाली प्रयोक्ता की तरह।